जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १३ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XII. No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

PUBLISHED AT

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8.

JULY, 1946.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १३ | श्रावण | किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. लिट्.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३।) | एक प्रति का १।।)

सन् १९४६ ई०

विषय-सूची।

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १३ | जुलाई, १९४६ । श्रावण, वीर नि० सं० २४७२ | किरण १

गोम्मटेश प्रतिष्ठापक

[ले०—श्रीयुत प्रो० गो० खुशालजैन एम० ए०, साहित्याचार्य, आदि]

दीपक की लौपर प्राण निछावर करने वाला पतंग ही दीपक की उपेक्षा नहीं करता है, अपितु मनुष्य इस प्रवृत्ति में उससे बहुत आगे बढ़ा हुआ है। वह संसार के अनेक सुकृत्यों से लाभ उठाता है किन्तु उनके कर्त्ताओं की कभी भूले भटके भी चर्चा नहीं करता है। यही कारण है कि हम वीरता के अवतार पुरुनन्दन बाहुबलि की मूर्ति को देखते ही उसकी प्रशान्त नासादृष्टि, संसार की उपेक्षा के द्योतक ओष्ठ तथा सकल विघ्न बाधाओं और कष्टों को चुनौती देने वाले विशाल वक्षस्थल तथा भुजदण्डों पर मुग्ध हो जाते हैं। मूर्ति के गुण गाते है, मूर्तिमान के जीवन को स्मरण करके अपने जीवन की अनेक गुत्थियों को सुलझाते हैं। किन्तु भूलकर भी उस मातृभक्त, जिनशासन प्रभावक तथा महा कर्त्तव्य परायण मंत्रिवर चामुण्डराय का स्मरण नहीं करते है, जिसके अनन्य मातृस्नेह और अडिग जिन भक्ति का मधुर मिश्रण श्रवणबेलगोलास्थ १००८ बाहुबलि (गोम्मटेश) का रूप धारण करके उसे युग युग तक अमर बनाये हैं।

<u>स्थान</u>—महीसूर (मैसूर) ईसा की चौथी शती के लगभग वर्तमान मैसूर राज्य महीसूर नाम से ख्यात था। इसी शती में इस देश में दोदिग कोङ्गनीवर्मन ने आचार्य सिंहनन्दिकी[1] सहायता से अपनी राजसत्ता जमायी थी। यद्यपि इस वंश के शिलालेख कोङ्गनीवर्मन को सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी कहते हैं तथा इसी आधार पर इतिहासज्ञ इनके इक्ष्वाकुवंशी होने का भी भी अनुमान करते हैं तथापि यह निश्चित है कि यह वंश उत्तर भारत में गंगा के आसपास के किसी स्थान से दक्षिण भारत गया था। क्योंकि इनकी छत्रछाया में आते ही महीसूर देश

1. मैसूर-मद्रास प्रा० जै० स्मा० पृ० १४६-७।

गंगवाडी नाम से ख्यात हुआ। शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि इस वंश के स्थापन,[1] परिवर्द्धन और संरक्षण में जैनियों का पर्याप्त हाथ रहा है। वंश प्रतिष्ठापक कोङ्गनीवर्मन महाराज आचार्य सिंहनन्दि के आशीर्वाद के साथ ही सिंहासन पर बैठे थे[2]। इस वंश के लिये ८ वीं और ९ वीं शती दुर्भाग्य के दिन थे। इस अन्तराल में वेङ्गी के चालुक्यों तथा मालखेड के राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से राज्य ही ध्वस्त नही हुआ था अपितु गंगराजाओं को विजेताओं का बन्दी बनकर रहना पड़ा था। राजमल्ल प्रथम ने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया था किन्तु राष्ट्रकूटों के मारे उनकी एक भी न चली थी। किन्तु महाराज मारसिंह द्वितीय के राज्यकाल में हम देखते हैं कि इस वंश ने चेर, चोल, पाण्ड्य तथा नोलम्बवाड़ी पर विजय पायी थी[3]। जब हम इस परिवर्तन के कारणों की खोज करते हैं तो हमारी दृष्टि वीरकेशरी चामुण्डराय पर पड़ती है।

वंश तथा समय—अपने चामुण्डराय पुराण की उत्थानिका में चामुण्डराय अपने को जगत् पवित्र ब्रह्मक्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ[4] कहते हैं। श्रवण बेलगोलाके शिलालेख[5] भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। उन्होंने अपने माता पिता का भी नाम से निर्देश नहीं किया है; बाहुबली चरित्र में इनकी माता का उल्लेख कालिका देवी के नाम से मिलता है। इसी प्रकार उनकी जन्म तिथि का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इतना निश्चित है कि इनके पिता तथा पूर्वज गंगवंश के श्रद्धाभाजन राज्याधिकारी[6] रहे होंगे इनका जीवन काफी लम्बा था। वे महाराज मारसिंह तथा राजमल्ल द्वितीय के प्रधान मंत्री थे। अर्थात् ९६५ ई० से ९९६ ई० तक चामुण्डराय गृहस्थाश्रम में ही थे और पूर्णरूप से राज्यभार सम्हाले थे।

शिक्षादीक्षा—जैन साहित्य चामुण्डराय को जन्मना जैन बताता है। ऐसा होना सर्वथा संभव भी है, क्योंकि शिलालेखों से इनकी माता का जैनी होना निर्विवाद रूपसे सिद्ध है[7]। तथापि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के "सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू[8]" निर्देश ने इतिहासकारों को ऐसी कल्पना करने के लिए प्रलुब्ध किया है कि आचार्य अजितसेन ने उन्हें जिन धर्म में दीक्षित किया था। वास्तविकता यह है कि आचार्य अजितसेन चामुण्डराय के

१ "गंगराज्य माडिद्...," ए० कर्ना० प्र० शि० सं० ११०

२. स्वस्तिश्रीमत्कोंगुणिधर्मवर्ममहाधिराजप्रथम गंगस्य...। ए० कर्ना० पृ० ३

३. श्रवणबेलगोला के शिलालेख भूमिका पृ० १८ शि० सं० १८, ए० इ० प्र० ५ शि० १८।

४. "जगत्पवित्र ब्रह्मक्षत्रिय वंशभागे ·" चा० पु० पृ० ५।

५. श्रव० शि० पृ० ८५, ए० कर्ना० पृ० २ शि० सं० २८१।

६. एम० वी० कृष्णराव रचित ताळकाडका गंगवंश (मद्रास)

७. जैन शि० संग्र० प्र० २३-२८।

८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६१।

दीक्षा (व्रतादिके) गुरू थे। मंत्रिवर चामुण्डराय की शिक्षा के बाबत इतना निर्विवाद है कि उन्होंने आचार्य अजितसेन से सब गुणों को ग्रहण किया था[1]। तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी इन्हें शिक्षा दी थी[2]। वे अपनी मातृभाषा कन्नड में ही पारंगत न थे अपितु उनका संस्कृत तथा प्राकृत का पाण्डित्य भी प्रगाढ़ था जैसा कि इन भाषाओं में उपलब्ध उनकी कृतियों से स्पष्ट है।

कुटुम्ब—ऊपर देख चुके हैं कि इनकी माता पुण्यश्लोका कालिकादेवी थीं। चामुण्डराय को अपनी माता से कितना स्नेह था इसका अनुमान केवल इसी एक घटना से लगाया जा सकता है कि वे अपनी माता की दर्शनेच्छा को पूर्ण करने के लिये वन, वन घूमे और अन्त में श्री १००८ बाहुबलि स्वामी की मूर्ति को पाकर ही रहे। इनकी श्रीमती अजिता देवी थी। इस परम धार्मिक दम्पती को एक पुत्र रत्न भी प्राप्त हुआ था। जो अपनी योग्यताओं के कारण यथार्थनाम देवन था।

विजय—वीरवर चामुण्डराय के सैनिक जीवन का प्रारम्भ बड़ा साधारण था। किन्तु गुणों के पारखी महाराज मारसिंह द्वितीय ने एक युद्धयात्रा में ही यह देख लिया था कि यदि गंगवंश की प्रतिष्ठा का संरक्षण और संवर्द्धन भावी है तो वह युवक चामुण्डराय की तलवार से ही होगा। श्रवण बेलगोला के शिलालेखों[3] तथा चामुण्डराय[4] पुराण के प्रारम्भ तथा अन्तिम अध्याय में चामुण्डराय ने अपनी विविध उपाधियों का निर्देश ही नहीं किया है अपितु वे किस, किस उपलक्ष्य में उन्हें प्राप्त हुई थीं इसका भी वर्णन किया है:—

१ समरधुरन्धर—खेडग युद्ध में अपने स्वामी तथा इन्द्र (चतुर्थ, पौत्र कृष्ण तृ०)[5] की आज्ञा से पाताल मल्ल के भाई वाजलदेव को हराने पर वे समरधुरन्धर की उपाधि से भूषित हुए थे।

२ वीरमार्तण्ड—नोलम्बबाडी (गोन्दुर) का युद्ध ऐसा दारुण था कि इस विजय के बाद महाराज ने स्वयं 'नोलम्ब कुलान्तक' विशेषण अपने नाममें जोड़ा था तथा सेनापति चामुण्डराय को 'वीरमार्तण्ड' पद से भूषित किया था।

३ रणरंगसिंह—उच्छङ्गी के किले पर डाले गये सफल घेरेके कारण उन्हें यह उपाधि प्राप्त हुई थी।

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा सं० ७३३।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६७।
३. 'त्यागद्ब्रह्मदेव स्तम्भ शिलालेख' श्र० शि० पृ० ३४, ८५।
४. चामुण्डराय पुराण (कर्ना० साहित्य परिषद् बैङ्गलूर)
५. ए० इ० पृ० ५ शि० सं० १८।

४ वैरीकुल कालदण्ड—जिस समय त्रिभुवनवीर के पराक्रम के कारण गोविन्दराज को बागलूर गढ़ का जीतना असंभव हो गया था, तब वीरवर चामुण्डराय ने शत्रु के रणकौशल को ही व्यर्थ न किया था अपितु उसे यमलोक भेजकर गोविन्द को सुख से गढ़ में प्रवेश कराकर यह पदवी पायी थी।

५ भुज विक्रम—सामन्तराज काम के गढ़ में जिस समय चामुण्डराय ने राजा को हराया था उस समय गंगराज सभा में वे 'भुजविक्रम' पद से सम्मानित किये गये थे।

६ चलवङ्कगङ्ग—इसी सामन्त के छोटे भाई नागवर्म को मारकर उन्होंने इस उपाधि को प्राप्त किया था।

७ जिस समय वे विद्रोही गंगभट मुदु राचय्य की इहलीला समाप्त करके लौटे थे उस समय राजसभा ने उनका 'समर परशुराम' तथा 'प्रतिपक्ष राक्षस' कहकर अभिनन्दन किया था।

८ इसी प्रकार किसी विद्रोही सेनापति वीर के किले को मिट्टी में मिला देने पर वे 'भटमारि' नाम से सम्बोधित हुए थे।

चामुण्डराय की ये विजयें कवि की कल्पना ही नहीं हैं। वे उस समय पैदा हुए थे जब राष्ट्रकूटों और चालुक्यों की प्रतिद्वन्द्विता तथा शक्ति के क्षणिक ह्रास के कारण दक्षिण भारत साहसी सेनानायकों की महत्वाकांक्षा की पूर्ति में साधक हो रहा था। अतएव चामुण्डराय ऐसे स्वामिभक्त, कर्त्तव्यपरायण तथा निःस्वार्थ सेनापति को अनेक युद्ध करने पड़े तथा अपने नैतिक बल और रणकौशल के कारण सदा विजयी हुए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

चामुण्डराय की विजयों के वर्णन को देखकर ऐसा लगता है कि वे कोई कर्कश सेनापति रहे होंगे किन्तु उनकी अन्य उपाधियाँ हमारी संभावना को निराधार कर देती हैं:—

९ वे अपनी पवित्रता, उदारता, आदि विशेषताओं के कारण 'सम्यक्त्वरत्नाकर', परस्त्री तथा परसम्पत्ति को न छूने के कारण 'शौचाभरण' सदा सत्य बोलने के कारण सत्य-युधिष्ठिर, स्वयं स्थिर रहने तथा दूसरों का स्थितिकरण करने के कारण 'गुणवङ्काव' तथा वीरों के अग्रणी होने से 'सुभट चूडामणि' नामों से गंग राजसभा में ख्यात थे।

नैतिक राजनीतिज्ञ—उपर्युक्त विजयवर्णन तथा गुणशालिता से स्पष्ट है कि गंगवंश की प्रतिष्ठा तथा राज्य को चामुण्डराय ने ही बचाया था। उनके प्रभाव तथा प्रसिद्धि के सामने गंग राजाओं का व्यक्तित्व फीका पड़ गया था। वे वास्तविक शासक होते हुए भी वादिराज के सत्यंधर या शेक्सपियर के डंकन थे किन्तु जिनधर्मपरायण चामुण्डराय के मन में कभी काष्ठाङ्गार और मैकबैथ बनने की कल्पना भी न आयी थी। पाश्चात्य इतिहासकार[1] चामुण्डराय के आत्म-उत्सर्ग को देखकर दंग रह जाते हैं। उनके लिये चामुण्डराय को

१. तालकाडका गंगवंश पृ० १११।

नैतिकता 'भयंकर आश्चर्यजनक' है। उनका उदात्त जीवन इस बातका साक्षी है कि किस प्रकार नैतिक पुरुष महा राजनीतिज्ञ भी हो सकता है। गंगवंश तथा राष्ट्रकूटों की प्रतिद्वन्द्विता ऐतिहासिक तथ्य है। किन्तु नीतिज्ञ चामुण्डराय ने दोनों वंशों के बीच संधि करादी थी[1]। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में गंगराज विद्रोहियों से ही शून्य न हुआ अपितु उसकी सीमाएं और प्रभाव भी विस्तृत हो गया था।

साहित्यकार—अधिकतर यही देखा जाता है कि योद्धा तथा राजनीतिज्ञ संसार को ललित कलाओं से अछूते ही रह जाते हैं, किन्तु चामुण्डराय इसके अपवाद हैं। उन्होंने अपने समकालीन समस्त विद्वानों को प्रश्रय दिया था तथा स्वयं भी साहित्य की रचना की थी। उनकी प्रथम प्रवृत्ति का ही फल था जो महाकवि रन्न सुललित काव्य गदायुद्ध को लिखकर ख्यात हो सके, और चालुक्य महाराज तैलप (९७३, ९९७ ई०) की राजसभा में भी सम्मानित हुए थे। महाकवि पम्प को भी राय का अभिभावकत्व प्राप्त था। जिसमें रहकर उन्होंने आदि पुराण, शवरभीमविजय, आदि अमर कृतियों को जन्म दिया था। कवि शिरोमणि नागवर्मने छन्दोम्बुधि की रचना तथा कादम्बरी का अनुवाद इसी राज सभा में किया था।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, अजितसेन तथा माधवचन्द्र त्रैविद्य तो चामुण्डराय की सभा के भूषण ही न थे अपितु उनके गुरू भी थे। इन तीनों आचार्यों की समस्त कृतियों का आविर्भाव वीरमार्तण्डकी तत्त्वबुभुत्सा को ही शान्त करने के लिये हुआ था। इस प्रकार चामुण्डराय के कारण ही आगम के दुरूह अंगों को देशी लौकिक साहित्य का रूप प्राप्त हुआ था।

संस्कृत तथा प्राकृत के विद्वान होने के कारण चामुण्डराय ने स्वयं भी सैद्धान्तिक तथा काव्यात्मक विषयों पर अपनी लेखनी सफलतापूर्वक चलायी है उनका चरित्रसार ग्रन्थ आज भी उनके सैद्धान्तिक पाण्डित्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। कर्मकाण्ड पर लिखी गयी देशी टीका[2] तो स्पष्ट ही बतलाती है कि धर्म शास्त्र के रूक्ष से रूक्ष विषयों को उन्होंने किस प्रकार हृदयंगम किया था। यही कारण है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ऐसे वीतराग पुरुष को भी "सो राओ गोम्मटो जयउ।" कहकर उनका स्मरण करना पड़ा। उनका *'त्रिषष्ठि लक्षण पुराण'* चामुण्डराय पुराण नाम से अधिक ख्यात है। *यह ग्रन्थ कन्नड़ गद्यका* सबसे प्रथम ग्रन्थ है। यद्यपि कवि परम्परा से आगत लेखक के प्रसाद और माधुर्य की झलक इस ग्रन्थ में पर्याप्त है तो भी स्पष्ट है कि यह कृति सर्व साधारण के उपदेश के लिये रची गयी थी। यद्यपि इसमें पम्प का उपयुक्त शब्द-अर्थ चयन, रन्नका लालित्य तथा बाण

१. जै० शि० सं० पृ० ७१।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ९७२।

का शब्द-अर्थ माधुर्य नहीं है तो भी इसका अपना सौष्ठव निराला ही है। इसमें जातक कथा की सी झलक मिलती है।

धर्मप्रभावना—शिला लेख 'स्थिर जिन शासनोद्धरणरादियोलोर'[1] कहकर चामुण्डराय का उल्लेख करते हैं। विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि साधारणतया गंगवंशी राजा, और उनके धर्मगुरुओं के, तथा विशेप रूपसे चामुण्डराय के स्मारक हैं। आचार्य नेमिचन्द्रजी ने अपने कर्मकाण्ड की प्रशस्ति में "गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिण कुक्कड जिणो, पडिमावयणं, वज्जयणं जिणभवणं, तथा जेणुब्भिय थंभु।"[2] करके उनकी मंगल कामना की है। इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रतिमा का मुख', वज्रमय ईषत्प्राग्भार मन्दिर अथवा स्तंभ. इनमें से एक, एक भी उनको अमर बनाये रहने के लिये पर्याप्त हैं। फिर 'दक्षिणकुक्कट' जिनका तो कहना ही क्या है। उनके वाम पार्श्व में उल्लिखित "श्री चामुण्डराजेम···कर वियले।" मराठी शिलालेख तथा दक्षिण पार्श्व में अंकित "श्री चामुण्डराजम् माड़िसिदम्।" आदि कनारी तथा तामिल शिलालेखों[3] ने उन्हें संसार के अष्टम आश्चर्य का निर्मापक[4] बना दिया है। इस मूर्त्ति की प्रतिष्ठा कराके ही उन्हे 'राय' पदवी प्राप्त हुई थी। संग्राम विजय मे प्राप्त समस्त उपाधियां धर्मविजय के उपलक्ष में मिली इस राय पदवी के सामने स्वयं ही फीकी पड़ गयी थी। यही कारण है कि उनके धर्मगुरुओं ने उन्हें 'राओ' करके ही स्मरण किया है। आज भी जब पर्याप्त समय तक गोम्मटेश के नयन, ओष्ठ, वक्षस्थल तथा पुष्ट भुजदण्डों में उत्तर कर चक्षु चरण-चञ्चरीक हो जाते हैं, तब शिलालेखों पर दृष्टि पड़ते ही युद्ध तथा धर्मवीर गोम्मटेश प्रतिष्ठापक चामुण्डराय के अविकल जीवन को जानने के लिये अन्तस्तल आकुल हो उठता है।

---

१. श्र० शिलालेख शि० सं० १३७।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६८, ६९, ७०, ७१।

३. दुरश-तीन महान जैनमूर्ति शिलालेख ए० इ० प्र० ७ पृष्ठ १०८, ९।

४. इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इण्डिया पृ० १२१।

चन्दवार या चन्द्रपाठ

[ले०—श्रीयुत् पं० जगन्नाथ तिवारी]

जैन संस्कृति के अभी अनेकों स्थान अन्वेषकों की बाट जोह रहे हैं। यदि अन्वेषण किया जाय तो बहुत-से स्थानों का राजनैतिक एवं धार्मिक आदि विभिन्न दृष्टियों से बड़ा महत्व प्रकट होगा। अनेक जैन राजाओं ने विभिन्न स्थानों पर राज्य किया तथा जैन संस्कृति के मूर्त्तरूप जिनालय एवं जिन-प्रतिमाएँ स्थापित की हैं। दक्षिण भारत के जैन शासकों के अतिरिक्त उत्तर भारत में भी कई जैन शासक हुए हैं, जिन्होंने जैनधर्म के प्रचार के लिये जी-जान से प्रयत्न किया है। आज भी इतिहास उनकी गुण गाथा पुकार-पुकार कर बतला रहा है।

प्रस्तुत चन्दवार जैन शासकों की बहुत काल तक राजधानी रहा है। किम्बदन्ती है कि वि० सं० १००० से लेकर वि० सं० १६०० तक के छह सौ वर्ष के काल में दिगम्बर जैनियों का राज्य इस नगर में रहा है। वि० सं० १०५२ में चन्द्रपाल पल्लीवाल दिगम्बर जैन राजा हुआ, जिसका दीवान रामसिंह हारुल था। इन प्रतापी राजा चन्द्रपाल के नाम से ही इस नगर का नाम चन्दवार या चन्द्रपाठ पड़ा है। किम्बदन्ती यह भी सुनी जाती कि इससे पहले इस नगर का नाम असाइखेरा था। किम्बदन्ती[1] के इस कथन का समर्थन हिन्दी विश्वकोश में भी हो जाता है। विश्वकोश में चन्द्रपाल के सम्बन्ध में लिखा है कि "चन्द्रपाल—इटावा अञ्चल के एक राजा का नाम। यह असाइखेरा नामक दुर्ग के प्रतिष्ठाता थे।"

चन्दवार फिरोजाबाद से करीब ४ मील के फासिले पर जिला आगरे का एक छोटा सा कस्बा है। श्री० ब्र० शीतलप्रसाद जी ने "युक्त प्रान्तीय जैन स्मारकों में चन्द्रपाठ को एक एतिहासिक स्थान बतलाया है। वास्तव में यह स्थान जैन इतिहास में गौरव पूर्ण है, राजा चन्द्रपाल ने राज्य प्राप्त करने के बाद १०५३ में प्रतिष्ठा कराई तथा इनके द्वारा निर्मापित एक फुट अवगाहना की स्फटिक मणि की चन्द्रप्रभु भगवान की प्रतिमा फिरोजाबाद के मन्दिर में अब भी विराजमान है।

चन्द्रपाल राजा का दीवान रामसिंह हारुल जो लम्बकाञ्चुक अर्थात् लमेचू दि० जैन था, उसने वि० सं० १०५३ और वि० सं० १०५६ में कई प्रतिष्ठाएँ कराई हैं। चन्दवार के जैन मन्दिर में इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तियाँ आज भी वर्त्तमान हैं। जिनके मूर्त्ति लेख निम्न प्रकार हैं—

देशी पाषाण की बादामी रंग की तीन फुट की मूर्त्ति—सं० १०५६ अगहन सुदी ५ गुरौ तिथौ रमाद्य कान्त्यावलि कनकदेवः सुतः कोकः निर्मापितः।

२ देशी पाषाण की बादामी रंग की पौने तीन फुट की मूर्त्ति—<u>सं० १०५३ बैसाख सुदी ३ रामसिंघ हारुल</u>...

---

१. देखें—हिन्दी विश्वकोश भाग ७ पृ० १७१।

२ देशी पाषाण की बादामी रंग की सवातीन फुट की मूर्त्ति—ॐ मनु ''सं० १०५३ वैसाख सुदी ३ शुभौ मास वक प्रतिमानां माथुर मं प्यनिम्मुनमयः शुभ वंशद ''मवोद कुल वर सुकवि...प्रतिष्ठापितम् ।

चन्द्वार में ५१ जैन प्रतिष्ठाएँ हुई हैं। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में भी यह नगर जैन शासकों के आधीन था और वहाँ वि० सं० १४३८ ज्येष्ठ सुदी १५ को जैन प्रतिष्ठा हुई है। फिरोजाबाद के एक छिपैठी मोहल्ला के जैन मन्दिर के निम्न मूर्त्ति-लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है:—

पाषाण की श्यामवर्ण दो फुट की प्रतिमा—"सिद्धि" संवत् १४२८ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्रे काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे प्रतिष्ठाचार्य श्री अनन्तकीर्त्तिदेवा इन्द्र रामचन्द्रानन्दे कंचुकान्वये श्रीचन्द्रपाठदुर्गे निवासिनः राऊत गञो पुत्र महार जा तत्पुत्र राऊत हीतमो तत्पुत्र चुन्नीददेव तद् भार्या भट्टो तयाः पुत्र साधु तउवा सिंघ साधू जी उत्तासी हेम प्रतिष्ठा कारापिता।

इस मूर्त्ति लेख में चन्द्पाठ दुर्ग निवासी महाराज गञो, उनके पुत्र हीतम और उनके पुत्र चुन्नीददेव, इन चुन्नीददेव की स्त्री भट्टो और इन दोनों के पुत्र साधु या साधुसिंह का स्पष्ट उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस नगर के शासक जैन थे।

फिरोजाबाद के मोहल्ला अटावाले जैन मन्दिर के मूर्त्ति लेख से भी वहाँ का महत्त्व प्रकट होता है तथा चन्द्वार की प्राचीनता और उसकी ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

पाषाणमयी सफेद वर्ण की सवाफुट ऊँची प्रतिमा – संवत् १६६९ चैत सुदी १५ दिने शनि सतसहस्रकीर्त्ति श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय श्रीरत्न-कीर्त्ति उपदेशात् श्री दिगम्बर अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे सा० श्रीहरलाल मानसिंह···आदि।

इस प्रकार फिरोजाबाद और चन्द्वार के मूर्त्ति लेखों से चन्द्वार के सम्बन्ध में बहुत कुछ मालूम पड़ जाता है। यदि अन्वेषण किया जाय तो संभवतः यहाँ का एक खासा इतिहास तैयार हो जायगा। जैन अन्वेषक विद्वानों से नम्र अनुरोध है कि वे इस दिशा में प्रयत्न करें। आज के युग में वही जाति या समाज जीवित रह सकता है जिसका इतिहास जीवित है, जिसने अपने प्राचीन गौरव का पता लगा लिया है तथा जिसके पास अपना निजी साहित्य है। इतिहास और साहित्य के अभाव में कोई भी संस्कृति पनप नहीं सकती है। जिस प्रकार जैन विद्वानों ने महापुरुषों के इतिहास का निर्माण किया है तथा मूर्त्तिलेख, शिलालेख एवं दानपत्र आदि के द्वारा प्राचीन जैन संस्कृति की छान-बीन की है, उसी प्रकार ऐतिहासिक जैन स्थानों के अन्वेषण की बड़ी भारी आवश्यकता है। इन स्थानों की शोध करने पर अनेक जैन राजा, जैन सामन्त और जैन दीवानों का पता लगेगा।

——०——

विश्व-इतिहास और भूगोल के लिये जैन-साहित्य की महत्ता।

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, *D. L M. R A. S.*]

विश्व इतिहास से अधुना मानव जाति का इस कल्पकालीन इतिहास अभिप्रेत है और मानव जहाँ २ रहा वहाँ का विवरण विश्वभूगोल का स्थापक है। इन दोनों विषयों में आधुनिक विद्वानों की शोध-प्रक्रिया अभी परिपूर्णता का दावा नहीं कर सकती। विद्वानों ने जैसी जो शोध की, वैसी ही उन्होंने अपनी धारणायें बनाई। एक समय पाश्चात्य विद्वानों को ही शोध क्रिया का सारा श्रेय प्राप्त था—वे ही उस दिशा में एकमात्र कार्य करनेवाले पंडित थे; परन्तु अब समय बदला है। भारत में भी शोध और अन्वेषण कार्य को वैज्ञानिक रीति से करने वाले विद्वान् और संस्थायें दिखती हैं। वे ऐतिहासिक अन्वेषण के लिये सच्चे हृदय से उद्योगशील हैं। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की प्रणाली को ही अपनाये हुए हैं। यह ठीक नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण हम से भिन्न है। पाश्चात्य जगत का इतिहास और भूगोल भारत के इतिहास और भूगोल से समता नहीं रखता। पाश्चात्य विद्वानों ने पहले-पहल विश्व-इतिहास का निर्माण 'बाईबिल' के आधार से किया था, जिसके अनुसार सर्व प्रथम मानव 'आदम' की उत्पत्ति ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व प्रमाणित है। उस समय उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि उन्हें मानव का इतिहास आदि से लेकर तब तक का पूर्ण ज्ञात है। किन्तु उपरान्त भूगर्भ विद्या, पुरातत्त्व-विद्या आदि विषयों की खोज हुई और उनसे मानव इतिहास की प्राचीनता ४००४ ई० पूर्व से भी प्राचीन सिद्ध हुई। आज ईसा से हजारों वर्षों पहले की घटनाओं का उल्लेख इतिहासकार करते हैं। मिश्र देश के गुम्मट (Pyramids) जहाँ एक ओर ईसा से पाँच हजार वर्ष पहले बने घोषित किये जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर शाल्डिया (Chaldea) और मेसोपोटामिया के सांस्कृतिक ध्वंशावशेष छे-सात हजार वर्ष ईस्वी पूर्व के बताये जाते हैं। आज भारतवर्ष में मोहनजोदड़ो, हरप्पा और चन्द्रहल्ली से उपलब्ध हुआ पुरातत्त्व भी ईस्वी पूर्व पांच-छे हजार वर्षों जितना प्राचीन घोषित किया गया है। ऐसी सूरत में पाश्चात्य विद्वानों के मत को सर्वथा निर्भ्रान्त मानकर उसके आधार से शोधकार्य का परिचालन करना खतरे से खाली नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य विद्वानों की विचार-सरणी में बहकर हमें भारतीय मान्यताओं और अनुश्रुतियों को ठुकरा नहीं देना चाहिये। भारतीय साहित्य में पुराणगत-साहित्य एक सीमा तक इतिहास की कोटि में आता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का समावेश इतिहास में ही किया गया है। ('पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं

धर्म्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतिहासः ।') किन्तु भारतीय विद्वानों ने पुराणों की कथाओं और धर्म्म-शास्त्रों की बातों को उतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना कि देना चाहिये । स्व० जायसवालजी सदृश इने गिने ही भारतीय विद्वान् हैं जिन्होंने भारतीय पुराणों को महत्व दिया है। यह सच है कि हिन्दू पुराणों में विशुद्ध इतिहास ही सवथा नहीं है—उनमें अधिकांश रूपक अलंकृत भाषा के हैं जिनसे अद्भुत घटनाओं और देवी देवताओं का सृजन हुआ है। फिर भी, भारतीय इतिहासकार अनेक आधार से विश्व-इतिहास का निर्माण कर सकता है। भारतीय साहित्य की विशेषता एक बात में निर्विवाद है कि उसमें कोई भी ऐसा कथानक नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि भारत में पहले अनार्य लोग बसते थे और आर्य लोग भारत में बाहर से आये। किन्तु भारतीय विद्वान् पाश्चात्य मान्यता को ही श्रेय देते हैं। प्रस्तुत लेख में हमें जैन साहित्य की महत्ता विश्व-इतिहास के अध्ययन में दृष्टव्य है।

निस्सन्देह जैन साहित्य वैदिक साहित्य से विलक्षण है। जैन पुराणवार्ता इतिहास के अति निकट है। जैन पुराणों में अलंकृत (Pictographic) भाषा में लिखित रूपकों का अभाव है। उनमें आर्य जगत के महापुरुषों का वर्णन ओत-प्रोत है अथवा कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये विश्वसनीय दृष्टान्तों का समावेश है। यदि हम अनेक आधार से विश्व-इतिहास का संकलन करने बैठें तो आधुनिक ऐतिहासिक मान्यता का प्रतिरूप-सा ही उनमें मिलेगा। जैन अङ्ग साहित्य में इतिहास और पुराण का समावेश है और वह अङ्ग साहित्य स्वयं भ० महावीर द्वारा ही निरूपित हुआ था। जैनपुराण उस अङ्ग साहित्य के आधार से ही रचे गये हैं। अतएव उनकी आधार परम्परा स्वयं भ० महावीर के समय से ही मानना उपयुक्त है, उनको उपरान्त की स्वतन्त्र रचना मानना भूल भरा है। प्रत्येक जैन पुराणकार ने अपनी कथावार्ता का मूल स्रोत भ० महावीर को बताया है और अपने पूर्वज पुराणकारों का भी उल्लेख किया है। ऐसी सूरत में जैनपुराणगत कथावार्ता का आधार ईस्वी पूर्व ५ वीं ६ ठीं शताब्दी में प्रचलित परम्परा ही माननी पड़ती है। खेद है, जैनों ने साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक खोज के लिये कोई भी संगठित उद्योग नहीं किया है। सबही जैनपुराण और कथाग्रन्थ अभी प्रकाश में भी नहीं आये हैं। व्यक्तिगत रूप में इने गिने विद्वानों के किये गये प्रयत्न समुद्र में विन्दु के समान हैं। अतः जैनों का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वे एक संशोधक संस्था की स्थापना कर के शोध-खोज के कार्य को आगे बढ़ावें।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि जैन-पुराण-साहित्य में मानव जाति के इतिहास विषयक मूलतत्त्व विद्यमान हैं—इस कल्पकालीन मानव की आदिकालीन अवस्था से लेकर आज तक का इतिहास संकलित करने के लिये जैन पुराणों में पर्याप्त सामग्री बिखरी पड़ी है। इस रूप में ही जैन पुराणों की महत्ता आंकने में आती है। इतिहासकारोंसे यह छिपा नहीं

है कि अधुना मानव इतिहास का प्राङ् ऐतिहासिक काल (१) पाषाणयुग, (२) ताम्रयुग और (३) लोहयुग में विभक्त मिलता है। इन तीनों युगों में मानव जीवन सभ्य और सुसंस्कृत नहीं था—मानव प्रकृति का होकर ही जीवन-यापन कर रहा था। क्रमशः उन्नति करके मानव ने सभ्य और सुसंस्कृत जीवन यापन करना सीखा। अब पाठक, आइये जैनपुराणों के कथन को देखिये। जैन पुराण बताते हैं कि पहले इस दक्षिण भारत खंड में भोगभूमि का स्वर्णकाल था। इस क्षेत्र के भोग भूमियाँ मानव सुख से बिना श्रम के कालयापन करते थे। उनके जीवन की आवश्यकतायें कल्पवृक्षों से पूरी हो जाया करती थीं। मानव मानवी युगल आनन्द विभोर हो कालक्षेप करते थे। उनके घर सम्पत्ति नहीं थी; उनमें 'मेरे'—'तेरे' का भेदभाव नहीं था। बस, सन्तति के उत्तराधिकार का उनमें झगड़ा ही न था। भोग-भूमि की यह सुखद दशा क्या प्राकृतिक जीवन (Life according to Nature) का प्रतिरूप नहीं है? पाषाणयुग से लोहयुग तक का मानव प्रकृति के आश्रय में ही तो रह रहा था। उसका न अपना कुछ था और न उसे अपनी सम्पत्ति या सन्तति की फिक्र थी। जैन पुराण बताते हैं कि भोगभूमि की यह सुखद दशा क्रमशः बदली। कल्पवृक्षों का लोप हुआ—मानव को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये श्रम करना आवश्यक हुआ? पसीने की कमाई से मानव को मोह होना स्वाभाविक था। 'मेरा' और 'तेरा' का भेद मानव हृदय में जागृत हुआ। मानव गृहस्थी मांड कर बैठा—'कुलों' में अखण्ड मानव समुदाय खंड-खंड हो बँट गया। व्यक्तिगत संपत्ति का मालिक जो बना था वही अब उसकी पत्नी थी—उसके बच्चे थे। उसके कुटुम्बी थे। कृषि आदि उद्यम उसने किये—कलाओं में वह निष्णात होता गया। चौदह 'कुलकर' अथवा मनु' हुये, जिन्होंने मानव को सभ्य सुसंस्कृत होने योग्य बनाया। आधुनिक इतिहास भी तो यही कहता है कि आधुनिक सभ्यता के आदि धुरंधरों ने विविध उद्यमों और कलाओं का आविष्कार कर मानवों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया। पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने मानव को कर्मभूमि के योग्य बना दिया। जैन उन्हीं को सभ्यता और संस्कृति का आदि स्रष्टा मानते हैं। इस प्रकार जैन पुराणों में मानव इतिहास के प्रारंभ का विश्वसनीय वर्णन मिलता है। जैन मतानुसार हम प्राङ्—ऐतिहासिक काल को निम्न लिखित युगों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) **भोगभूमि काल**—जिसमें मानव प्राकृतिक सुखी जीवन बिताता था। इस काल के अन्त में मानव इस योग्य बन सका था कि वह सभ्यता का पाठ पढ़ सके। पाषाण युग से लोहयुग तक के मानव को 'भोगभूमियां" कहा जावे तो अतियुक्ति नहीं।

(२) **कर्मभूमि का उदय काल**—जिसमें मानव ने सभ्य होकर असि-मसि-कृषि आदि कर्मों को करना सीखा और वह श्रमपूर्वक जीवन यापन करके सभ्य और संस्कृत हुआ। कर्मभूमि काल के प्रारंभिक अंश को पाँच भागों में बांटना ठीक दिखता है; यथा:—

(१) अहिंसा संस्कृति का अरुणोदय काल—जिसमें मानव ने सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ा और अहिंसाधर्म की शिक्षा ऋषभनाथ जी से ली। यह दृष्टव्य है कि ऋषभदेव के अहिंसाधर्म का उपदेश देने के पहले ही मारीचि ने सांख्यमत अहिंसेतर धर्म की घोषणा की थी। किन्तु ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने अहिंसा धर्म का महती उत्कर्ष किया था। अधुना इतिहासकार पूर्व भारत में (१) श्रमण और (२) ब्राह्मण दो भिन्न विचारधाराओं का उल्लेख करते ही हैं। जैनशास्त्र सारे आर्यखंड में पहले अहिंसा संस्कृति का ही आधिपत्य हुआ बताते हैं।

(२) अहिंसा संस्कृति का अभ्युदयोत्कर्ष-काल—जिसके अन्तर्गत श्री अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त—इन आठ तीर्थङ्करों द्वारा अहिंसा संस्कृति का पूर्ण अभ्युदय हुआ था। अहिंसा का प्रयोग जीवन की प्रत्येक आवश्यकता में सफल सिद्ध किया गया था। मानव अहिंसादेवी की गोद में सुखी रहा था। जैन इतिहासकार विश्व साहित्य का अध्ययन करके इस जैन मान्यता को प्रमाणित करें, यह वाञ्छनीय है।

(३) अहिंसा संस्कृति का अवसान काल दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ के समय से अहिंसा संस्कृति के सूर्य को पाखंड रूपी राहु ने ग्रस्त कर लिया। अब तक ब्राह्मणवर्ग ब्रह्म में चर्या करता हुआ आत्मानुभूति में आनन्द विभोर था। ब्राह्मण विद्वानों ने आत्मविद्या के ज्ञान से ओत-प्रोत काव्यों को रचा था। उनके काव्यों के रहस्य को जानने वाला समुदाय तब अहिंसासंस्कृति का अनन्य उपासक था। किन्तु शीतलनाथ जी के समय में वह शिथिलाचार का शिकार बना। ऋषि मुण्डशालायन ने परिग्रह-पोट को सिर पर उठाया—हाथी, घोड़ा, कन्या, सुवर्ण आदि का दान लेना उसने स्वीकार किया। अब से एक अन्य विचारधारा बह निकली, जिसमें 'आत्मा' नहीं, परिग्रह को—शरीर पुष्टि और इन्द्रिय-लिप्सा को प्रमुख स्थान मिला। यह विचारधारा ऐसी बलवती हुई कि "आत्मा" की बात लोग भूल से गये—धर्ममार्ग तब निर्जन—सूना सा हुआ। ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ के तीर्थ में हम उसकी प्रतिक्रिया हुई देखते हैं। श्रेयांसप्रभु ने अहिंसा संस्कृति का महत्व मानव को यद्यपि बताया, परन्तु मानव तो वासना के मद में मदहोश हो गया था। अभी तक वह मान और लोभ के चंगुल में उतना बुरा नहीं फँसा था, जैसे वह अब फँसा है। इसी समय हम संगठित रूप में प्रलोभन के वशवर्ती हुई मानवीय शक्तियों में घोर संघर्ष होता पाते हैं। भरत और बाहुबलि का अहिंसक युद्ध अहिंसासंस्कृति की विजय का प्रतीक था अरुणोदयकाल में; पर यह तो अहिंसा का अवसानकाल था। इसमें अश्वग्रीव और तृपृष्ठ से हिंसक युद्धों का श्रीगणेश हुआ दिखता है। क्या वह हिंसा-प्रगति का प्रतीक नहीं है? तारा का अपहरण

हिंसक-वासना की जीत का गीत नहीं है क्या? जैन पुराणों में इन सबका इतिहास पढ़िये।

(४) **हिंसक-प्रगति का काल**—श्रेयांसनाथ जी के पश्चात् श्रीमुनिसुव्रतनाथ जी के समय तक ऐसा मालूम होता है कि अहिंसेतर विचारधारा बलवती होती गई थी। बीच में धर्म की रक्षा करने के लिये तीन तीर्थङ्कर अर्थात् शान्ति, कुन्थु और अरह ने चक्रवर्तीपन भी धारण किया था। सारे लोक को दिग्विजय कर के उन्होंने धर्म-साम्राज्य की स्थापना की थी और अहिंसासंस्कृति के पुनरुद्धार का उद्योग किया था। किन्तु अहिंसा और हिंसा के इस संघर्ष में आखिर तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में हिंसा ही विजयी होकर निकली। वैदिक ऋचाओं का शब्दार्थ लगाया गया और हिंसक आहुति का विधान हुआ—मांस और सुरा के बिना कोरी कामनी का काययोग वासना की तृप्ति नहीं करता। परिणामतः हिंसक क्रियाकाण्ड और इन्द्रियवासनातृप्ति का बोलबाला हुआ। पर्वत और नारद का संवाद हिंसा और अहिंसा का संघर्ष था—शक्ति ने उसका निबटारा किया। राजा बसु में तब शक्ति केन्द्रीभूत थी। बसु ने जबान हिलाकर हिंसा को सिंहासन पर बैठाया। सत्य-शील-संयम का आसन क्षमाशील पृथ्वीमाता ने अपनी छाती में चीर कर रख लिया। उसकी प्रतिच्छाया क्षीण हुई श्रमण विचारधारा में झलकती रही! "महाभारत" की कथा और "सुत्तनिपात" का वर्णन भी तो यही बताता है कि पहले ब्राह्मणवर्ग अहिंसक-यज्ञ किया करता था, परन्तु उपरान्त वह पशुयज्ञों को करने में संलग्न हुआ। देश में तामसिक पाशविकता का प्राबल्य हुआ। लोक में मूढ़ता फैली। भूत-प्रेतों के भय मे मानव घबड़ाया। पशुबलि देकर उसने उनको प्रसन्न करने का स्वांग रचा। पर्वत जैसे कठोर तामसी जीवों की पाँचों उँगलियाँ घी में हुई। प्रतिष्ठा मिली और वासना की तृप्ति हुई। भूतों और यक्षों के आवास वृक्षों की भी पूजा और मान्यता होने लगी। वैदिक ऋचाओं की आत्मिक मान्यता का रहस्य दृष्टि से ओझल हो गया—उनके शब्दार्थ लगाये गये। इन्द्र, वरुण आदि देवता पूजे जाने लगे। यों प्रकृति की उपासना चल पड़ी। हिंसा खिलखिला कर हँसी, पर श्रमण इससे घबड़ाये नहीं। तीर्थङ्कर नमि और नेमि ने पुनः अहिंसा का झंडा ऊँचा उठाया। उनके समयों में कामिनी-कंचन और मद्य-मांस की वासना में लोक बहा जा रहा था। अहिंसा के इन महारथियों ने समय के उस प्रवाह को एक दम न बहने दिया—वह प्रवाह तितर-बितर हुआ। पुत्र और कामिनी का मोह मानव से छूटने लगा। नेमि ने बाड़े में घिरे पशुओं में बिलबिलाती हुई युगवर्ती घोर हिंसा को देखा था। महाभारत-युद्ध में घटित मानव के नैतिक पतन का अन्यतम दृश्य उनकी आँखों के आगे नाचता था। मानव आत्मा का नहीं, अपने पार्थिव व्यक्तित्व का पुजारी हो रहा था। द्रोण ने अपनी मान-रक्षा के लिये पंचाल के दो

टुकड़े कर डाले। धर्ममूर्ति युधिष्ठिर सती द्रौपदी को जुए में दाँव पर लगा बैठे। यादव सुरा-पान में अपने कुल का नाश कर बैठे। नेमि ने युग-प्रवाह को पलटने के लिये महान् अनुष्ठान किया। पुत्र और पत्नी ही जीवन की सार्थकता के लिए आवश्यक नहीं।[1] राजुल सी कमनीय कामिनी के प्रेम में वह नहीं फंसे। लोकोद्धारक जो थे वह। राजुल भी उनके पदचिन्हों पर चल कर लोक के लिये कल्याणकर्त्री हुईं। मानव समाज में प्रतिक्रिया जन्मी। मानव विचारशील हुआ। भारत में उपनिषदों द्वारा आत्म-विद्या का प्रचार किया गया। भारत के बाहर भी यह प्रतिक्रिया अपना प्रभाव छोड़ गई। पारसी, यहूदी और यूनानी आदि भारतेतर प्राचीन दर्शन और मत प्रारंभ में अहिंसा-संस्कृति के ही पोषक थे। किन्तु उनके धार्मिक विधान अलंकृत-भाषा (Pictographic Language) में उसी तरह लिखे गये थे जैसे वेद काव्यमयी वाणी में गुम्फित थे। यह कोरा अनुमान नहीं है, बल्कि स्वयं उन मतों के पूर्वजों की वैसी मान्यता थी। ईस्वी पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी में रचे गये 'अरिस्टियस के पत्र' (the Letter of Aristeas) में इस रहस्यमई भाषा का घूंघट उघाड़ा गया है। उसमें स्पष्ट कहा है कि संकेत रूप में आत्मशुद्धि की शिक्षा हमारे पूर्वजों ने दी है और संकेतों का रहस्य भी बताया है।[1] यहूदियों के पवित्र ग्रन्थ 'जोहर' (Zohar) में एक अध्याय "गुप्त रचना" (the Concealed Treatise) शीर्षक का है और उसमें यहूदी संकेतों का रहस्य बताया गया है। उसमें स्पष्ट कहा है कि शब्दार्थ में धर्मग्रंथों के उपदेश और कथावार्त्ता को ग्रहण नहीं करना चाहिये। यूनानी तत्ववेत्ता सिसरो (Cicero) ने लिखा है कि "ऐसे विद्वान् हो चुके हैं जिन्होंने अलङ्कारों में रचनायें कीं कि शायद खुली भाषा में उनके भाव को भ्रष्ट किया जावे।" (There have been those who have written allegorically, Lest open speech should betray them.—The Influence of Greek Ideas & usages on the Christian Church, p. 84) यह सब उल्लेख यही बताते हैं कि प्रारंभ में आत्मज्ञान और अहिंसा संस्कार सारे लोक में व्याप्त थे। गुरुओं ने वह सत्य विज्ञान अपनी मान्यता के लिये अथवा अन्य किसी कारण से अलंकृत भाषा में लिखा। दुर्भाग्यवश एक समय ऐसा आया जिसमें अलंकारों का रहस्य ओझल हो गया और शब्दार्थ में हिंसा का विधान धर्मग्रन्थों के आधार से किये जाने लगा! वासना और पशुता इस काल में खूब थिरकी!

१. नेमि-निर्वाण के उपरान्त हुये ब्राह्मण ऋषि याज्ञवल्क्य हुए। उन्होंने पुरातन वैदिक परम्परा में सुधार उपस्थित किया। अपने "आत्मकाम" में उन्होंने पुत्र और कामिनी के प्रेम के साथ ही परमात्म प्रेम का समावेश किया। किन्तु श्रमण प्रतिक्रिया बलवान थी जिसमें आसुरी व्यवस्था में परमात्म प्रेम ही सर्वोपरि माना गया।

१. Encyclo: of Religion & Ethics. Vol XII, pp. 143-144.

(५) ज्ञान के प्रतिशोध का काल—किन्तु हिंसा का भयावह युग अधिक न चल सका। तीर्थङ्कर नमि-नेमि के उपदेश से प्रतिशोध की भावना लोक में व्याप्त हो गई थी। भारत में श्रमणों के अतिरिक्त ब्राह्मण परम्परा ने भी क्रियाकाण्ड की सार्थकता के लिये शुष्क ज्ञान और योगविद्या को अपनाया। पशुयज्ञों के साथही हठयोग को प्रधानता मिली। अलङ्कारों का सहारा लेने पर विवाद हुआ। अजातशत्रु और ऋषि बालाकि जो याज्ञवल्क्य के समकालीन थे उनमें परस्पर जो वाद हुआ, वह कुछ ऐसा ही था। बालाकि सूर्य में आत्मा का ध्यान करना उचित समझता था, पर अजातशत्रु सूर्य को प्रकृति का एक अङ्ग मानता था[१]। जनता में जिज्ञासा और शोध की भावना बलवती है। सूर्य की उपासना भी इसी समय चली प्रतीत होता है। जैन पुराण उसकी उत्पत्ति का प्रसंग तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के पूर्व "भव-वर्णन" में करते हैं। पार्श्वनाथ जी का जीव आनन्दकुमार राजा था, जिसने अहिंसक जिन-यज्ञ किया और सूर्यस्थित जिनबिम्ब को नमस्कार किया। कहते हैं, तभी से उनकी देखा देखी जनता ने सूर्य को पूजना प्रारंभ कर दिया[२]। किन्तु उसके रहस्य को जनता न समझ पायी। सूर्योपासना का प्रचार ईरान वासियों में अधिक हुआ। संसारव्यापी "हीलियोलिथिक कलचर" इस उथल-पुथल के जमाने में पैदा हुआ और फला-फूला अनुमानित होता है। उसके द्वारा सूर्योपासना, हिंसक बलि और मंदिरनिर्माण की कला को प्रोत्साहन मिला। किन्तु प्रतिशोध के जमाने में वह अधिक चल न सका। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ, म० गौतम बुद्ध, भ० महावीर आदि श्रमण परम्परा के नेताओं द्वारा सत्य और अहिंसा का जयनाद हुआ। यूनान के तत्त्ववेत्ता भारत में आये और अहिंसा संस्कृति से प्रभावित हुए। अलङ्कारों का रहस्य उनको अपने धर्मग्रन्थों में दृष्टि पड़ा। जैन श्रमण अरब, ईरान और यूनान तक विचरे थे[३]। उनके द्वारा अहिंसा संस्कृति का प्रचार उधर हुआ। परिणामतः हम देखते हैं कि ईरान में जहाँ पहले करीब ६००० ई० पूर्व में जरस्तु प्रथम (Zoroaster I) द्वारा हिंसक बलिदान का विधान हुआ बताया जाता है, वहाँ जरस्तु द्वितीय (Zoroaster II—B. C) के उपदेश में अहिंसक बलिदान का ही निरूपण मिलता है। यहूदियों की प्रतिशोध का फल भी अहिंसा संस्कृति के अनुरूप था—वे अलङ्कारों का रहस्य जान गये। यूनान में पिथागोर (Pythagoras) एवं अन्य तत्ववेत्ताओं द्वारा अहिंसा

१. A History of Pre-Buddhistic Indian philosophy, pp. 151-152.

२. आनन्दकुमार अयोध्या का इक्ष्वाकुवंशी राजा था। उसीके निमित्त से 'सूर्योपासक' सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई जैन पुराण बताते हैं। देखो 'उत्तरपुराण' पार्श्वनाथ चरित्र पृ० ३२४; पार्श्वपुराण पृ० ५५, (राजा जब सूर्य-स्थित जिन-प्रतिमा को नमस्कार करता तो देखादेखी प्रजा भी करती। 'समझै नहीं मूढ़ परनये, भानु उपासक तब सौं भये।')

३. सम्राट् सम्प्रति मौर्य के समय में इन देशों में जैन मुनियों का विहार हुआ था।

संस्कृति का ही विधान हुआ था'। इस प्रकार मानव इतिहास की मूल बातों को हम जैन पुराणों में बीजभूत पा लेते हैं। आवश्यकता है इस दिशा में वैज्ञानिक रीति से अन्वेषण करने की। तोभी जैनसाहित्य की महत्ता आँकने के लिये यह सूत्ररूप विवेचन निरर्थक नहीं है।

—(क्रमशः)

---

१. Jaina Antiquary. Vol. XI. pp. 14—19,

क्या भाष्य स्वोपज्ञ और उसके कर्त्ता यापनीय हैं?

[ले०—श्रीयुत पं० लालबहादुर शास्त्री, बनारस]

श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी जैन-समाज के पुराने इतिहास प्रेमी विद्वान् हैं। आपने सतत अध्यवसाय, अध्ययन और परिश्रम से आपने जैन इतिहास को बहुत कुछ दिया है। आपका 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पिछले निबन्धों का संग्रह ऐतिहासिक सेवाओं का अमर प्रतीक है। अभी हाल ही में उमास्वाति के सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र और उनके सम्प्रदाय को लेकर आपका एक लेख बम्बई से प्रकाशित होनेवाली "भारतीय विद्या" नामक पत्रिका में मुद्रित हुआ है। आपके लेख का सार है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित जो भाष्य है वह स्वोपज्ञ है और सूत्रकार दिगम्बर, श्वेताम्बर न होकर यापनीय सम्प्रदाय के थे। इन दोनों बातों के निर्णय करने में आपने कुछ दलीलें भी दी हैं, जिन पर विचार करना ही इस लेख का मुख्य विषय है। आप लिखते हैं :—

"भाष्य की प्रारंभिक कारिकाओं में और अन्य अनेक स्थानों में 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और निर्देश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्रों में कथन किया गया है। अतएव सूत्र और भाष्य दोनों के कर्त्ता एक हैं।"

श्रीयुत पं० सुखलालजी ने भी भाष्य को स्वोपज्ञ सिद्ध करने में अपने हिन्दी तत्त्वार्थ सूत्र की भूमिका में उपर्युक्त युक्ति दी है। पर प्रेमीजी ने युक्तिगत शब्दों को दुहरा भर दिया है। अच्छा होता इस युक्ति के लिखने के पहले भाष्य की तरह अन्य टीकाओं की भी छान-बीन कर ली जाती। दिगम्बराचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धिटीका में भी यत्र तत्र इस प्रकार के स्थल पाए जाते हैं। मोक्ष का वर्णन करते हुए वे लिखते है—"तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः" पृ० २। दर्शन ज्ञान चारित्र के साथ सम्यक् शब्द की संगति बैठाते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद् विस्तरेण निर्देक्ष्यामः' पृ० २। यहां 'वक्ष्यामः' निर्देक्ष्यामः स्पष्टतः प्रथम पुरुष की क्रियाएं हैं। जिनका संकेत आगे के सूत्रों से है' परन्तु इसीपर से सर्वार्थसिद्धिकार और सूत्रकार को एक नहीं कहा जा सकता। राजवार्तिककार आचार्य अकलंकदेव ने तो अनेकों जगह इस प्रकार के प्रयोग किए हैं[1]। परन्तु वे सूत्रकार से भिन्न ही हैं। स्वयं हरिभद्र ने इस प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग किया है। हारिभद्रीय

---

१ अवसरप्राप्तं बंधं व्याचक्ष्महे पृ० २६३। प्रकरणसामर्थ्याद् भावबंधं ब्रूमः पृ० २६२।...... अमूर्तेरात्मनो हस्ताद्यसंभवे सत्यादानशक्तिविरहाद् कथं संबंधो भवतीति? इमं ब्रूमहे पृ० २६७। ...... परीषहजयइत्युक्तमतस्तान्व्याचक्ष्महे पृ० ३३२। ..अतः परं स्थितिबंधं विकल्पं व्याख्यास्यामः पृ० ३१०। अथ खलुमोहनीयस्याष्टाविंशतिप्रभेदस्य किमाख्याः प्रकारा इत्यत्र ब्रूमः पृ० ३०४।

टीका के २२९ पृष्ठ पर बन्ध का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—"बन्ध इति वर्तने एतच्चो-परिष्टाद्दर्शयिष्यामः" यह कथन आगे "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः" इस रूप से मिलता है। इन उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मूल रचनाओं की ओर संकेत करने वाली टीका की प्रथम पुरुष आदि क्रियाओं से टीकाकार और मूल ग्रन्थकार को एक नहीं माना जा सकता। वास्तव में भारतीय टीकाकारों की यह एक शैली रही है कि उन्होंने मूलग्रन्थकारों में अपने को मिला सा दिया है। कला की दृष्टि से यह उचित भी है। विषय का प्रतिपादन सिलसिलेवार और सुसंबद्ध होना चाहिए। मूल ग्रन्थकार जिस बात को आगे रखना चाहता है चतुर टीकाकार का कर्तव्य है उस विषय की चर्चा वह पहले से छोड़ दे और दोनों कथनों को इस तरह मिला दे मानो टीकाकार को यही कहना था। समस्यापूरक का जो स्थान है उससे मिलता जुलता ही टीकाकार का स्थान है। आचार्य विद्यानन्दि ने अकलङ्क की 'अष्टशती' पर अष्टसहस्री टीका इसी नमूने पर लिखी है। अष्टशती के वाक्य यदि मोटे टाइप में न रक्खे जायँ तो यह पहचानना कठिन है कि अष्टशती और अष्टसहस्री भिन्न कर्तृक है इसके लिये यहां २-१ उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा –

ननु च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं साध्यते, अर्हतोऽनर्हतः सामान्यतस्तो वा ? यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् ततएव व्याप्तिर्न सिद्ध्येत्। अनर्हतश्चेदनिष्टानुषङ्गोऽपि। का पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थ प्रत्यक्षत्वं। पृ० ६१

सोऽत्र भवानर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति,। एतत्कुतोनिश्चितमितिचेत्, अन्येषां न्यायागम-विरुद्धभाषित्वात्। पृ० ६६।

उक्त उद्धरणों में रेखाङ्कित पंक्तियां अष्टशती की हैं परन्तु विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री लिखते हुए रेखाङ्कित पंक्तियों के पहले जो अपने शब्द लिखे हैं उनसे ऐसा मालूम पड़ता है कि अष्टशती के वाक्य भी स्वयं विद्यानन्दि के हैं। अतः जहाँ मौलिक रचना को आत्मसात् करने के लिये टीकाकार 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग करते हैं वहाँ उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि वे उस मूल रचना को अपनी रचना के साथ सुगठित और व्यवस्थित करना चाहते हैं जिससे पाठकों को आगे नवीन विषय को समझने में एकाएक दिक्कत न हो और उनके अध्ययन का क्रम प्रवाह रूप से चालू रहे। पातञ्जलि के योग दर्शन पर व्यास भाष्य भी इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है। योग दर्शन के सूत्रों को लक्ष्य में रख कर व्यास ऋषि ने भी प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग किया है उसके भी कुछ उदाहरण देखिए "स च वितर्कानुगतो विचारा-नुगत आनन्दानुगतोस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः" आगे चल कर प्रथम समाधि-

पाद का १७ वां सूत्र इसी के अनुसार मिलता है[1]। "प्रति संवेदीपुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः" प्र० स० सू० ७, आगे कैवल्यपाद में जाकर यह वर्णन मिलता है। महर्षि पातंजल व्यास से सैकड़ों वर्ष पहले हो गये हैं फिर भी टीकाकार व्यास मूल रचना के लिए 'प्रवेदयिष्यामः' 'उपपादयिष्यामः' आदि प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग कर रहे हैं। अतः टीका में प्रयुक्त हुए प्रथम पुरुष की क्रियाओं को लेकर टीकाकार और मूलग्रंथकार में अभिन्नता सिद्ध करना किसी प्रकार भी युक्तियुक्त नहीं है।

अन्य पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग

दूसरी बात यह है कि प्रेमीजी जब प्रथम पुरुष की क्रियाओं के प्रयोग को मूलकर्त्ता और टीकाकार में अभिन्नता का साधक बतला रहे हैं तब अन्य पुरुष की क्रियाओं के प्रयोग को वे क्या कहेंगे ? क्या वे उन्हें भिन्नता के साधक बतलाएंगे। यदि ऐसा है तो भाष्य में अन्य पुरुष की क्रियाओं के प्रयोग भी मौजूद हैं और इस लिहाज से सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं की तरह भाष्य भी भिन्न कर्तृक होना चाहिए; दृष्टांत के लिए देखिए[2] "तत्कर्मत एव भवति इति बन्धे पुरस्ताद्वक्ष्यति" कार्मण शरीर किस निमित्त से होता है ? ऐसी शंका होने पर वह कर्म से होता है यह बात आगे बन्ध प्रकरण में आचार्य कहेंगे। इसी तरह पहले अध्याय के २१ वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार लिखते हैं "अत्राह मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं, वक्ष्यति "द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इति" "यहां वक्ष्यति का कर्ता स्पष्टतः सूत्रकार है और उसका संकेत "मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इस सूत्र की तरफ है। आगे चलकर —"तीसरे अध्याय का अवतरण देते हुए लिखा है "वक्ष्यति च स्थितौ नारकाणां च द्वितीयादिषु"। यहां तो स्पष्ट सूत्रकार की तरफ से आगे कहे जाने वाले सूत्र का नाम तक दे दिया गया है। इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धि आदि भिन्न कर्तृक टीकाओं की तरह भाष्य में भी सूत्रकार के लिए अन्य पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग किया है। इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त एक और सबल प्रमाण देखिये—

प्रथम अध्याय के ३१ वें सूत्र में—"आद्येपरोक्षं" का भाष्य करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—"**आदौ भवमाद्यम् सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति**" यहाँ पर शास्ति यह अन्य पुरुष की क्रिया का प्रयोग है परन्तु इसके साथ में यह तुरंत शंका होती है कि कःशास्ति सूत्रकारो भाष्यकारो वा ? उत्तर स्पष्ट है सूत्रकारः शास्ति। क्योंकि सूत्रक्रम की प्रमाणता सूत्रकार के साथ हो सकती है न कि भाष्यकार के साथ। अतः समूचा वाक्य इस तरह बन जाता है "सूत्रक्रमप्रामाण्याद् प्रथमद्वितीये शास्ति सूत्रकारः" शास्ति शब्द का

१ वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥१७॥

२ "शुभंविशुद्धमव्याघाति" इत्यादि सूत्र के भाष्य में।

अर्थ शासन करना है अतः यहाँ शासन करने से मतलब है। सूत्र प्रक्रिया को उस ढंग से बनाए रखना, यह कार्य भाष्यकार का नहीं सूत्रकार का है। भाष्यकार तो जैसा सूत्र देखेगा वैसा अर्थ कर देगा। जो जिसकी रचना है आखिर वही तो उसपर शासन कर सकता है, इसलिए भाष्यकार का अभिप्राय शास्ति के बाद अवश्य ही "सूत्रकारः" शब्द से रहा है अतः सम्पूर्ण पंक्ति का अर्थ करना चाहिये। आदि में जो हो वह आद्य कहलाता है अर्थात् सूत्र (मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानिज्ञानम्) क्रम की प्रमाणता से प्रथम द्वितीय ज्ञान (मतिज्ञान श्रुतज्ञान) को सूत्रकार बतलाता है।

'शास्ति' क्रिया के साथ यहाँ "सूत्रकार" पद की कल्पना मैं ही नहीं कर रहा हूं, किन्तु सिद्धसेनगणी ने भी शास्ति के बाद सूत्रकार पद जोड़ा है परन्तु इससे सूत्रकार और भाष्यकार की भिन्नता का जो नग्नसत्य सामने आता था, उसे स्वीकार करने में वे आत्मवञ्चना कर गए और दोनों की एकता की धुन में जैसे तैसे शंका समाधान कर इस प्रकरण से अपना पिण्ड छुड़ाया है। उनका शंका समाधान देखिए "**क्रमः—परिपाटी सूत्रक्रमः सूत्रक्रमः तस्या प्रामाण्यं—आश्रयणां तस्मात् प्रथम-द्वितीये-मतिश्रुते, शास्तीति च ग्रन्थकारं एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकार भाष्यकाराकारेणैवमाह—शास्तीति सूत्रकार इतिशेषः अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणोभेदः इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायाऽन्यश्च भाष्यकार पर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति**" अर्थात् ग्रन्थकार ने अपने को सूत्रकार और भाष्यकार इस तरह दो भागों में बांटकर शास्ति ऐसा कहा है इसलिए सूत्रकार शब्द बाद में और लगा लेना चाहिये अथवा पर्याय में भेद होने से पर्यायों को भी भिन्न समझना चाहिए अतः (एक ही ग्रन्थकार की) सूत्रकार पर्याय भिन्न है और भाष्यकार पर्याय भिन्न है; अतः "सूत्रकार पर्याय कहती है" ऐसा लगा लेना चाहिए। गणीजी के इस समाधान से अगर भाष्यकार स्वयं "सूत्रकार" पद देकर मूलग्रन्थकार को अपने से भिन्न रखना चाहते तब भी भिन्न नहीं हो सकते थे और इस ढंग से तो फिर संसार भर की टीकाएँ 'आत्मानं द्विधाविभज्य तथा पर्यायभेदात् पर्यायिणोभेदात्' इन दो हेतुओं से मूलग्रन्थकार की ही बना ली जायगीं। इतना ही क्यों जहाँ 'वक्ष्यामि' वक्ष्यामः का प्रयोग भाष्यकार ने किया है वहाँ इन शब्दों को उलट कर रखने से भाष्य को भिन्न कर्तृक भी सिद्ध किया जा सकेगा। यथा—वक्ष्यामीति भाष्यकार एव आत्मानं सूत्रकारं चैकीकृत्य मिदमाह वक्ष्यामीति अहमिति शेषः। अथवैकप्रयोजनवत्त्वाद्भिन्नद्रव्यत्वेप्युभयोरभेद इति स एव भाष्यकारः स एव सूत्रकारः। परन्तु **जिस तरह यह समाधान अयुक्त है** उसी तरह गणीजी का समाधान भी **अयुक्त है।**

सूत्र और भाष्य में विरोध

भाष्य में कई स्थल ऐसे हैं जहाँ वह सूत्र का अनुसरण नहीं करता। कहीं तो सूत्रानुसारी अर्थ की कमी है और कहीं जिस सूत्र का जहाँ अर्थ चाहिए वहाँ नहीं किया गया,

अन्यत्र किया गया है। कम से कम स्वोपज्ञ भाष्य में ऐसी गड़बड़ी नहीं हो सकती परन्तु मौजूदा भाष्य इन गड़बड़ियों से भरा हुआ है। यहाँ हम उन सभी स्थलों का उद्धरण देते हैं। चतुर्थ अध्याय का चौथा सूत्र देखिये:—

"इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकश:" ४-४

यहां स्पष्टतः देवनिकायों के इन्द्र सामानिक आदि १० भेद गिनाये हैं। किन्तु भाष्य में इस सूत्र का अर्थ करते हुए ११ भेद गिनाए हैं, यथा—इन्द्राः, सामानिकाः, त्रायस्त्रिंशाः पारिषदाः, आत्मरक्षाः, लोकपालाः, अनीकाधिपतयः, अनीकानि, प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति। अनीकाधिपति भेद अधिक है जिसका अर्थ स्वयं भाष्यकार ने किया है अनीकाधिपतयो—दण्डनायकस्थानीयाः यह अतिरिक्त भेद सिद्धसेन को खटका है। इसपर वे लिखते हैं "सूत्र में अनीकों का ही आचार्य ने ग्रहण किया है, अनिकाधिपतियों का नहीं। लेकिन भाष्य में अनिकाधिपतियों का भी ग्रहण किया है। यह सब अनीक और अनीकाधिपति में एकत्व का विचार कर ही भाष्यकार ने इस प्रकार लिखा है। नहीं तो दश की संख्या नहीं रहेगी"[1] यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गणी जी का यह जबर्दस्ती का समाधान है। अगर सचमुच यही बात थी तो भाष्यकार को ही यह समाधान करना चाहिए था परन्तु ऐसे भी समाधान में वे मौन हैं अतः स्पष्ट है कि भाष्यकार का मत सूत्रकार से भिन्न है।

आगे चलकर चौथे अध्याय का २६ वां सूत्र देखिये:—

"सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च।"

इसमें लौकान्तिक देवों के ९ भेद गिनाए हैं। इसका भाष्य करते हुए भाष्यकार ८ ही भेद गिनाते हैं, यथा—एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम...। इस पर सिद्धसेन गणी शंका समाधान करते हुए लिखते हैं—"शंका, यह तो नौ भेद होते हैं और भाष्यकार ने आठ ही गिनाए हैं ? समाधान, लोक के अन्त में रहने वाले यह आठ भेद सूरि ने गिनाए हैं। किन्तु रिष्ट विमान प्रस्तार में रहनेवालों की अपेक्षा ९ भेद होते हैं अतः कोई दोष नहीं है। हाँ, आगम में ९ ही भेद हैं[2]। गणी जी का यह समाधान कितना संतोषप्रद है इसे पाठक समझ सकते हैं।

---

१ सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणानीकाधिपतयः भाष्ये पुनरुपन्यस्तास्तदेतदेकत्वमेवानीकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमेवं भाष्यकारेण, अन्यथा न दशसंख्या भिद्येत्।

२ नन्वेमेते नवभेदा भवन्ति, भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिता। उच्यते-लोकान्तवर्तिन एतेऽष्टभेदाः सूरिणोपात्ता रिष्टविमानप्रस्तारवासिभिर्नवधा भवन्तीत्यदोषः। आगमेतुनवधैवाधीता, पृ० ३०७।

आज वे सामने होते तो हम उनसे बड़ी नम्रता के साथ निवेदन करते कि महाराज आप कहते हैं सो तो ठीक है लेकिन यह तो बतलाइये कि जब आपके मत मे सूत्रकार भाष्यकार एक हैं तब उन्होंने अपने सूत्र में दिये ९ नामों का खुलासा क्यों नहीं किया और जिस अपेक्षा से उन्होंने सूत्र में ९ भेद दर्शाए हैं वह उस सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने क्यों छोड़ दी ? भाष्य जब सूत्र का ही खुलासा करने के लिये है तब खुलासा करना तो दूर रहा वह उसके विरुद्ध जा रहा है इसका क्या कारण है ? अस्तु जब तक गणी जी की टीका विद्यमान है तब तक ये प्रश्न भी उनके समाधान के लिये खड़ेही रहेंगे ।

इसी प्रकार छठे अध्याय का छठवाँ सूत्र है—"इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया .... पूर्वस्यभेदाः ।" इसमें साम्परायिक आश्रव के भेदों को गिनाते हुए पहले इन्द्रिय फिर कषाय फिर अव्रत यह क्रम रक्खा है परन्तु भाष्यकार को यह क्रम पसन्द नहीं है अतः उन्होंने इसमें बिल्कुल उल्टा ही क्रम रखा है । वे इस सूत्र का भाष्य करते हुए पहले अव्रत, फिर कषाय बाद में इन्द्रिय का वर्णन करते हैं[1] । यद्यपि कुछ प्रतियों में 'अव्रत कषायेन्द्रिय.........पाठ भी मुद्रित है परन्तु यह गड़बड़ बाद के श्वेताम्बर लेखकों ने की है और भाष्य को देख कर ही उसके अनुसार सूत्रों में परिवर्त्तन कर दिया है । क्योंकि सिद्धसेन गणी ने जिस सूत्रपाठ के भाष्य पर अपनी टीका लिखी है वह सूत्रपाठ उसके सामने "इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया .....ही मौजूद था । अतः भाष्यकार की क्रम विपरीतता देख कर उन्होंने उसका समाधान भी करना चाहा है । वे लिखते हैं—"भाष्यकार ने इन्द्रिय कषायों का उलंघन कर पहले अव्रत का वर्णन किया है इसका क्या मतलब है ? बतलाते हैं, भाष्यकार का यह मतलब है कि हिंसादिक अव्रत सम्पूर्ण आश्रव समूह के कारण हैं, उनमें प्रवृत्ति होने पर आश्रवों में प्रवृत्ति होती है और उनसे निवृत्ति होने पर आश्रवों से निवृत्ति होती है । इस अर्थ को जतलाने के लिए भाष्यकार ने सूत्रोक्त क्रम का उलंघन कर अव्रतों का वर्णन किया है[2] । गणी जी यह सब समाधान तो करते हैं लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि उन्होंने सूत्र और भाष्य को एक कर्तृक मान रखा है अतः जब हिंसादिक अव्रत ही सब आश्रवों के मूल कारण थे तब भाष्यकार को सूत्र में भी वही क्रम रखने में क्या आपत्ति थी । सूत्र रचना करते समय ग्रन्थकार को इद्रियां ही सम्पूर्ण

---

१ ....पञ्च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाः । प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्येवमादयः वक्ष्यन्ते । चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः अनंतानुबन्ध्यादयो वक्ष्यन्ते । पञ्च प्रमत्तस्येन्द्रियाणि । पञ्चविंशति क्रिया.......................पृ० ११ तत्त्वा० उत्तरा० ।

२ तत्र इन्द्रिय कषायानुल्लंघ्याव्रतान्येव व्याचष्टे भाष्यकारः, किं पुनरत्र प्रयोजनमिति ? उच्यते-अयमभिप्रायो भाष्यकारस्य हिंसादीन्यव्रतानि सकलाश्रवसमूहकारणानि तत्प्रवृत्तावाश्रवेष्वेव प्रवृत्तिस्तन्निवृत्तौ च सर्वाश्रवेभ्यो निवृत्तिरित्यर्थस्य ज्ञापनार्थं सूत्रोक्त क्रममतिक्रम्याव्रतानि व्याचष्टे भाष्यकारः ।

आश्रवों में मूल कारण थीं और उसी सूत्र की भाष्य रचना करते हुए हिंसादि अव्रत ही उन्हें (ग्रन्थकार को) सब आश्रवों के मूल कारण थे । इस विचित्र समाधान से गणी जी ही संतोष कर सकते हैं दूसरा नहीं । अपना उपर्युक्त समाधान करते हुए गणी जी ने यह भी लिखा है कि सूत्र में जो "इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया—क्रम रक्खा है, वह सूत्ररचना की शोभा के लिये है[1] " अर्थात् उन्हें स्वयं यह बात खटकी है कि जब सूत्रकार और भाष्यकार एक हैं तब जो अपेक्षा उन्होंने भाष्यक्रम में रक्खी है वही अपेक्षा सूत्रक्रम में भी रक्खी है अतः उसीके समाधान के लिये उन्होंने उक्त वाक्य लिखे हैं । परन्तु सचाई यह है कि अर्थ गांभीर्य की उपेक्षा कर संदर्भ में शोभा के लिये सूत्र रचना नहीं की जाती, दूसरे जिस सूत्रपाठ या श्लोक के हम पढ़ने सुनने के अभ्यासी हो जाते हैं वह हमारे मुंह लग जाता है । अतः जब उसकी तुलना में कोई बदला हुआ सूत्रपाठ या श्लोक हमारे सामने आता है तब वह हमें भद्दा और पहला सूत्रपाठ सुन्दर मालूम होने लगता है । "इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया और अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया..." इन दोनों सूत्रपाठों में भी यही बात हुई है सिद्धसेन गणी "इन्द्रियकषायव्रतक्रिया..." सूत्रपाठ के अभ्यासी रहे हैं[2] । अतः उन्हें वह पाठ तो सुन्दर और अव्रतकषायेन्द्रिय...पाठ असुन्दर प्रतीत हुआ । अगर पहले पाठ की अपेक्षा द्वितीय पाठ वे परंपरा से सुनते, बांचते आए होते तो दूसरा पाठ सुन्दर और पहला पाठ असुन्दर प्रतीत होता । इसलिए सुन्दरता असुन्दरता की कसौटी परंपरा से आया हुआ अभ्यास और रुचि है अन्यथा यह समझना कठिन होगा कि सूत्रगत पाठ क्रम क्यों सुन्दर है और भाष्यगत पाठक्रम क्यों असुन्दर है ?

असूत्रार्थ ।

दूसरे अध्याय का ३७ वाँ सूत्र है" औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि' इसका वास्तविक भाष्य इसी अध्याय के ४९ वें सूत्रमें पृ० २११ से २१४ तक किया गया है। किन्तु यह अनियन्त्रितता सिद्धसेन गणी से नहीं छिपी अतः बड़े कष्ट से इसका समाधान करते हुए भी उन्हें इसे असूत्रार्थ कहना पड़ा है और इसके लिये आचार्य को[3] क्षमा करना पड़ा है । उनके वाक्य देखिये :—

शंका—यह भाष्य तो शरीर प्रकरण के पहले सूत्र (२-३७) में ही करना था यहाँ दूसरे प्रकरण में करने का तो इसका कोई मतलब नहीं है । समाधान—इसका यह मतलब नहीं है—प्रकरण का पहला सूत्र प्रकरण की समाप्तिपर्यन्त चालू रहता है अथवा दूसरे प्रकरण में इनके कथन करने का कोई फल नहीं क्योंकि वह सूत्र (प्रकरणगत) का अर्थ

---

१ सूत्रबन्धशोभाहेतोरिन्द्रियादिसन्निवेशः । २ क्योंकि प्राचीन सूत्रपाठ यही था ।

३ भाष्यकार को

नहीं है अतः आचार्य की इस एक गल्ती को क्षमा करना चाहिये[1]। समझ में नहीं आता जब सूत्रकार और भाष्यकार एक ही हैं तब जिस सूत्र का भाष्य जहाँ चाहिए वहाँ तो न करे और जहाँ न चाहिए वहाँ करे, इसका क्या मतलब है ?

इस संबंध में गणी जी का समाधान तो बिल्कुल ही अनुचित है। छठे अध्याय में मात्र आश्रव का प्रकरण है तब क्या उसके दूसरे सूत्र का अर्थ (स आश्रवः) का अर्थ अन्तिम सूत्र (विघ्नकरणमन्तरायस्य) के अन्तर्गत करना चाहिये अथवा 'आश्रव-निरोधः संवरः' का अर्थ जहाँ चारित्र का प्रकरण समाप्त हुआ है वहाँ करना चाहिए। अस्तु, जब गणीजी को अपने समाधान से स्वयं ही संतोष नहीं है और इसके लिए वे लाचारी से कह रहे हैं कि आचार्य को क्षमा करना चाहिए तब उसपर अधिक लिखना व्यर्थ है।

भाष्यकार के सामने पाठान्तर।

भाष्यकार ने यद्यपि पाठान्तरों की चर्चा नहीं की है फिर भी उनके भाष्य को सावधानी से देखने पर यह स्पष्ट मालूम हुए बिना नहीं रह सकता कि भाष्यकार के सामने अन्य सूत्रपाठ मौजूद था। उदाहरण के लिए दूसरे अध्याय का अंतिम सूत्र देखिये—

"औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः"।

यहाँ उत्तम शब्द को लेकर पूज्यपाद और अकलङ्क ने काफी चर्चा की है साथ ही साथ "चरमदेहाः" पाठान्तर भी सूचित किया है। भाष्यकार के सामने भी ये दोनों पाठ रहे हैं अतः इस सूत्र का भाष्य लिखते समय सामान्य अर्थ करते हुए तो उत्तम शब्द का अर्थ लिख दिया है। लेकिन बाद में जहाँ सोपक्रम निरुपक्रम आयु का विचार किया है। वहाँ औपपातिक, चरमदेह और असंख्यातवर्ष आयुवालों की तो सोपक्रमता और और निरुपक्रमता का विचार किया है। किन्तु उत्तम पुरुषों का नाम ही नहीं लिया[2]। इस तरह उन्होंने दोनों पाठों का बड़ी सतर्कता के साथ समन्वय कर लिया है। सिद्धसेनगणी से यह पाठान्तर की समन्वयता छिपी नहीं रही अतः दोनों पाठों के अनुसार भाष्य को देख कर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इस भाष्य से ही यह सन्देह होता है कि सूत्र में उत्तम पुरुष का ग्रहण चाहिये या नहीं। "उत्तम पुरुष" पर विवाद सिद्धसेन ने इसलिए उठाया है कि उनके सामने भाष्य पर टीका लिखते समय जो सूत्रपाठ था उसमें "उत्तम पुरुष" पाठ नहीं था। इस सम्बन्ध में हम सिद्धसेन के शब्दों को ही यहाँ उद्धृत करते हैं :—

---

१ ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतद्भाष्यं युक्तं स्याद् इह तु प्रकरणान्तराभिधाने न किंचिद् प्रयोजनं वैशेषिकमस्तीति। उच्यते-तदेवमयं मन्यते, तदेवेदमादिसूत्रमाप्रकरणपरिसमाप्तेः प्रपञ्चते अथवा प्रकरणान्तराभिधाने न किंचिद् फलमस्त्यसूत्रार्थत्वादतः क्षम्यतामिदमेकमाचार्यस्य। तत्त्वार्थाधिगम सू० ७० पृ० २११

२ अतोत्तमपुरुषा नोक्ताः, सिद्धसेनीय टीका पृ० २२६

केचिदभिदधते-नास्ति सूत्रकारस्योत्तमपुरुषग्रहणम् तत्कथं तीर्थंकरादि संग्रह इति येतु एवं च मन्यंते चरमदेहग्रहाद् ग्रहीष्यन्ते, कथम्? ये किल चरमदेहास्ते नियमत एवोत्तम भवन्ति, उत्तमास्तु चरमदेहत्वेन भाज्या वासुदेवादय इति तस्मादनार्षमुत्तमपुरुषग्रहणम्। उभयथा च भाष्यमुपलभ्यते अविगानात्। आदावुत्तमपुरुषास्तीर्थंकरादय इति विवृतमुत्तर-कालं पुनर्नोपात्तमुत्तमपुरुषग्रहणं निरुपक्रमसोपक्रमनिरूपणायां अतो भाष्यादेव सन्देहः किमस्ति नास्तीति तदेवेदमस्माकम्" अर्थात् कोई कहते हैं कि सूत्रकार ने "उत्तम पुरुष का ग्रहण नहीं किया तब—भाष्य में तीर्थंकरादि का संग्रह कैसे कर लिया। उत्तर—'चरम देह' के ग्रहण से तीर्थंकरादिका ग्रहण हो जायगा। क्योंकि जो चरमदेह होते हैं; वे नियम से उत्तम होते हैं। और जो उत्तम होते हैं वे चरमदेह होते भी हैं नहीं भी होते; जैसे वासुदेव आदिक इसलिए उत्तम पुरुष का ग्रहण आर्ष विरुद्ध है। अथवा परंपरा से दोनों तरह का भाष्य मिलता है। पहले उत्तम पुरुष का अर्थ तीर्थंकरादिक बतलाया गया है बाद में निरुपक्रमसोपक्रम की निरूपणा करते समय उत्तम पुरुष का ग्रहण नहीं किया अतः भाष्य से ही यह सन्देह होता है कि उत्तम पुरुष का ग्रहण चाहिये या नहीं वही सन्देह हमें है।"

सिद्धसेन के उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार सूत्र में 'उत्तम पुरुष' के लिए स्वयं संदिग्ध रहे हैं और अपने सन्देह का निवारण नहीं होते देख उन्होंने सूत्र का दोनों तरह से अर्थ कर दिया है अन्यथा कोई कारण नहीं कि सामान्य अर्थ करते समय तो सूत्रस्थ अन्य पदों के साथ उत्तम पुरुष का अर्थ कर दिया जाय और विशेष अर्थ करते समय सूत्रस्थ संपूर्ण पदों का अर्थ करते हुए 'उत्तम पुरुष' को छोड़ दिया जाय।

भाष्य में सन्देहस्थल

सूत्र पाठान्तर की तरह भाष्य में सन्देहस्थल भी मौजूद हैं और भाष्य को सावधानी से पढ़ जाने के बाद वे प्रकट हुए बिना नहीं रहते। हमें आश्चर्य है कि प्रेमी जी की सतर्क दृष्टि से वे कैसे बचे रहे? और क्यों वे केवल पं० सुखलाल जी की युक्तियों पर ही विश्वास करके रह गये।

तीसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में घन शब्द की सार्थकता बतलाते हुए भाष्यकार लिखते हैं—"अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते तेनायमर्थः प्रतीयते घनमेवाम्बु अधः पृथिव्या" अर्थात् 'अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः" इसीसे काम चल जाता था फिर भी यहाँ "घन" का ग्रहण किया है उससे यह अभिप्राय मालूम होता है कि पृथ्वी के नीचे घना जल है यहाँ "यह अभिप्राय मालूम होता है (तेनायमर्थः प्रतीयते)" यह वाक्य स्पष्ट बतला रहे हैं कि भाष्यकार को 'घन' शब्द की सार्थकता का निश्चय नहीं है अतः उन्होंने अपनी अनिश्चयात्मक वृत्ति"को "तेनायमर्थः प्रतीयते" वाक्य से स्पष्ट किया है।

2823

अगर सूत्र इन्हीं का बनाया होता तो वे 'घन' शब्द की सार्थकता के लिये 'प्रतीयते' शब्द का प्रयोग नहीं करते किन्तु 'तस्यायमर्थः' कह कर उसकी पुष्टि करने अथवा घनग्रहणं 'घनमेवाम्बु इति ख्यापनार्थं' इन शब्दों का प्रयोग करते। परन्तु 'ऐसा मालूम पड़ता है' ये वाक्य तो तभी इस्तेमाल किये जाते जब उस पदार्थ का हम को ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता।

इसी तरह का एक और प्रयोग देखिए। चौथे अध्याय का १३ वां सूत्र है :— "ज्योतिष्काःसूर्यचन्द्रमसौग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च" यहाँ 'सूर्यचन्द्रमसौ' पाठ का शेष सूत्र के साथ समास न करने और आर्षविरुद्ध क्रमभंग करने की आपत्ति का समाधान करते हुए भाष्यकार लिखते हैं :—'असमासकरणमार्षाच्च सूर्यचन्द्रमसोः क्रमभेदः कृतः यथा गम्येतैतदेवैषामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति"। भाष्यकार के इस समाधान में "यथागम्येत" पद ध्यान देने लायक है। इससे भाष्यकार की समाधान में दृढ़ता प्रतीत नहीं होती।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से प्रेमी जी की दूसरी युक्ति भी खण्डित हो जाती है जिसमें उन्होंने लिखा है कि सूत्र का अर्थ करने में कहीं भी सन्देह या विकल्प नहीं किया गया और न कहीं भाष्य में सूत्र के पाठभेद की चर्चा है। भाष्य में और भी कई[1] ऐसे प्रकरण मौजूद हैं जहाँ सूत्रके साथ उसकी संगति नहीं बैठती तथा जिनका भाष्य के टीकाकारों ने उल्लेख किया है। यथा— सान्निपातिकस्तु तदन्तर्गतत्वादेव वृत्तिकृता नोक्तः उपात्तस्तु सूत्रकारेण च शब्दोपादानात्।"हारिभद्रीयटीका पृ० १०९।

······ मध्यवर्तिना सूत्रेण[2]वइयं देवापुरपेक्ष्यमेव, एवं विधं च भाष्य नास्ति, सिद्धसेन गणी टीका उत्तरा० पृ० ३१

प्रेमी जी की तीसरी युक्ति है—भाष्य के प्रारंभ में जो ३१ कारिकाएँ हैं वे मूलसूत्र रचना के उद्देश्य से और मूलग्रंथ को लक्ष्य में रख कर लिखी गई हैं" इत्यादि इस विषय में हमारा यह कहना है कि वे कारिकाएँ सूत्रकार कृत नहीं हैं किन्तु भाष्यकार की हैं और जिस तरह उन्होंने तथा अन्य टीकाकारों ने 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्यामः' के प्रयोग मूल सूत्र रचना को लक्ष्य में रख कर किए हैं उसी तरह प्रारंभिक कारिकाएँ भी भाष्यकार ने मूल ग्रंथ को लक्ष्य में रख कर लिखी हैं।

क्या भाष्य प्राचीन है ?

भाष्य की प्राचीनता को लेकर भी प्रेमीजी ने कुछ चर्चा की है उन सब का सार यह है कि अकलंक ने भाष्य की ३२ कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा राजवार्तिक में जगह २ भाष्य

१ "निःशीलव्रतत्वं सर्वेषां" इसमें चारों आयु के आस्रव के कारण बतलाए हैं। परन्तु भाष्यकार ने देवायु को छोड़ कर तीन आयु के आस्रव के कारण बतलाए हैं।

२ "क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थ "इत्यादि सूत्र में तीर्थ के बाद पुनः लिंग अनुयोग द्वार का वर्णन किया है। इस पर यह शंका की है।

मान्य सूत्रों का विरोध किया है। जगदीशचन्द्र जी ने भी अनेक उद्धरण देकर अकलंक के सामने भाष्य का होना सिद्ध किया है। सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का विरोध नहीं किया गया प्रत्युत दोनों के पद वाक्य आदि मिल जाते हैं आदि। प्रेमी जी लिखने को यह सब लिख तो गये हैं परन्तु हमें सन्देह है कि उन्हें अपनी युक्तियों पर विश्वास होगा। सन्देह की बात हमने इसलिए लिखी है कि स्वयं प्रेमीजी की युक्तियों से ही प्रेमी जी की बात खण्डित हो जाती है। उदाहरण के लिए प्रेमीजी लिखते हैं—"आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसार में भी भाष्य की उक्त ३२ कारिकाओं में ३० कारिकाएँ नम्बरों को कुछ इधर उधर करके ले ली हैं और मुद्रित प्रति के पाठ पर विश्वास किया जाय तो उन्होंने उन्हें 'उक्तंच रूप में न देकर अपने ग्रंथ का ही अंश बना लिया है। अमृतचन्द्र का समय निर्णीत नहीं है फिर भी वे विक्रम की १२ वीं सदी के बाद के नहीं हैं और वे भी भाष्य से या उसकी उक्त कारिकाओं से परिचित थे।" हमारा इसमें पूछना इतना ही है कि जब अमृतचन्द्र का समय निर्णीत नहीं है तब आपने यह कैसे संतोष कर लिया कि अमृतचन्द्र भाष्यकार के बाद हुए हैं और उन्होंने भाष्य की ३० कारिकाएँ ले ली हैं अथवा यह संतोष क्यों नहीं कर लिया कि तत्त्वार्थसार से भाष्यकार ने ३० कारिकाएँ ले ली हैं। विक्रम की १२ वीं सदी के बाद के वे भले ही न हों लेकिन वे पहले कब हुए हैं। आप को तो यह निर्णय करना था। प्रसङ्गवश यहाँ यह लिखे बिना नहीं रहा जाता कि जैन विद्वानों की इतिहास चर्चा ने आचार्य अमृतचन्द्र के साथ बहुत कुछ अन्याय किया है। उनमें से किसी ने भी आज तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया जिससे उन्हें अकलङ्क आदि आचार्यों से अर्वाचीन माना जा सके। किन्तु यह सभी लिखते रहे हैं कि अमृतचंद्र ने अमुक जगह से यह श्लोक ले लिया, क्योंकि वे अमुक आचार्य से अर्वाचीन हैं। हमारा यह कदाग्रह नहीं है कि अमृतचन्द्र अर्वाचीन नहीं हैं लेकिन जब तक उनकी अर्वाचीनता में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक उनके विषय में एक चलती बात लिख देना कि अकलङ्कादि से बहुत बाद में हुए हैं, इतिहास के विद्वानों को शोभा नहीं देता। अस्तु, प्रेमी जी ने भाष्य की जिन ३० कारिकाओं को अमृतचन्द्र द्वारा अपनाने की बात लिखी है वह उन्हीं की बात (अमृतचन्द्र का समय निर्णीत नहीं है) से खण्डित हो जाती है। इसी तरह आप का यह लिखना कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहीं भी भाष्यका विरोध नहीं किया यही सिद्ध करता है कि पूज्यपाद के सामने भाष्य नहीं था। रही दोनों के पद वाक्यों की समानता की बात उससे यह कैसे निष्कर्ष निकलता है कि पूज्यपाद ने भाष्य के वाक्य अपना लिए हैं अथवा यह निष्कर्ष क्यों नहीं निकलता कि भाष्यकार ने पूज्यपाद के वाक्य अपना लिए हैं। इस संबंध में प्रेमी जी ने जो दोनों की लेखनशैली पर विचार किया है और साथ ही सर्वार्थसिद्धि की रचना को प्रसन्न और गंभीर बताकर उसे भाष्य से अर्वाचीन सिद्ध करना चाहा है वह भी युक्तियुक्त नहीं है। रचना की प्रसन्नता, गंभीरता,

तार्किकता आदि बातें रचयिता की योग्यता, प्रतिभा, अध्ययनशीलता आदि बातों पर निर्भर है। अतः उससे एकान्ततः प्राचीनता, अर्वाचीनता की बात सोचना कदाग्रह के सिवाय और कुछ नहीं।

यह ठीक है कि जगदीशचन्द्र जी आदि विद्वानों ने अकलंक के सामने भाष्य का होना सिद्ध किया है परन्तु पं० जुगलकिशोरजी आदि विद्वानों ने उसका खण्डन भी किया है अतः किसी विद्वान की साक्षी का इसमें कोई महत्त्व नहीं है।

भाष्यकार यापनीय नहीं थे

भाष्य के अनेक स्थलों को भगवती आराधना की विजयोदया टीका से मिलाकर प्रेमी जी ने यह भी सिद्ध किया है कि भाष्यकार यापनीय संप्रदाय के थे क्योंकि उक्त टीका के कर्त्ता अपराजितसूरि यापनीय थे और चूंकि भाष्यकार ही सूत्रकार हैं अतः उमास्वाति भी यापनीय थे। इस संबंध में हम प्रेमीजी को यह स्मरण करा देना चाहते हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं भी अपने "जैनसाहित्य और इतिहास" में कबूल किया है[1], यापनीय संप्रदाय नग्न रहता था अचेलकता को आदर्श मानता था, मोरपिच्छी रखता था, पाणितलभोजी था स्वयं भगवती आराधना और उसकी टीका में अचेलकता का जोरदार समर्थन किया गया है तथा वस्त्रादि सभी परिग्रह को भी बुरा कहा गया है[2]। परन्तु भाष्य में वस्त्र, पात्र, चीवर, रजोहरण आदि का समर्थन किया गया है। प्रमाण के लिए देखिये—"रजोहरण-पात्रचीवरादीनां पीठफलकादीनां चावश्यकार्थं निरीक्ष्य प्रमृज्य चादाननिक्षेपौ आदाननिक्षेपणा-समितिः। पृ० १८८। वस्त्रों के लिए कहा जा सकता है कि यापनीय सम्प्रदाय कारण विशेष उपस्थित होने पर वस्त्र ग्रहण करना भी उचित समझता था, परन्तु यहाँ कारण विशेष की बात नहीं है, परन्तु राजमार्ग है अर्थात् साधु वस्त्रों को देख शोध कर उठावे और रक्खे; इसका सीधा अर्थ है कि वस्त्र तो साधु के पास होना ही है केवल उसके रखने उठाने में सावधानी रखे। दूसरे, अगर वस्त्रों की बात छोड़ भी दीजिए तब भी रजोहरण और पात्रों की समस्या बनी ही रहती है। आखिर इनके सावधानी से रखने उठाने की क्या आवश्यकता है जबकि रजोहरण की जगह वे (यापनीय) मोरपिच्छी और पात्र की जगह पाणिपात्र रखते थे।

आगे और भी उदाहरण देखिए—"एषामन्नपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारादिभिर्धर्मसाधनैरुपग्रहशुश्रूषाभेषजक्रियाकान्तारविषमदुर्गोपसर्गेषु अभ्युपपत्तिरित्येतदादि वैयावृत्यम्।" पृ० २५८। यहाँ स्पष्ट वस्त्र पात्रादिक से दश प्रकार के साधुओं की वैयावृत्य करना बतलाया है साथ ही वस्त्र पात्रादिक को धर्म का साधन कहा है।

१ पृ० ४४। २ गा० ११२३, ११२४, ११६८, ११६१ आदि।

प्रशम रति में जिसे प्रेमीजी उमास्वाति कर्तृक मानते हैं स्पष्ट मुनि के वस्त्र, पात्र का निरूपण है[1]। इन सब उद्धरणों से यह निश्चित है कि भाष्यकार यापनीय नहीं हैं अन्यथा वे वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि का समर्थन नहीं करते और न भाष्य स्वोपज्ञ ही है क्योंकि उसमें वे सब बातें मौजूद हैं जो सूत्रकार और भाष्यकार को भिन्न सिद्ध करने में सहायक हैं।

१ देखो १३५ वां छंद।

दि० जैन-संस्कृत-पूजा-साहित्य

[ले०—ज्यौतिषाचार्य, न्यायतीर्थ श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न]

प्रकृति की अभिनय-शाला में अहर्निश अभिनय होता रहता है। इस विराट अभिनय के अभिनेता एवं अभिनेत्रियाँ कीट पतंग से लेकर मानव तक सब-के-सब हैं। मानवता के स्तर से निम्न कोटि के प्राणी सजग और सुबोध अभिनायक नहीं हैं; अत: इस रंगशाला की कटुता या मधुरता के रसास्वादन का अनुभव उन्हें पूर्ण नहीं हो पाता। वे सुखाभास या दुखाभास से इस तरह लुब्ध या क्षुब्ध हो जाते हैं कि मतवाली मस्ती या कम्पायमती कायरता की दासता में ही उनकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है। इसके प्रतिकूल मानव कलेवर में अन्त:करण की स्थापना है जिसके सहारे वह विश्व नाटक में अपना पार्ट अदा करते समय भी अपने निरासक्त मानस मंच पर बैठ कर चहुंदिशि घटित होने वाली घटनाओं एवं क्रिया-कलापों के पेट में प्रविष्ट हो उनके तथ्यातथ्य का विवेचन अन्त:करण की प्रयोगशाला में करता रहता है। भूलना न होगा कि मानव काया में पशुता एवं मानवता दोनों ही प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं, पर जो सज्ञान मानव है वह विरोधी वृत्तियों में भी अपनी मानवता कायम रखता है।

मानव आत्मा नाना प्रकार के सुख-दु:खों और अनेक आवर्त्तनों-विवर्त्तनों के बीच से होकर अपने को प्रकाशित करती है। वह प्रकृति पाठशाला के शृंखलाबद्ध एवं संघर्षमय जीवन मार्ग में जड़ एवं चेतन जगत के प्रतिमा-सौन्दर्य से कभी लुब्ध और क्षुब्ध होती है तो कभी हर्षित एवं पुलकित। सारांश यह है कि विविध वस्तुओं नैकट्य विभिन्न प्रकार के होने के कारण उसके अन्तर्जगत् में नाना प्रकार की तरंगमयी गतिशीलता तरंगित होती रहती है। इसी हार्दिक संवेदना से भक्ति भावना का उदय होता है। संसार यात्रा से विश्रान्त मानव गुणों से आकृष्ट हो अपने आराध्य देव के निकट में जाकर शान्ति चाहता है और वह उस शान्ति प्राप्ति के लिये अपने हृदय की भक्ति को उनके चरणों में उड़ेलने का प्रयास करता है, फलत: साहित्य जगत में भक्ति-साहित्य या पूजा-साहित्य का आविर्भाव होता है।

जैन मान्यता में आराध्यदेव को सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी बताया है। वीत-रागी प्रभु की भक्ति, स्तुति, और निन्दा समानकोटि की है। फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण, श्रवण, दर्शन एवं कीर्त्तन स्थायी भावात्मक आनन्द का उद्रेक करता है जिससे मानव पशुलोक से परे शुद्ध लोकोत्तर मानव लोक में पहुँच जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने अपने स्वयंभूस्तोत्र में इसी बात को स्पष्ट किया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

साहित्यिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो भक्ति के अतलतल में जिस गहराई तक डुबकियाँ लगाने में समर्थ है वह उतने ही उत्कृष्ट पूजा साहित्य का सृजन कर सकता है। बुद्धिमान व्यक्ति अपने साध्य को प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार के साधनों को जुटाता है तथा उनके अन्वेषण एवं प्राप्त करने में जरा भी प्रमाद नहीं करता। अपनी आकांक्षाओं और स्वयं को तद्रूप करने के लिये वह साध्य को एक सुनिश्चित आकार में देखता है और अपने अन्तस्थल रूप असीम चितपिण्ड करण्ड को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवों की आनन्द प्रदायिनी सुन्दर शब्दमयी अभिव्यक्ति पूजा-साहित्य है। इसके द्वारा मानवजाति को शान्ति और सुख मिलता है, और वह भौतिकवाद को त्याग आध्यात्मिक वाद की ओर अग्रसर होती है। संसार से संतप्त व्यक्ति के लिये उपासना ही एक कल्याण कारी आश्रय है, इससे उसका हृदय दोना भक्ति रूपी कोमल सुमनों से भर जाता है और वह जीवन संग्राम में सक्रिय भाग लेता हुआ भी आध्यात्मिक क्षेत्र को प्राप्त करने में सफल होता है। वह निरासक्त और निरपेक्ष हो अपनी अन्तरात्मा के साथ मन्त्रणा करता है, उसके सामीप्य को प्राप्त करता है तथा अन्त में उसी विशुद्ध निर्विकार, अखण्ड, ज्ञान-दर्शन मय चैतन्य आत्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

यद्यपि भक्ति राग का अंश है, क्योंकि श्रद्धा और प्रेम के योग का मिश्रण भक्ति कहलाता है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसके साक्षात्कार की इच्छा हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिये। पर यह राग भी वीतरागता की प्राप्ति में सहायक है, जिस प्रकार रेखागणित के सिद्धान्तों की शिक्षा देते समय ऐसी रेखा की कल्पना करने के लिये जो अनादि, अनन्त और बिना लम्बाई, चौड़ाई की है, किसी कल्पित लम्बाई, चौड़ाई वाली रेखा द्वारा समझाया जाता है, उसी प्रकार ऐसे प्रभु की भक्ति द्वारा जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख आदि गुणों का धारी, वीतरागी है उसके उक्त गुणों की प्राप्ति के लिये प्रयास किया जाता है। प्रारम्भिक आत्मशुद्धि के विकास में रागरूप भक्ति या पूजन बड़ी सहायक है।

दि० जैन-पूजा-साहित्य की विशेषता

यों तो सभी सम्प्रदायों में पूजा-साहित्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है तथा सभी सम्प्रदायों के उक्त साहित्य में अपने-अपने आराध्य देव की महत्ता स्वीकार करते हुए उसके चरणों में अपने को अर्पण किया गया है। लेकिन दि० जैन पूजा-साहित्य में आराध्यदेव के गुणों का

स्मरण एवं मनन किया गया है, इसमें किसी देव विशेष की पूजा नहीं का गई है, बल्कि आत्मिक गुणों की पूजा की गई है। यहाँ पूजा से आत्म निर्मलता की प्राप्ति अभिप्रेत है। अतः जैन पूजा की विशेषता परमात्म गुणों की प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणों की प्राप्ति की भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ़, प्रकर्ष एवं विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी।

आत्मा स्वभाव से अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्यादि शक्तियों की धारक है; पर अनादि कर्म मल से मलिन होने के कारण उसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं तथा यह आत्मा सांसारिक मोहजाल में इतनी लिप्त है कि उन शक्तियों के विकास का इसे भान नहीं होता। ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें यह जीव मस्त रहता है। लेकिन जो संसारी जीव आत्मज्ञान का इच्छुक हो प्रबल ध्यान के बल से समस्त कर्ममल को दूर कर देता है उसमें आत्मा की सम्पूर्ण अनन्त ज्ञानादिक स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतो भाव से विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल होकर परमात्म पद को प्राप्त होती है। श्रीकुमुदचन्द्राचार्य ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र में कहा भी है—

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥

उक्त परमात्मस्वरूप सभी आत्माओं के लिये अभीष्ट है; अतः परमात्मस्वरूप या आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये परमात्मा की पूजा, भक्ति और उपासना करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। परमात्मा का ध्यान एवं उनकी भक्ति निजात्मा की याद दिलाती है। पूजन, स्तवन एवं ध्यान द्वारा आत्मा यह समझने में समर्थ होता है कि मैं कौन हूं ? मेरी शक्ति क्या है ? जड़कर्म किस प्रकार मुझसे आबद्ध हैं ? मैं इनसे कैसे मुक्त हो सकता हूँ ? तात्पर्य यह है कि जैन मान्यता में परमात्मा को प्रसन्न करने, या उनसे कुछ वर पाने अथवा सांसारिक विषय कषायों को पुष्ट करने के लिये पूजा नहीं की जाती है, किन्तु आत्मस्वरूप की प्राप्ति एवं परमात्मा के उपकार का स्मरण करने के लिये पूजा की जाती है।

दि० जैन-संस्कृत-पूजा-साहित्य का क्रमिक विकास

उपलब्ध पूजा-साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ चौथी शताब्दी के आचार्य यशोनन्दी के हैं, आपने पञ्चपरमेष्ठी पूजा, धर्मचक्रपूजा आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इसकाल में और भी कई पूजा ग्रन्थ लिखे गये हैं, पर उनमें से आज बहुत थोड़े उपलब्ध हैं। यों तो पूजा साहित्य का

आरम्भ विक्रम सं० की पहली शताब्दी में ही हो चुका था। स्वामी समन्तभद्र जैसे दार्शनिकों ने भी पूजा की महत्ता बताई है तथा गृहस्थ के लिये दैनिक कर्त्तव्य में प्रधान अंग बताया है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार दर्शन, काव्य, व्याकरण आदि विषयों का साहित्य प्राचीन है उसी प्रकार पूजा साहित्य भी प्राचीन है। छठवीं, सातवीं और आठवीं शताब्दी में अभयनन्दी, ललितकीर्ति, पद्मनन्दी आदि आचार्यों ने अनेक पूजा ग्रन्थों की रचना की है। इन शताब्दियों में व्रतपूजा और व्रतोद्यापन सम्बन्धी रचनाएँ भी हुई हैं। पर इस काल तक प्रतिष्ठा एवं आराधना सम्बन्धी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। वि० सं० १२४१ में होने वाले आचार्य ने अपने विद्यानुवादाङ्ग ग्रन्थ में वीराचार्य, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणभद्र, वसुनन्दी, इन्द्रनन्दी, आशाधर, हस्तिमल्ल और एकसन्धि इन नौ प्रतिष्ठा ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। आपने बताया है कि उपर्युक्त नौ आचार्यों के प्रतिष्ठाग्रन्थों का सार लेकर ग्रन्थ रचना की जा रही है—

> वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो-
> यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्जितः।
> यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसंधारितः
> तेभ्यस्स्वाहृतसारमार्थरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः॥

इससे स्पष्ट है कि तेरहवीं शताब्दी के पूर्व प्रतिष्ठा ग्रन्थों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। १५ वीं, १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में तो संस्कृत-पूजा-साहित्य का निर्माण विपुल परिमाण में हुआ, इस काल में होने वाले प्रायः सभी भट्टारकों ने पूजा साहित्य का सृजन किया। क्योंकि इस काल की भट्टारक परम्परा प्रकाण्ड विद्वान होने के साथ-साथ जैन शासन की रक्षिका थी। भारत के इतिहास में यह समय धर्मसंकट का माना गया है, इसमें मुसलमान इतर धर्मवालों के साथ अन्याय एवं अत्याचार करते थे अतः लोग भगवान् की शरण को ही सर्वोपरि आश्रय मानते थे। इसीसे इस समय में पूजा या भक्ति साहित्य का निर्माण विशेष रूप से हुआ। जैन परम्परा की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि इस भट्टारक युग में असाता के उदय से आगन्तुक उपद्रवों की शान्ति के लिये आराधना ग्रन्थ तथा यक्ष, यक्षिणियों के पूजा ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। क्योंकि उस समय की उपासना पद्धति का हेतु आत्मा की निर्मलता के साथ साथ असाताजन्य दुर्घटनाओं की शान्ति करना भी था। इस समय ग्रन्थों की पूजा के ग्रन्थ भी रचे गये थे। त्रिलोकसार पूजा, समयसार पूजा, गोम्मटसार पूजा, आदि पूजा ग्रन्थों से स्पष्ट है कि उस समय भक्ति भावना या श्रद्धा-बुद्धि का बड़ाभारी प्राबल्य था। जो व्यक्ति इतर धर्मों के चमत्कार से प्रभावित होकर उधर की उपासना पद्धति एवं क्रियाकाण्ड की ओर झुक रहे थे, भट्टारक परम्परा ने उनकी बड़ी रक्षा

की ओर जैन साहित्य में भी वैसे ग्रन्थों की रचना कर उन्हें इस ओर आकर्षित किया। अतएव स्पष्ट है कि १५ वीं शताब्दी से लेकर १९ वीं शताब्दी तक विपुल परिमाण में पूजा ग्रंथ रचे गये। दि० जैन-संस्कृत-पूजा साहित्य के अबतक के उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या लगभग ५९० के है, जिनमें २०० ग्रंथ रचयिताओं के नाम सहित मिलते हैं। ऐसे भी कई ग्रन्थ हैं जिनमें एक ही ग्रन्थ के रचयिता कई आचार्य हैं।

दि० जैन संस्कृत-पूजा-साहित्य की सूची

१ अकलंक संहिता (प्रतिष्ठा पाठ) अकलंकदेव भट्टारक (पौरवाड़ जातीय सं० १२५६)

२ अङ्कुरारोपण विधान—इन्द्रनन्दि (नन्दिसंघीय वि० सं० ९९०)

३ अनन्तनाथ पूजा—ब्र० शान्तिदास।

४ अनन्तव्रत पूजा—ब्र० जिनदास (वि० सं० १५१०), श्रीभूषण भट्टारक, ब्र० शान्तिदास।

५ अनन्तव्रतपूजा व उद्यापन—गुणचन्द्राचार्य (वि० सं० १६००), श्रीभूषण भट्टारक, ब्र० शान्तिदास।

६ अनन्तव्रतोद्यापन—रत्नचन्द्र भट्टारक (वि० सं० १६००), धर्मचन्द्र भट्टारक गुणचन्द्र भट्टारक (वि० सं० १६००), ब्र० जिनदास (वि० सं० १५१०)

७ अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ पूजा—नेमिदत्त यति (नेमिनाथ पुराण के रचयिता वि० सं० १५७५)

८ अभिषेक पूजन—केशवनन्दन।

९ अर्हत्प्रतिष्ठासार—कौमारसेन (वि० सं० ७७०)

१० अर्हंकारासर पूजा—

११ अष्टाह्निकासर्वतोभद्र पूजा—कनककीर्त्ति भट्टारक।

१२ अष्टाह्निका सिद्धचक्र व्रतोद्यापन—महाचन्द्र सूरि (वि० सं० ९७४)

१३ अष्टाह्निकोद्यापन—कनककीर्त्ति भट्टारक, धर्मकीर्त्ति भट्टारक, (धनञ्जय कृत द्विसन्धान काव्य की टीका के रचयिता), श्रुतसागर (यशस्तिलक की टीका के रचयिता), सकलकीर्त्ति (द्वितीय)

१४ आदित्यवार व्रत पूजा—भ० देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्ट के भट्टारक वि० सं० १६६२, ग्रन्थलिपि सं० १८५२ श्लो० २४०)

१५ आदित्यव्रतोद्यापन—भ० देवेन्द्रकीर्त्ति (श्लो० १५०)

१६ आराधनासार—देवसेन (काष्ठासंघी)

१७ इन्द्रध्वजपूजा—भ० विश्वभूषण (वि० सं० १८१०), शुभचन्द्र (त्रिविधविद्याधरषट्भाषा-कवि चक्रवर्ती वि० सं० १६८० सागवाड़ा पट्टाधीश)

१८ **ऋषिमण्डल पूजा**—गुणनन्दि भट्टारक, वीर पंडित।

१९ **ऋषिमण्डल स्तवन व पूजन**—ब्र० जिनदास, भ० विश्वभूषण।

२० **कर्मचूरोद्यापन**—लक्ष्मीसेन।

२१ **कर्मदहन पूजा**—शुभचन्द्र, जिनचन्द्र मुनि (अग्रवाल जातीय वि० सं० १५०७) सोमकीर्त्ति (सप्तव्यसन चरित्र के रचयिता), सोमदत्त।

२२ **कर्मदहनाराधना विधान**—कल्याणकीर्त्ति।

२३ **कलशारोहण पूजा**—मोहन पंडित।

२४ **कलिकुण्डपूजा**—श्रुतसागर, पद्मनन्दि भ० (वि० सं० १३६२), देवराज (ग्रन्थ की श्लो० सं० २००)

२५ **कल्याणमन्दिरोद्यापन**—सुरेन्द्रभूषण (वि० सं० १८८२), देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्ट के भट्टारक)

२६ काञ्जिद्वादश्युद्यापन—खुशाल पंडित।

२७ केवलचान्द्रायणोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२८ क्षमावणीपूजा—ब्रह्मसेन।

२९ क्षीरोदानी पूजाष्टक—अमयचन्द्र।

३० क्षेत्रपालपूजा—देवेन्द्रकीर्त्ति भ०, विश्वसेन भ०

३१ गणधरवलयपूजा—हस्तिमल्ल पंडित, शुभचन्द्र (त्रिविधविद्याधरषट्भाषाकविचक्रवर्ती, सागवाड़ा पट्टाधीश, वि० सं० १६८०), धर्मकीर्त्ति भट्टारक, पद्मनन्दि भट्टारक (वि० १३६२), प्रभाचन्द्र भ० (वि० सं० १५८०)

३२ गणधरवलय यंत्रपूजा—राजकीर्त्ति सूरि।

३३ गन्धकुटी पूजा—शुभचन्द्र भ०, पं० आशाधर।

३४ गुरुपूजा—जसकीर्त्ति।

३५ गोम्मटसार पूजा—श्रुतसागर (यशस्तिलक के टीकाकार), रायमल्ल।

३६ चतुर्दशी विधान—विद्यानन्दि मुनि (जयसिंह राजा के मंत्री ताराचन्द्र के व्रतोद्यापन के लिये रचना की है—ग्रन्थ प्रमाण १५ पत्र)

३७ चतुर्दश्युद्यापन—सुरेन्द्रभूषण।

३८ चतुर्मुख पूजा—ऋषिकेश।

३९ चतुर्विंशतिपूजा—श्रीभूषण, शुभचन्द्र, रामचन्द्र मुमुक्षु।

४० चतुर्विंशत्युद्यापन—जिनदास।

४१ चतुस्त्रिंशदुत्तर द्वादशशतोद्यापन—जिनदास।

४२ चतुस्त्रिंशदधिक द्वादशशतोद्यापन—शुभचन्द्र ।
४३ चन्दनषष्ठीपूजा—लक्ष्मीसेन, वज्रकीर्त्ति ।
४४ चन्दनषष्ट्युद्यापन—देवसेन भ०, सोमकीर्त्ति ।
४५ चन्द्रप्रभदेव पाठ—देवसेन
४६ चन्द्रप्रभदेव पूजा—अज्ञात
४७ चमत्काराख्य आदिनाथ पूजा—
४८ चारित्रशुद्धि पूजा—श्रीभूषण मुनि ।
४९ चारित्रशुद्धि तपोद्यापन—शुभचन्द्र ।
५० चिन्तामणि पूजा—शुभचन्द्र ।
५१ चिन्तामणि पार्श्वनाथ पूजा—सोमसेन ।
५२ चिन्तामणि यंत्र पूजा—शुभचन्द्र ।
५३ चौबीसी पूजा—माघनन्दी व्रती ।
५४ जम्बूद्वीपस्थ अकृत्रिम जिनपूजा—लक्ष्मीसागर शिष्य पं० जिनदास ।
५५ जम्बूद्वीप पूजा—ब्र० जिनदास ।
५६ जिनगुण सम्पत्तिव्रत पूजा—श्रुतसागर ।
५७ जिनगुण सम्पत्त्युद्यापन—विशालकीर्त्ति पुत्र विश्वभूषण भट्टारक, सुमतिसागर ।
५८ जिनयज्ञकल्प—आशाधर, मावशर्मा, शुभचन्द्र ।
५९ जिनसहस्रनाम पूजा—धर्मभूषण ।
६० जिनेन्द्रदेवशास्त्रगुरु पूजा—विश्वसेन ।
६१ जैनपूजा पद्धति—गुणचन्द्र भट्टारक ।
६२ जैन महाभिषेक पूजा—पूज्यपाद ।
६३ जैनेन्द्रयज्ञविधि—श्रुतसागर ।
६४ ज्ञानपञ्चविंशत्युद्यापन—भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति ।
६५ ज्येष्ठजिनवर पूजा—ब्र० कृष्णराज (वि० सं० ६७२, ग्रन्थ का लिपिकाल सं० १६४०)
६६ ज्येष्ठजिनवर व्रतोद्यापन—श्रीभूषण कवि ।
६७ ज्वालामालिन्युद्यापन—लक्ष्मीसेन ।
६८ तीसचौबीसी पूजा—धर्मचन्द्र भ०, शुभचन्द्र, मावशर्मा ।
६९ तेरह द्वीप पूजा—शुभचन्द्र ।
७० त्रिकाल चतुर्विंशतिकोद्यापन—गुणनन्दि भ० ।
७१ त्रिकाल चौबीसी पूजा—भ० विद्याभूषण ।

७२ त्रिकुण्डी होमशान्तिक पूजा—रविषेण भट्टारक।
७३ त्रिचतुर्विंशति विधान—विद्याभूषण भ०।
७४ त्रिपञ्चाशत्क्रियोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति।
७५ त्रिलोकसार पूजा—ललितकीर्त्ति, वामदेव, सुमतिसागर।
७६ त्रिलोकसार महापूजा—सहस्रकीर्त्ति।
७७ त्रेपनक्रियाव्रत पूजा—देवेन्द्रकीर्त्ति अग्रवाल (वि० सं० १६५०—ग्रन्थ प्रमाण २०० श्लो०)
७८ त्रेपनक्रिया व्रतोद्यापन—विक्रम देवेन्द्र अग्रवाल।
७९ दशलक्षण पूजा—धर्मचन्द्र, सुमतिसागर।
८० दशलक्षण पूजा विधान—सोमसेन।
८१ दशलक्षण व्रतोद्यापन—सुमतिसागर, रत्नकीर्त्ति, धर्मचन्द्र, विश्वभूषण।
८२ दुधारस व्रतोद्यापन—श्रीधर्ममुनि।
८३ देवपूजा—पं० शिवचन्द्र (ग्रन्थ प्रमाण ८८—पत्र लि० सं० १९४७)
८४ देशव्रतोद्यापन—पद्मनन्दी।
८५ द्वादशव्रतपूजा—भोजदेव।
८६ द्वादशव्रतोद्यापन—शान्तिदास ब्र०, श्रीभूषण कवि।
८७ धर्मचक्रपूजा—साधु रणमल्ल यशोनन्दि (द्वितीय वि० सं० ३६८), वीर पंडित।
८८ धर्मबृहद्पूजा—हंस कवि।
८९ नन्दीश्वर पंक्तिपूजा—कनककीर्त्ति।
९० नन्दीश्वर लघुपूजा—देवेन्द्रकीर्त्ति।
९१ नन्दीश्वर विधान—देवेन्द्रकीर्ति।
९२ नन्दीश्वर व्रतोद्यापन विधि—ज्ञानसागर, श्रुतसागर।
९३ नवकार पैंतीस पूजा—भ० सुमतिसागर, अक्षयराम।
९४ नवकार पैंतीस व्रतपूजा—कनककीर्त्ति।
९५ नवग्रह पूजा—इन्द्रनन्दि भट्टारक, बुधवीर।
९६ नित्यमहोद्योत अभिषेक पाठ—पं० आशाधर।
९७ निर्वाणपूजा—उदयकीर्त्ति।
९८ पञ्चपरमेष्ठी पाठ—आशानन्दी।
९९ पञ्चपरमेष्ठी पूजा—यशोनन्दी (वि० सं० ३६८), शुभचन्द्र, जिनदास, ज्ञानभूषण।
१०० पञ्चकल्याणक पूजा—सुधीसागर, सुमतिसागर, श्रीचन्द्र (वि० सं० १२१४), ज्ञानसागर, चन्द्रकीर्त्ति (लिपिकाल सं० १८८७), सुरेन्द्रभूषण, मेघराज।

१०१ पञ्चक्षेत्रपाल पूजा—गंगादास।

१०२ पञ्चमास चतुर्दशीव्रतोद्यापन—भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति।

१०३ पञ्चमीव्रतोद्यापन—उदयपुत्र हर्षनामा सुधीर (ग्रन्थ प्रमाण ७५ श्लो०)

१०४ पञ्चमेरु पूजा—सुखानन्द।

१०५ पञ्चमेरुपूजाष्टक—विश्वभूषण भ०।

१०६ पद्मावती पूजा—सिंहनन्दी।

१०७ पल्यविधान पूजा—रत्ननन्दि भ० (भद्रबाहु चरित्र के रचयिता), शुभचन्द्र।

१०८ पल्यव्रतोद्यापन – देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्ट के भट्टारक), शुभचन्द्र।

१०९ पुष्पाञ्जलि पूजा—रत्नचन्द्र भ० (वि० सं० १६००), देवेन्द्रकीर्त्ति।

११० पुष्पाञ्जल्युद्यापन—गंगादास, छत्रसेन।

१११ पूजाकल्प—अभयनन्दि, जिनसेन, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि, रविषेण, द्वितीय पूज्यपाद, चन्द्रकीर्त्ति भ०।

११२ पूजाविधि—लघु समन्तभद्र।

११३ पूजासार—जिनसेन।

११४ प्रतिमासान्तचतुर्दशी व्रतोद्यापन—अक्षयराज।

११५ प्रतिमासंस्कारारोपण पूजा—इन्द्रनन्दि।

११६ प्रतिष्ठाकल्प—प्रभाकरसेन, आशाधर।

११७ प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण (जिनसंहिता)—माघनन्दी सुत कुमुदचन्द्र (ग्रन्थ प्रमाण —पत्र संख्या ३६)

११८ प्रतिष्ठातिलक—नरेन्द्रसेन, ब्रह्मसूरि, देवसेन काष्ठासंघी, नेमिचन्द्र कवि।

११९ प्रतिष्ठापाठ—प्रभाचन्द्र, पूर्णदेव, इन्द्रनन्दि, जयसेन।

१२० प्रतिष्ठासार—वसुनन्दी।

१२१ प्रतिष्ठासारसंग्रह—फतेहलाल।

१२२ बीस विरहमानपूजा—ब्रह्मदास, अमरचन्द्र (ग्रन्थप्रमाण ३१ पत्र)

१२३ बुद्धाष्टम्युद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति भ०।

१२४ बृहद् कलिकुण्ड पूजा—भ० विद्याभूषण।

१२५ बृहद् ध्वजारोपणपूजा—केसरीसिंह पण्डित।

१२६ बृहद् सिद्धचक्र पूजा—ब्र० जिनदास।

१२७ बृहद् सिद्धचक्र यंत्रोद्धारक पूजा—प्रभाचन्द्र।

१२८ बृहद् सिद्धचक्रविधान—वीरु कवि अग्रवाल।

१२९ भक्तामरस्तवन पूजा—श्रीभूषण शिष्य भ० ज्ञानसागर।

१३० भक्तामरोद्यापन—सुरेन्द्रभूषण भ०।

१३१ महाभिषेक विधि व पूजन—पं० नरेन्द्रसेन।

१३२ मांगीतुंगी गिरिपूजा—विश्वभूषण भ०।

१३३ मातृकायंत्र पूजा—इन्द्रनन्दि।

१३४ मुक्तावलीव्रतपूजा—ब्र० जीवन्धर।

१३५ मुक्तावल्युद्यापन—रत्नकीर्त्ति भ०, खुशाल पंडित।

१३६ मेघमालोद्यापन—ब्र० जिनदास।

१३७ यति भावनाष्टक—पद्मनन्दी।

१३८ योगीन्द्रपूजा—पं० साधारण।

१३९ रत्नत्रयपूजा—नरेन्द्रसेन।

१४० रत्नत्रय बृहत्पूजा—धर्मचन्द्र भ०।

१४१ रत्नत्रयार्चन विधि—मल्लिषेण।

१४२ रविव्रतोद्यापन—भ० महीचन्द्र, ब्र० जयसागर।

१४३ रोहिणीव्रतोद्यापन—भ० प्रभाचन्द्र।

१४४ लब्धिविधान—सकलकीर्त्ति द्वितीय।

१४५ लब्धिविधानोद्यापन—विद्याधर।

१४६ विघ्नहर पार्श्वनाथ पूजा—भ० महीचन्द्र।

१४७ विद्यानुवादाङ्ग (जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय)—अप्पयार्य (वि० सं० १२४१ माघ शुक्लादशमी रविवार को एकशैल नामक ग्राम में इसकी रचना हुई है)

१४८ विमानशुद्धिपूजा—चन्द्रकीर्त्ति

१४९ विमानशुद्धि शांतिक पूजा—शुभचन्द्र।

१५० विवाहपटलपूजा—ब्रह्मदेव।

१५१ विंशति तीर्थंकरपूजा—नरेन्द्रकीर्त्ति।

१५२ विषपहार पूजाविधान—देवेन्द्रकीर्त्ति।

१५३ व्रतोद्यापन श्रावकविधि—अभयमुनि।

१५४ शान्तिचक्रपूजा—पद्मनन्दि, इन्द्रनन्दि।

१५५ शान्तिपूजाविधान—धर्मदेव काष्ठासंघी।

१५६ शास्त्रपूजा—मलयकीर्त्ति।

१५७ शीतलगंगाष्टक—यशोनन्दि।

१५८ शुक्रपञ्चम्युद्यापन — सोमसेन।
१५९ श्रुतस्कन्धपूजा—भ० त्रिभुवनकीर्त्ति, पं० आशाधर।
१६० श्रुतस्कन्धोद्यापन—नक्षत्रदेव।
१६१ श्रुतज्ञानोद्यापन—वामदेव।
१६२ श्रेयस्करणोद्यापन —भ० सुरेन्द्रभूषण।
१६३ श्रेयोविधान—अभयनन्दि।
१६४ षट्चतुर्थजिनार्चन — शिवाभिराम (ग्रन्थ प्रमाण—पृ० ९५, लिपिकाल सं० १९३८)
१६५ षणणवतिक्षेत्रपालपूजा — भ० विश्वभूषण।
१६६ षोडशकारण विस्तार पूजा — भ० ज्ञानभूषण शिष्य जयभूषण।
१६७ षोडशकारणव्रतोद्यापन—केशवाचार्य, सुमतिसागर।
१६८ सप्तपरमस्थानपूजा—विद्यानन्दि मुनि।
१६९ समयसारपूजा — शुभचन्द्र।
१७० समवशरण पूजा — रत्नकीर्त्ति।
१७१ सम्मेदशिखर पूजा—गंगादास।
१७२ सरस्वती पूजा —मल्लिभूषण शिष्य श्रुतसागर, ब्र० नेमिदत्त।
१७३ सर्वतोभद्रपूजा — शुभचन्द्र।
१७४ सर्वदोषप्रायश्चित्त पूजा—महेन्द्रकीर्त्ति।
१७५ सहस्रगुणपूजा—धर्मकीर्त्ति।
१७६ सहस्रगुणीपूजा —धर्मचन्द्र।
१७७ सहस्रनामपूजा — स्वङ्गसेन।
१७८ सारस्वतयंत्रपूजा—शुभचन्द्र, श्रुतसागर।
१७९ सार्द्धद्वयद्वीपपूजा —शुभचन्द्र, सुरेन्द्रभूषण, जिनदास।
१८० सिद्धचक्रपूजा—प्रभाचन्द्र, अजितकीर्त्ति, देवेन्द्रकीर्त्ति, पं० आशाधर (इसकी स्वोपज्ञ टीका भी है)
१८१ सिद्धचक्र की वृहद् पूजा—भानुकीर्त्ति, शुभचन्द्र।
१८२ सिद्धचक्रसहस्रगुणितपूजा—शुभचन्द्र।
१८३ सिद्धचक्रयंत्रोद्धारस्तवन पूजा—भ० विद्याभूषण।
१८४ सिद्धपूजा—पद्मनन्दि, सोमदत्त।
१८५ सुखसम्पत्तिव्रतोद्यापन—भ० सुरेन्द्रभूषण।
१८६ सुगन्धदशम्युद्यापन—पद्मनन्दि, गंगादास।

१८७ सूतोद्यापन—विजयसेन ।

१८८ स्थाण्डिलयहोमपूजा सोमसेन भ० ।

१८९ स्नपनविधि व पूजा—भ० अभयनन्दि ।

१९० स्वयंभूसहस्रनाम पूजा—धर्मचन्द्र भ० ।

१९१ हेमकारी जिनपूजा—विश्वभूषण भ० ।

१९२ होमविधि व वास्तुपूजन—इन्द्रनन्दि ।

उपर्युक्त पूजा ग्रंथों के अतिरिक्त ऐसे भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनके कर्त्ताओं का पता नहीं है। श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा के शास्त्रागार में उक्त ग्रन्थों की संख्या लगभग ८०-९० के है तथा A Descriptive catlogue of the sanskrit manuscripts in the Government oriental manuscripts library Madras में लगभग ४०-५० अज्ञातकर्त्ता के ग्रन्थों का उल्लेख है। जानकारी के लिये उक्त ग्रन्थों में से कुछ पूजाग्रन्थों की प्रशस्तियाँ दी जाती हैं—

१ वज्रपञ्जराराधनाविधान—इस ग्रन्थ में ७ इञ्च लम्बे और ६ इञ्च चौड़े ६ पत्र हैं। इसमें सर्व प्रथम चन्द्रप्रभ प्रतिबिम्ब का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पंचगुरुपूजा और चत्तारि अर्घ्य का विधान बतलाया गया है। इसके अनन्तर चन्द्रप्रभ भगवान् की पूजा, उनकी स्तुति, श्यामयक्ष, ज्वालामालिनी यक्षी की पूजा, पञ्चपरमेष्ठी की पूजा तथा अन्य अधिष्ठात्री देवियों की पूजा दी गई है।

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्राकं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्मारकीर्त्तिकान्ताशान्तम् ॥
ॐ ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवागच्छ—
तीर्थोपनीतघनसारशीलैः पातप्रपाद्यैः घुसृणाद्युपेतैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥
ओं ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवाय जलं निर्वपामीति स्वाहा—
सुगन्धसारैर्घनगन्धसारैः सिताभ्रभारैः सितधामगौरैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ।गन्धम्।।

अन्तिम भाग—

यस्यार्थं क्रियते पूजा सुप्रीतो नित्यमस्तु ते ।

ॐ ह्रीं रं रं रं रं ज्वालामालिनी ह्रां आं क्रों,क्षों ह्रां क्रों क्लूं द्रां द्रीं झ्लवरयूं ह्रां ह्रीं हं ह्रौं हः ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल धग धग धूं धूं धूम्रान्धकारिणी शीघ्रं यन्त्राधिपतये देवदत्तस्य सर्वग्रहोच्चाटनं कुरु कुरु हूं फट् नमः स्वाहा। मन्त्रपुष्पम्—

२. कलिकुण्डाराधना विधान इसमें ६½ इञ्च लम्बे और ६ इञ्च चौड़े १३ पत्र हैं। इसके प्रारम्भ में कलिकुण्डयंत्र पार्श्वनाथ की प्रतिमा का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पञ्चगुरु पूजा एवं चत्तारि अर्घ्यों का कथन है। उसके पश्चात् पार्श्वनाथ पूजा, इनकी मंत्रस्तुति धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती की पूजा तथा इनके मंत्रस्तोत्र दिये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में यन्त्रस्थ पिण्डाक्षरों का अर्घ्य, अष्टमात्रिका की पूजा, मन्त्रपुष्प एवं जयमाला आदि हैं।

प्रारम्भिक भाग—

सत्पुष्पधाम्ना प्रविराजितेन पुष्पेण पूर्णेन सुपल्लवेन ।
सन्मङ्गलार्थं कलिकुण्डदेवमुपांशुभूमौ समलङ्करोमि ॥

(कलशस्थापनम्)

शुद्धेन शुद्धह्रदकूपवापी गङ्गातटाकादिसमाहृतेन ।
शीतेन तोयेन सुगन्धिनाहं भक्त्याभिषिञ्चे कलिकुण्डयन्त्रम् ॥

(तीर्थोदकाभिषेकः)

नीरैः सुगन्धैः कमलाक्षतौघैः पुष्पैर्हविर्भिर्वरधूपधूमैः ।
भास्वत्फलार्घ्यैः कलिकुण्डयन्त्रं सम्पूजयाम्यष्टतया सुभक्त्या ॥

अन्तिम भाग—

कलिलदहनदक्षं योगियोगोपलक्ष्यम् ।
ह्यविकुलकलिकुण्डो दण्डपार्श्वप्रचण्डम् ।
शिवसुखमभवद्वा दासवल्लीवसन्तम् ।
प्रतिदिनमहमीडे वर्धमानस्य सिद्ध्यै ॥

३. मृत्युञ्जयाराधना विधान—इसमें ६½ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े ७ पत्र हैं। इसके आरम्भ में चन्द्रनाथ, श्रुत, गणधर, एवं मृत्युञ्जय यंत्र का अभिषेक एवं भूमिशुद्धि, चत्तारि अर्घ्य, चन्द्रप्रभुस्वामी की पूजा निर्दिष्ट की गई है। इसके अनन्तर यक्ष, यक्षिणी की पूजा, मृत्युञ्जय मंत्र पूजा, एवं अष्टमातृकापूजा आदि हैं।

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रनाथश्रुतगणधरमृत्युञ्जययन्त्रमित्येतेषामभिषेकं कृत्वा भूमिशुद्धिचत्तार्यर्घ्यानन्तरं चन्द्रप्रभपूजा—

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमर्चे कुन्देन्दुस्फारकीर्तिकान्ताशान्तम् ॥
नानामणिप्रचयभासुरकण्ठपीठभृङ्गारनालकजिताभलदिव्यतोयैः ।

संसारतापविनिवारणहेतुभूतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं यजेऽहम् ॥

(अर्घं० नि०)

नाकाङ्गनाकरसरोरुहमध्यवर्तिकर्पूरकुंकुमविमिश्रितदिव्यगन्धैः ।

मुक्तोपमानवरगन्धरमासमेतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं भजेऽहम् ॥

(गन्धं नि०)

अन्तिम भाग —

अत्यन्तभक्त्यानतदेवचन्द्रसूर्याभिवन्द्याग्रजिनेन्द्रभक्ता

ब्रह्माणिकाद्या उररीकृतार्घ्या सर्वापमृत्युं विनिवारयन्त्वः ॥

ॐ ह्रीं अष्टमातृकाभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा ।

आणिमादिगुणैश्वर्यशालिन्येत्यष्टमातरः ।

याजकानां सुशान्त्यथ सुप्रसन्ना भवन्तुताः । इष्टप्रार्थनाय पुष्पाञ्जलिः ।

४. **जिनपुरन्दरोद्यापन**[1] — इसमें १५ इंच लम्बे और ४½ इंच चौड़े ९ पत्र हैं। इसके प्रारम्भ में आदिनाथ भगवान को नमस्कार किया गया है तथा पुरन्दरव्रत का लक्षण बतलाया है, इसके अनन्तर पुरन्दरव्रत की पूजा के लिये जिनेन्द्र भगवान की स्थापना एवं पूजा है अन्त में भगवान के अतिशयों के अष्टक हैं।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमदादिजिनं नौमि पञ्चकल्याणनायकं ।

इन्द्रादिभिर्देवगणैः पूजितमष्टधाऽर्चनैः ॥

श्रीवीरजिननाथेन कथितं व्रतमुत्तमम् ।

वक्ष्येऽहं विघ्नशान्त्यर्थं जिनपूजापुरन्दरम् ॥

अन्तिम भाग—

धर्मवृद्धिजयमंगलमानराजऋद्धिप्रददाति समागमम् ।

पापतापदुःखरोगविनाशं कुर्वते जिनपुरन्दरवासः ॥इत्याशीर्वादः॥

५. **अक्षयनिधिव्रतोद्यापन**—इसमें १० इञ्च लम्बे और ७ इंच चौड़े ५ पत्र हैं। यह एक गुटमें हैं, जिसमें २५-२६ उद्यापन हैं। इसके प्रारम्भ में व्रतविधि बताई गई है, अनन्तर अर्हन्त पूजा है तथा अन्त में २४ भगवानोंके अष्टक हैं।

प्रारम्भिक भाग —

श्रीसर्वज्ञपादाम्भोजम्, इन्द्रनागेन्द्रपूजितम् ।

वाञ्छितार्थफलं नूनं, अक्षयाक्षविधानकम् ॥

---

१ लेख लिखे जाने के बाद पता चला है कि इस जिनपूजापुरन्दर के कर्त्ता सोमसेन हैं।

लेखक—

आगमव्रतमायुष्मान्, यथावत्संगिराम्यहम् ।
धर्मार्थरागिनो जाते, सुखस्वर्गापिवर्गकम् ।।

अन्तिम भाग—

अभिप्रणीताभिरतीवसद्धाविशुद्धकर्पूररजोयुताभिः ।
यजाम्यहं सर्वसुखाथ हेतोः जिनेन्द्रबिम्बं भवनाशनाय ।।
ॐ ह्रीं श्री चतुर्विंशतिजिनेभ्यो नमः, अक्षयपदनिधानेभ्यो नमः जलं ।
सचन्दनैर्लोहितचन्दनाद्यैः, सिताभ्रकालागुरुजातमिश्रैः ।
यजाम्यहं सर्वसुखार्थहेतोः जिनेन्द्रबिम्बं भवनाशनाय ।।गन्धं।।

'भवन' के इस गुटके में ऐसे कई उद्यापन हैं जिनके अष्टक संस्कृत भाषा में हैं और जयमाला अपभ्रंश या हिन्दी में है। उपर्युक्त अक्षयविधानोद्यापन की अन्तिम जयमाला भी हिन्दी में लिखी हुई है जो पीछे जोड़ी हुई मालूम पड़ती है तथा प्रकरण से असम्बद्ध भी जँचती है।

६. **वास्तुविधान** – इसमें ६ इञ्च लम्बे और ५ इंच चौड़े ९ पत्र हैं। इसके प्रारम्भ में अंकुरविधान, नान्दीविधान, आदि का निर्देश करते हुए सकलीकरण आदि क्रियाओं का संक्षिप्त कथन है। इसके अनन्तर ब्रह्म, इन्द्र, वरुण, पवन आदि दश वास्तु देवताओं की पृथक्-पृथक् पूजा है।

प्रारम्भिक भाग—

अथार्हदीशप्रतिमाप्रतिष्ठाविधाननिर्विघ्नसमाप्तिसिध्यै ।
ततोऽङ्कुरार्चादिवसाद्धं पूर्वे दिने क्षपायां विदधीत नान्दीम् ।।
तत्रापि पर्वं विदधीत वास्तु दिवौकसां भेकपदेस्थितानाम् ।
ततः परे वो विधिवत्सपर्यां क्रमेण सामान्यविशेषकल्पाम् ।।
स्नात्वा समाचम्य समेत्यधाम कृत्वा तदेर्यापथशोधनञ्च ।
स्तुत्वा च सिद्धान् सकलीविधानं कृत्वैकतानो रहसि प्रदेशे ।।
कृत्वा समासाज्जिनराजपूजां श्रुतं समाराध्य तथा मुनीन्द्रान् ।
गुरोरनुज्ञां शिरसा गृहीत्वा दत्वानियोगं परिचारकाणाम् ।।
प्रत्यग्रधौतोत्तमशुभ्रवासकृतान्तरीयं च तथोत्तरीयम् ।
हैमोपवीताङ्गदहारमुद्रिकाकिरीटकर्णाभरणादिभूषितः ।।

अन्तिम भाग—

सम्पूजिता इत्यमरेन्द्रमुख्याः महामहिम्ना प्रतिमासमानाः ।
दशप्रकारोदितभावनेन्द्राः कुर्वन्तु शान्तिं जिनभाक्तिकानाम् ।।

मुख्याविमौचन्द्रदिवाकरौ च शेषग्रहा अश्वयुगादितारा: ।
प्रकीर्णका ज्योतिरमर्त्यवर्गाः कुर्वन्तु शान्ति जिनभाक्तिकानाम् ॥
जिनेन्द्रचन्द्रस्य महामहेऽस्मिन् संपूजिताः कल्पनिकायवासाः ।
सौधर्ममुख्यास्त्रिदशाधिनाथाः कुर्वन्तु शान्तिं जिनभाक्तिकानाम् ॥

इष्ट प्रार्थनाय पुष्पाञ्जलि ॥

संस्थाप्य मध्येष्टदिशासुबाह्य [जलप्रपूर्णं सहिरण्यं भागम् ।
सुवस्त्रमाल्याध्वजदर्पणाद्यं कुम्भं यजे वास्तुसमृद्धिसिध्यै ॥

इति वास्तुपूजाविधानं समाप्तम् ।

७. जैनपूजाविधान—इसमें १३ इंच लम्बे और २ इञ्च चौड़े ६० ताड़पत्र हैं तथा प्रतिपत्र में ५ पंक्तियाँ हैं । लिपि कन्नड़ और भाषा संस्कृत है । इसमें पूजाविधि का वर्णन विस्तार सहित किया है । तथा पञ्च परमेष्ठो के पृथक पृथक अष्टक निर्दिष्ट हैं ।

प्रारम्भिक भाग—

संकल्प्याभिषवं विशोध्य सुसमास्थाप्यात्र दर्भान् पुटान्
पीठं बिम्बमिहार्हतं जिनसुपास्याष्टासनादिक्रमैः ।
दिक्पालान् परिपूज्य सज्जलमुखैनान्यैं कषायोदकैः
संस्नाप्यावतार्य कोणकलशैर्गन्धोदकैः स्नापयेत् ॥

विधियज्ञप्रतिज्ञापनाय पुष्पाञ्जलिः··· ·· ।

जिनानामपि सिद्धानां महर्षीणां समर्चनात् ।
पाठात् स्वस्त्ययनस्यापि पुनः पूर्वं प्रसादयेत् ॥

पुनः प्रशस्तिविधानसुदनाथमर्चनपीठाग्रतः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ।

अन्तिम भाग—

सिद्धपरमेष्ठिने नमः स्वाहेत्यादि । अथ कर्णिकायानर्चादिशि आचार्य परमेष्ठी पूजा ।

कुमतोतिमिरसूर्यान् सारगाम्भीर्यधैर्यान्
परहितनिजकार्यान् पञ्चभेदोद्धचर्यान् ।
विनयवत [वि] विधीयान् पूज्याम्याद्दनार्यान्
मुनिजनपरिवार्यान श्रीमदाचार्यवर्यान् ॥

८. जैन-मंत्र-यंत्र-पूजा—इसमें १४ पत्र और प्रति पत्र ८ पंक्तियाँ हैं । प्रारम्भ में कलशाभिषेक, यन्त्रस्नपन का निर्देश किया गया है पश्चात् यन्त्रपूजा का वर्णन है ।

प्रारम्भिक भाग—

निष्ठाप्यैवं जिनानां सवनविधिमनुप्राच्यभूमागमन्यं
पूर्वोक्तैर्यन्त्रमन्त्रैरिह भुवि विधिनाराधनापीठयन्त्रम् ।

कृत्वा सच्चन्दनाद्यैर्वसुदलकमलं कर्णिकायां जिनेन्द्रान्
प्राच्यां संस्थाप्य सिद्धानितरदितिगुरून्मन्त्ररूपान् विधाय ॥
जैनं धर्मागमार्चानिलयमपि विदिग्यत्र मध्ये लिखित्वा
बाह्ये कृत्वाथ चूर्णैः प्रविशदशत्रकैः पञ्चकून्मण्डलानाम् ।
तत्रस्थाप्यास्तिथीशा ग्रहसुरपतयो यक्षयक्षीः क्रमेण
द्वारेशा लोकपाला विधिवदिह महं यन्त्रतो व्याह्वियन्ते ॥

अन्तिम भाग—

स्फुरिततरतनुश्रीः ह्री लसद्भूत्युपेता
द्युतिमतिविजयाः सत्कीर्तिलक्ष्मीश्च पश्चात ।
विधृतविविधभूषाविद्रुमस्तोनदेहाः
जिनपतिसवनेऽस्मिन व्याह्वये दिक्पुरन्ध्रीः ॥
ओं ह्रीं क्रों वराहे श्री ह्रीधृतिद्युतिमतिकीर्त्तिबुद्धिलक्ष्म्य आगच्छत ।
यस्यार्थं क्रियते पूजा तस्य शान्तिर्भवेत्सदा ।

६. **जैनहोमोत्सवपूजा**—इसमें ३८ पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ ५ पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ मे शान्तिनाथ भगवान् को पुष्पाञ्जलि दी गई है, अनन्तर वाद्य उद्घोषण पूर्वक पञ्चपरमेष्ठी पूजा, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक चारित्र की पूजा की गई है।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीशान्तिनाथममरासुरमर्त्यनाथ-
भास्वत्किरीटमणिदीधितिधौतपादम् ।
त्रैलोक्यशान्तिकरणप्रवणं प्रणम्य
होमोत्सवाय कुसुमाञ्जलिमुत्क्षिपामि ॥
ओं ह्रीं श्रीं भू स्वाहा । होमप्रस्तावनपुष्पाञ्जलिः ।

अन्तिम भाग—

औदासीन्यसुशक्तिसंयतमतिक्रोधाधिभावोल्लस-
ज्जीवव्रातविकारदोषदहनं कर्मक्षयोत्पादकम् ॥
देवेन्द्रादिनमस्क्रियासमुचितं संसारदुःखापहं-
साम्यक्मोक्षसुखप्रदं प्रविमलं चारित्रमर्चामहे ॥
अर्हत्सिद्धाः सूरयः पाठकेन्द्राः
सर्वेऽप्येते साधवः साधुवन्द्याः ।
सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रयुक्ताः
श्रेयःकुर्वन्त्वर्चिताःसज्जनानाम् ।। पूर्णार्घ्यम् ॥

१०. जैनाराधनविधि—इसमें १३½ इंच लम्बे और १½ इंच चौड़े ६२ ताड़पत्र हैं, प्रतिपत्र ५ पंक्तियां हैं। पूजाविधि के साथ जिनेन्द्र पूजा के अष्टक हैं, अन्त में जयमाला है।

रागादिदोषरहितं सुरराजवन्द्यं-
नत्वाजिनेशमखिलामलयोगिसेव्यम्।
पुष्पाञ्जलिं जिनमुखे वयमुत्क्षिपामः
श्रीमूलसङ्घवरभव्यजनप्रशान्त्यै॥

ओं परब्रह्मणे नमो नमः। स्वस्ति, जीव, नन्द, वर्धस्व, विजयस्व, अनुशाधि, पुनीहि पुण्याहं, माङ्गल्यं, पुष्पाञ्जलिं स्वाहा।

अन्तिम भाग—

ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हमिदं पुष्पाञ्जलिं प्रार्चनमिदं गृहीष्व। नमोऽर्हद्भ्यः स्वाहा।

शक्रचक्रधराहीन्द्रराजिताङ्घ्रियुगाम्बुजः।
पायादपायात्सर्वौघं श्रीपतिः श्रीजिनः सदा॥

११. तीर्थंकरपूजा—इसमें २० ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र में ७ पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक चौबीस तीर्थंकरों की पूजा का वर्णन है।

आरम्भिक भाग—

आदिनाथोऽस्तु वः स्वस्ति स्वस्ति स्यादजितेश्वरः।
संभवो भविता स्वस्ति भूयात स्वस्त्यभिनन्दनः॥
स्वस्तिमन्तं स्वयं शाश्वत् सन्तु स्वस्त्ययनं जिनाः।
एतत्सप्तकं पठित्वा पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि स्वाहा॥

अन्तिम भाग—

द्वासप्ततिं तीर्थकृतां त्रिकाले त्रिषष्टिसंख्या पुरुषोत्तमानम्।
त्रिलोकसाम्राज्यरमाधिपानां पुष्पोत्तराद्यैर्महयामि देवान्॥

ओं ह्रीं त्रिकालत्रिलोकभव्यजनमहितद्वासप्ततितीर्थंकरपरमदेवेभ्यः महार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा।

१२. तीर्थङ्करयजनक्रम—इसमें १० पत्र हैं और प्रति पत्र ७ पंक्तियाँ हैं, २४ तीर्थङ्करों के पूजाविधान का वर्णन है।

प्रारम्भिक भाग—

येऽमी सम्प्रति कालभव्यजनता दृष्टामरेन्द्रै मुदा-
कल्याणे वृषभादयो जिनवराः संपूजितास्तानिह।
त्रैलोक्याधिपतीन् यजाम्यतिशयैपेतांश्चातुर्विंशतिम्-
शान्त्यर्थं जगतां चराचरगुरुंस्तीर्थङ्करान् साम्प्रतम्॥

ओं ह्रीं वृषभाजितवर्तमानकालचतुर्विंशतितीर्थङ्करपरमदेवान् सलिलमलयजशतक-कुसुमसांनाय्यप्रदीपधूपफलस्तवकशान्तिधाराद्यष्टकमङ्गलद्रव्यैराराधयामि स्वाहा। ठकार-वलयाभ्यन्तरे च सोमयमवरुणधनदजिनवेदिद्वारपालनियुक्ताः स्वस्वामिहेत्वनुयोगं कुर्वेस्मिन्।

अन्तिम भाग —

यष्टुं कुक्कटसर्पगात्रिफणकोत्तंसा द्विषां यात्तषट्-
पाशादी सदसत्कृते च धृतशङ्खास्यादिदोस्त्र्यष्टगा।
तां शान्ता व (म) रुणां स्फुरच्छृणिसरोजन्माक्षमालाम्बरां-
पद्मस्थां नवहस्तकप्रभुनुतां यायज्मि पद्मावतीम्।।

भगवन् दुर्मार्गविनाशनपरसन्मार्गपरिपालकयक्षेश्वर स्वाहा।

१३. **शान्तिहोमोत्सवविधि**—इसमें ७९ पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ में ५ पंक्तियाँ हैं। सांसारिक अरिष्टों की शान्ति के लिये भगवान् शान्तिनाथ की पूजा की गई है। नवग्रह सम्बन्धी अरिष्टों को दूर करने के लिये सभी ग्रहों के पृथक् पृथक मंत्र और पूजन भी दिये गये हैं। सांसारिक कष्टों से ऊबने वाले आराधक के लिये यह पूजन शान्तिदायक है, इससे भावुक भक्तों को सन्तोष और शान्ति मिलेगी।

प्रारम्भिक भाग —

श्रीमत्पञ्चमसार्वभौमपदवीं प्रद्युम्नरूपश्रियम्
प्राप्तं षोडशतीर्थकृत्वमखिलत्रैलोक्यपूजास्पदम्।
शान्तं शान्तिजिनेश्वरं त्रिजगतामशान्ति न्त शान्तिप्रदम्
नत्वा शान्तिविधिस्तयाद्य विदधे श्रीशान्तिहोमोत्सवम्।।

ओं ह्रीं श्रीं क्लीं भूः स्वाहा। विधियज्ञप्रतिज्ञानाय पुष्पाञ्जलिः।

× × × ×

ओं ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राय स्वाहा--पीठार्चनम्।

संस्थापयाम्युपरि तस्य जिनेश्वरार्चाम्।
छत्रत्रयं जिनपतेरुपमध्यभागे।
छत्रत्रयं (मङ्गलं) तदनु तस्य तु मध्यभागे
वादित्रजालज (ब) धिरे सति सर्वलोके।।

अन्तिम भाग—

ओं ह्रीं हुं फट् केतुमहाग्रह अमुकस्य शिवं कुरु कुरु स्वाहा।

इत्थं सारसपर्ययाद्य महिता यूयं प्रसन्नास्तु नः
साङ्गास्ता त्रिकला विमोहमुखतोयुष्मत्प्रसादादियम्।

सर्वज्ञाध्वरविघ्नमाघ्नत द्रुतं सूर्यादिखर्वग्रहान्
पूर्वाह्नान् विधिपूर्त्तिपूर्णफलदां पूर्णाहुतिं वोऽर्पये ॥
ओं ह्रीं आदित्यादिनवग्रहदेवा यष्टृप्रभृतीनां शान्तिं कुरु स्वाहा—
पूर्णार्घ्यम् ॥

१४. **ज्वरशान्तियन्त्रपूजा**—इसमें ७ ताड़पत्र हैं और प्रति पत्र ५ पंक्तियाँ हैं। ज्वर को दूर करने के लिये शान्तिदायक यंत्र का विधान बताया गया है। प्रारम्भ में यंत्र को लिखने की विधि का वर्णन किया गया है, अनन्तर यन्त्र की पुजा है। भगवान् पार्श्व-नाथ की पूजा, आरती और मन्त्रजाप का वर्णन है। Catalogue के सम्पादक ने इसके विषय का वर्णन करते हुए लिखा है कि "Deals with the drawing and sanctification of a Yantra (mysticdiagram) which is considered to have the power of curing one of severe fever and freeings one from danger of any kind.

अर्थात् इस यन्त्रपूजा के द्वारा सभी प्रकार के ज्वर दूर हो जाते हैं और आराधक को परम शान्ति मिलती है—

प्रारम्भिक भाग--

हंसावृताभिधानं मलवरषष्ठस्वरान्वितं कूडम् ।
बिन्दुयुतं स्वरपरिवृतमष्टदलाम्भोजमध्यगतम् ॥
ततोऽहं सोमसुधा हंस स्वाहेति दिग्दलस्य विलिखेत् ।
× × × ×
श्रीपार्श्वनाथस्सहितं करोति दाहज्वरे लोपितमन्त्रखण्डं ।
तदालिख्यापायत्कांस्यभाजने महादाहज्वरगस्तं तत्क्षणेनोपशाम्यम् ॥

अन्तिम भाग

बहिरर्चयेत् समन्तात् गन्धाक्षतकुसुमचरुकाद्यैः ।
क्रूरारिमारिशाकि[नी]न्युरगनवग्रहापिशाचचोरभयम् ॥
अपहरति तत्क्षणादिह तत्सलिलद्रवसमासिक्तः ॥

१५. **जैनेन्द्रयज्ञविधि**—इसमें १८ ताड़पत्र हैं और प्रतिपत्र ७ पंक्तियाँ हैं। जिनेन्द्र भगवान् की पूजाविधि का सविस्तार वर्णन हैं।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवन्द्य जगत्त्रयेशं
स्याद्वादनायकमनन्तचतुष्टयार्हम् ।
श्रीमूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतुः
जैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाभ्यधायि ॥

ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उ सा। ओं नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पवित्रतरजलेन मम हस्तशुद्धिं करोमि स्वाहा।

ओं ह्रां जलेन मम सर्वाङ्गशुद्धिं करोमि स्वाहा। ओं ह्रां जलेन मम पूजापात्रशुद्धिं करोमि स्वाहा। ओं ह्रां जलेन मम पूजाद्रव्यशुद्धिं करोमि स्वाहा।

अन्तिम भाग—

पानीयैर्जिनराजमज्जनकुलैर्गन्धैर्जिनेन्द्रार्चितैः
स्रग्भिः श्रीजिनपूजिताभिरर्हत्पादाब्जिकैरक्षतैः।
हव्यैः श्रीजिनपादपीठमहितैर्दीपैस्तमश्छेदिभिः॥
धूपैर्गुग्गुलसंभवैर्बहुफलैः क्षेत्राधिपो मान्यते॥
प्राप्ताभ्यङ्गविधिर्जटामुकुटवान् नीलाञ्जनाभः सदा
हैमं पात्रमसिं गदां च डमरुं बिभ्रच्चतुर्भिः करैः।
नग्नो नागविभूषणस्त्रिणयनः श्रीजैनपूजार्चितः
सिन्दूराङ्कितमौलिरिष्टफलदः क्षेमं क्रियात् क्षेत्रपः॥
आशीर्वादः।

इस प्रकार अज्ञात कर्त्तावाले पूजाग्रन्थ २००-२५० के लगभग हैं। इन ग्रन्थों में से अधिकांश की प्रशस्तियाँ जैन-सिद्धान्त-भवन आरा एवं मद्रास लाइब्रेरी के सूचीपत्र में वर्तमान हैं। अन्वेषण करने पर खासा पूजा साहित्य तैयार किया जा सकता है। जैनाचार्यों ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा विभिन्न भाषाओं में सहस्रों ग्रन्थों की रचना की है। साहित्योद्धारकों को पूजा साहित्य की ओर भी ध्यान देना चाहिये।

वेदविचार

[ले०—श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, बनारस]

वर्तमान में वेद यह आम चर्चा का विषय बना हुआ है। इधर उत्तर कालवर्ती ग्रंथों में वेद के दो भेद किये जाने लगे हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रायः छठी शताब्दी से लेकर जिन ग्रन्थों की रचना हुई उनमें ये भेद देखने को मिल जाते हैं। इसके पूर्व के मूल सिद्धान्त व कार्मिक ग्रन्थों में ये भेद नहीं पाये जाते हैं।

यह तो अब ऐतिहासिकों ने भी मान लिया है कि स्वयं भगवान् महावीर अचेलक रहे हैं। अतः उनकी परम्परा अचेलकों की परम्परा है। किन्तु ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इस परम्परा में भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती श्रमणों ने भी कभी वस्त्र स्वीकार नहीं किया रहा।

१—भगवान् महावीर के मुक्ति गमन काल से लेकर ५३० वर्ष के भीतर 'पउमचरिउ' की रचना हो ली थी। अर्थात् श्वेताम्बर परम्परा के वर्तमान आगम साहित्य का संकलन जिस समय हुआ था उसके बहुत काल पूर्व ही यह ग्रन्थ लिखा जा चुका था। यह चरित्र ग्रन्थ है। मुख्यतः इसमें जैन रामायण निबद्ध है पर संक्षेपतः अन्य महापुरुषों का चरित्र भी इसमें दिया गया है।

इसके स्वाध्याय से पता चलता है कि प्राचीनतम काल से ही जैन परम्परा में साधु वस्त्र नहीं स्वीकार करते रहे। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की दीक्षा का वर्णन करते हुए इसमें बतलाया है कि उन्होंने दीक्षा लेते समय भूषण, कटिसूत्र, कटक और वस्त्रों का त्याग करके जिनदीक्षा ली रही। यथा—

'तो मुयइ भूसणाइं कडिसुत्तयकडयवत्थाइं।' ग० १३५, उ० ३।

इसमें अन्यत्र जहाँ भी अन्यान्य तीर्थंकरों व श्रमणों की जिनदीक्षा का उल्लेख किया है वह भी इसी प्रकार से किया है।

२—मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में कुषाणकालीन व गुप्तकालीन जितनी भी जैन मूर्त्तियां पाई गई हैं; उनमें से किसी पर भी वस्त्र का चिन्ह अंकित नहीं है किन्तु सब नग्न हैं। वहाँ के क्यूरेटर से हमने बातचीत की रही। उनका कहना है कि दसवीं शताब्दि के पूर्व की जैन मूर्त्तियों में वस्त्र का चिन्ह नहीं पाया गया है। हां दसवीं शताब्दि के बादकी ऐसी मूर्त्तियाँ अवश्य मिलती हैं जिनमें वस्त्र का चिन्ह अंकित किया जाने लगा था।

३—मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में एक मूर्ति मिली है जो आदिनाथ की मूर्त्ति कही जाती है। भूगर्भशास्त्रियों का अनुमान है कि यह मूर्ति पाँच हजार वर्ष पूर्व की होनी चाहिये। यह नग्न है।

इन या ऐसे ही अन्य प्रमाणों से स्पष्ट है कि श्रमणों की परम्परा सदा से अचेलकों की ही परम्परा रही है। तथापि भगवान् महावीर के मुक्ति गमन के बाद जब से जैन साधुओं में वस्त्र प्रविष्ट हो गया तब से धार्मिक ग्रन्थों में भी इसके अनुकूल प्रतिकूल लिखा जाने लगा। और मूल वाक्यों के अर्थ में भी परिवर्तन किया जाने लगा। अधिकतर यह कार्य पांचवीं शताब्दि से हुआ प्रतीत होता है। श्वेताम्बर आगम साहित्य के संकलन का भी यही काल है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रदायों के खड़े हो जाने पर उनको पुष्ट करने में वेद विषयक चर्चा ने बड़ी भारी सहायता की है। मेरा ख्याल है कि जब जैन साधुओं में वस्त्र आ गया तो वस्त्र का परिधान करना आगम विहित है यह बतलाना भी आवश्यक हो गया। पर आगम से इसकी पुष्टि कैसे की जाय यह उस समय एक प्रश्न था जिसका समाधान किये बिना सचेलकों की परम्परा का पनपना कठिन था। इसके लिये उन्होंने कार्मिक ग्रन्थों में आये हुए 'मनुष्यनी' शब्द का अर्थ स्त्रीवेदवाला मनुष्य न करके महिला अर्थ करना चालू किया और इस प्रकार स्त्रीमुक्ति की सिद्धि द्वारा सवस्त्रमुक्ति की सिद्धि तथा सवस्त्र दीक्षा का विधान किया जाने लगा। कार्मिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थों में वेद के भेदों में द्रव्य-वेद और भाववेद इनका श्रीगणेश यहीं से चालू होता है। यही सबब है कि मूल ग्रन्थों में वेद के ये दो भेद नहीं मिलते। वहाँ तो वेद नोकषाय के उदय से जो जीव की अवस्था होती है उसे ही वेद बतलाया है और मनुष्य तथा मनुष्यनी इस विभाग का कारण भी वही रहा आया है। किन्तु रंग को प्रमुख स्थान मिलने से जैसे लेश्याओं में द्रव्य लेश्या ने स्थान पाया है। या जीव में सुख के बाह्य साधन सम्पत्ति को प्रमुखता मिलने से जैसे साता और असाता वेदनीय का अर्थ पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के समान किया जाने लगा है। या जन्म से जातीय व वर्णव्यवस्था को प्रमुखता मिलने से जैसे उच्च गोत्र और नीच गोत्र का अर्थ इन सब व्यवस्थाओं के अनुसार किया जाने लगा है वैसे ही जबसे वस्त्रधारी साधुओं की परंपरा चालू हुई है तब से वेदप्रकरण में द्रव्यवेद भी आ बैठा है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि प्रकृत में हमें दिगम्बर मूल ग्रन्थों के आधार से यह सिद्ध करना है कि मूल ग्रंथों में कहीं भी द्रव्यवेद विवक्षित नहीं रहा है।

खुद्दाबंध षट्खण्डागम का एक खण्ड है। उसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि वेद-मार्गणाओं के अनुवाद से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कैसे होता है? इसका समाधान करते हुए वहीं बतलाया है कि ये तीनों वेद चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। यथा—

'वेदाणुवादेण इत्थिवेदो पुरिसवेदो णवुंसयवेदो णाम कथं भवदि।३५। चारित्त-मोहणीयस्स कम्मस्स उदएण ॥३६॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल ग्रंथों में वेद मार्गणा में एक वेद का ही उल्लेख है जो कि स्पष्टतः भाववेद है। किन्तु जब उत्तरकालीन टीकाओं में द्रव्यवेद का उल्लेख किया जाने लगा तब उत्तरवर्ती लेखक वेद के दो भेद करने लगे। उदाहरणार्थ जीवकाण्ड में वेद मार्गणा के ही प्रकरण में वेद के दो भेद करके उनके पृथक् पृथक् लक्षण भी दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि मूल ग्रन्थों में द्रव्यवेद विवक्षित नहीं रहा है। इस पर शंकाकारों की ओर से निम्न शंकाएं की जाती हैं—

१—वेद मार्गणा में भाववेद की अपेक्षा सारी व्यवस्था मानने में तो आपत्ति नहीं है किन्तु गति मार्गणा में जो मनुष्य और मनुष्यनी यह विभाग किया गया है वह भाववेद की अपेक्षा से इसलिये नहीं बनता है कि वेदका उदय नौवें गुणस्थान तक होता है और मनुष्य मनुष्यनी व्यवहार चौदह गुणस्थान तक पाया जाता है। इसलिये मनुष्य मनुष्यनी व्यवहार का अन्य कारण होना चाहिये ? शंकाकार के मत से वह कारण द्रव्यवेद ही है।

२—जन्म से लेकर मरण तक वेद में परिवर्तन नहीं होता है ऐसा आगम ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है। किन्तु यह बात तभी बन सकती है जब द्रव्यवेद और भाववेद का गठबन्धन मान लिया जाय। इससे ज्ञात होता है कि जहाँ जो भाववेद रहता है वहाँ द्रव्यवेद भी वही रहता है। द्रव्यवेद और भाववेद में वैषम्य नहीं बन सकता ?

३—वेद के तीन भेद हैं। यदि गति मार्गणा में इनकी अपेक्षा से भेद किया गया होता तो मनुष्य व मनुष्यनी ऐसे दो भेद न करके तीन भेद करना चाहिये था। अतः गति मार्गणा में दो ही भेद किये हैं इससे ज्ञात होता है कि गति मार्गणा में ये भेद शरीर रचना की अपेक्षा से किये गये हैं ?

ये तीन प्रश्न हैं जो मुख्यतः शंकाकारों की ओर से किये जाते हैं। अब क्रमशः इनका समाधान किया जाता है—

१—यह तो पहले ही बतला आये हैं कि षट्खण्डागम में वेदमार्गणा में भाववेद का ही उल्लेख किया गया है, द्रव्यवेद का नहीं। अतः गतिमार्गणा में मनुष्य मनुष्यनी यह विभाग भी भाववेद की अपेक्षा से ही मानना चाहिये। यह ठीक है कि वेदका उदय नौवें गुणस्थान तक होता है और मनुष्य मनुष्यनी व्यवहार चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। किन्तु इससे पूर्वोक्त व्यवस्था के मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है, क्योंकि गति-मार्गणा में संज्ञा की प्रधानता हो जाती है। उदाहरणार्थ प्रोफेसरी का पेशा करनेवाले व्यक्ति को प्रोफेसर तब से कहा जाता है जब से वह उस पेशा को आरम्भ करता है, किन्तु इसके बाद यदि उस पेशा को वह छोड़ भी देता है तो भी वह जीवन पर्यन्त प्रोफेसर कहलाता रहता है। वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिये। माना कि नौवें गुणस्थान में वेदका समूलो-च्छेद हो जाता है तथापि वेदके उदय से एक बार जो संज्ञा प्राप्त हो गई वह जीवन भर

बनी रहती है। यही सबब है कि वेद का उदय नौवें गुणस्थान तक रहते हुए भी मनुष्य व मनुष्यनी यह संज्ञा चौदहवें गुणस्थान तक नहीं बदलती है।

क्षुद्राबन्ध में गतियों के पाँच और आठ भेद गिनाए हैं। पाँच में तो मनुष्य, नारकी देव, सिद्ध और तिर्यंच ऐसे भेद किये हैं किन्तु आठ भेदों में मनुष्यनी, मनुष्य, नारकी, पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनी, देव, देवी, सिद्ध और तिर्यंच ये भेद किये हैं। ये भेद अल्प-बहुत्व प्रकरण में आये हैं। यथा—

'अप्पाबहुगाणुगमेण गदियाणुवादेण पंच गदीओ समासेण ।१। अट्ठगदीओ समासेण ।७।

आगे इनका अल्पबहुत्व बतलाते हुए मनुष्यनियों की संख्या से मनुष्यों की संख्या को असंख्यातगुणा बतलाया है। यथा—

'सव्वत्थोवा मणुस्सिणीओ ।८। मणुस्सा असंखेज्जगुणा ।९।

यह तो स्पष्ट है कि यहाँ मनुष्यों से ऐसे मनुष्य नहीं लिये गये हैं जिनमें मनुष्यनियों का समावेश सम्भव हो, क्योंकि मनुष्यनी और मनुष्य इन दो को स्वतंत्र गति मानकर यह संख्या बतलाई गई है। पर्याप्त मनुष्यों से मनुष्यनियाँ तिगुनी होती हैं यह तो सर्वविदित है। किन्तु यहाँ मनुष्यनियों से मनुष्य असंख्यात गुणे बतलाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों में पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी इन दो वेदवालों का समावेश किया है और मनुष्य-नियों में स्त्रीवेदवालों का। यदि ऐसा न माना जाय तो उक्त विभागानुसार संख्या नहीं बन सकती है। खुलासा इस प्रकार है—

यह तो निश्चित है कि गर्भज मनुष्य और मनुष्यनी संख्यात ही होते हैं। इनमें लब्ध्यपर्याप्तकों की संख्या के मिला देने पर ही मनुष्यों की संख्या असंख्यात होती है। जीवकाण्ड की टीका में ऐसा बतलाया है कि ये लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य स्त्रियों की योनि, कुच और कुक्षि में तथा मूत्र और पुरीष आदि में उत्पन्न होते हैं। यथा—

'ते संमूर्छिममनुष्यास्तु स्त्रीयोनितत्कक्षास्तनमूलान्तरालेषु चक्रवर्तिनः पट्टमहिषीं विना मूत्रपुरीषाद्यशुचिस्थानेषु चोत्पद्यन्ते।' जीवकाण्ड टीका गाथा ९३।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि ये सम्मूर्च्छन मनुष्य अधिकतर द्रव्य स्त्रियों के शरीर में पाये जाते हैं, इसलिये इनकी गणना शंकाकार के मतानुसार मनुष्यनियों की संख्या में ही करनी चाहिये थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि द्रव्यपुरुष और द्रव्यस्त्री इन दोनों के शरीरों में इनका पाया जाना सम्भव है, इसलिये इनकी गणना केवल मनुष्यनियों की संख्या में ही नहीं की जा सकती है। सो इस पर यह कहना है कि केवल मनुष्यनियों की संख्या में इनकी गणना भले ही न की जाय। किन्तु केवल मनुष्यों की संख्या में भी तो ये नहीं गिनाये जाने चाहिये थे। दोनों हालतों में संख्या का उक्त क्रम नहीं बनता। अतः ज्ञात होता है कि मनुष्यनी शब्द से सिद्धान्त ग्रन्थों में द्रव्यस्त्री का ग्रहण न करके

स्त्रीवेद के उदयवाले मनुष्यों का ग्रहण किया है और मनुष्य शब्द से द्रव्यपुरुषों का ग्रहण किया है।

इस प्रकार षट्खण्डागम से ही यह ज्ञात होता है कि कार्मिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थों में वेद प्रकरण में भाववेद ही लिया गया है और मनुष्य व मनुष्यनी यह विभाग भी उसी की अपेक्षा से किया गया है। यह तो पहली शंका का उत्तर हुआ दूसरी शंका का उत्तर इस प्रकार है—

२—यह ठीक है कि भाववेद जन्म से लेकर मरण तक एक ही होता है पर इसके लिए वही द्रव्यवेद मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि द्रव्यवेद के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं किया जा सकता है। लोक में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे लिंग परिवर्तन का पता लगता है। ऐसा ही एक लेख जैन सन्देश भाग ६ संख्या १० में 'क्या पुरुष भी बच्चे जनेंगे' शीर्षक से छपा है। इसमें बतलाया है कि पशु पक्षियों में लिंग परिवतन एक साधारण सी बात है। घोंघा को तो अनेक बार नर से मादा और मादा से नर होते हुए बतलाया गया है। यही बात मुर्गों में भी होती हुई कही गई है। इसी प्रकार मनुष्यों में भी लिंग परिवर्तन के उदाहरण बतलाते है। कुछ ऐसे भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पुरुषों के भी स्त्री चिन्ह पाये जाते हैं। स्तन होना और उनसे दूध झरना यह पुरुष चिन्ह नहीं। तथापि उसमें कई पुरुषों के इस चिन्ह का उल्लेख किया है।

जब हम इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करते हैं तो पता लगता है कि शास्त्रकारों ने एक पर्याय में एक ही वेद रहता है यह नियम भाववेद की अपेक्षा से ही किया है। इसका द्रव्यवेद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अतः यह प्रश्न ठीक नहीं कि एक पर्याय में एक ही वेद मानने से वह तभी बन सकता है जब उस पर्याय में वही द्रव्य वेद मान लिया जाय! मालूम होता है कि इस विषय में कार्मिकों का यह मत रहा है कि जीवन में द्रव्यवेद भलेही बदल जाय पर भाववेद नहीं बदलता।

३—पहले प्रश्न का समाधान करते समय खुद्दाबन्ध के उल्लेख द्वारा यह सिद्ध कर आये हैं कि मनुष्यों से पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी दोनों का समावेश होता है। तथा मनुष्यनियों में केवल स्त्रीवेदियों का ही समावेश होता है इससे स्पष्ट है कि गति मार्गणामें ये दो भेद भी शरीर रचना की अपेक्षा से नहीं किये गये हैं। यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि नपुंसक वेदियों का समावेश मनुष्यों में ही क्यों किया गया है सो इसका यह समाधान है कि नपुंसकवेदी और पुरुषवेदी मनुष्य व्याकरण के नियमानुसार मनुष्य ही कहलायंगे। यही सबब है कि नपुंसकवेदियों का समावेश केवल मनुष्यों में ही किया है मनुष्यनियों में नहीं। इस प्रकार उक्त विवेचन से तीसरे प्रश्न का भी सयुक्तिक समाधान हो जाता है।

इस सब कथन का सार निम्न प्रकार है—

(१) षट्खण्डागम में वेद से एक भाववेद ही लिया है द्रव्यवेद नहीं ऐसा खुद्दाबन्ध से सिद्ध है।

(२) कार्मिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थों में द्रव्यवेद का उल्लेख सम्प्रदाय भेद के बाद किया जाने लगा।

(३) कार्मिक ग्रन्थों में मनुष्य और मनुष्यनी यह विभाग शरीर रचना की अपेक्षा से नहीं किया जाकर वेद की प्रमुखता से ही किया गया है, यह बात भी खुद्दाबन्ध से ज्ञात होती है।

(४) एक पर्याय में एक ही वेद रहता है यह बात भाववेद की प्रमुखता से ही बनती है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समाज में एक ऐसी पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता है जिसमें इस विषय का क्रमवार विस्तृत विचार किया गया हो। इसके बिना मूल इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ सकता है। इस विषय को लेकर जैसा वर्तमान काल में भ्रम फैला हुआ है वास्तव में देखा जाय तो इस भ्रम की परम्परा बहुत पुरानी है। फिर भी तत्काल हम विचारकों से अनुरोध करते हैं कि इस विषय के चिन्तन की जो प्रक्रिया हमने प्रस्तुत की है वह कर्म व्यवस्था के अनुकूल तो है ही, साथ ही सप्रमाण भी है अतः वे एतद्विषयक अध्ययन के समय इन बातों को अवश्य ध्यान में रखें।

मुलतान के श्रावकों का आध्यात्म प्रेम

[ले० श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा]

पंजाब प्रान्त में मुलतान नामक प्राचीन शहर है वहाँ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के श्रावक रहते हैं व दोनों सम्प्रदायों के पृथक् पृथक् मंदिर हैं। जैन समाज का नगर से कितना प्राचीन सम्बन्ध है इसकी जानकारी के लिये अभी तक निश्चित प्रमाण प्रकाश में नहीं आये। स्थानीय विद्वानों से इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य प्रकाशित करने का अनुरोध है। इस नगर की प्राचीनता, जैनों का सम्बन्ध, यहाँ के जैनमंदिरों के लेख, यहाँ पर रचित एवं लिखित साहित्य, यहाँ के जैन ज्ञान भंडारों की हस्त लिखित प्रतियों की सूची, यहाँ के विशिष्ट जैन व्यक्ति आदि विषयों पर स्थानीय जैन भाई ही प्रकाश डाल सकते हैं।

श्वेताम्बर साहित्य से ज्ञात होता है कि १७ वीं शताब्दी से जैन मुनि समय समय पर यहाँ पधारते रहे हैं व उन्होंने कई ग्रन्थ भी यहाँ के श्रावकों के लिये बनाये हैं[1] जिनका कुछ परिचय मैंने अपने "सिन्ध प्रांत और खरतर गच्छ" शीर्षक निबंध में दिया है जो यथासंभव वर्णी-अभिनंदन-ग्रन्थ में प्रकाशित होगा। १८ वीं शताब्दी में श्वे० मुनियों के रचित साहित्य से यहाँ उस समय आध्यात्म ज्ञान का अच्छा प्रचार था, प्रमाणित होता है। उसी के सम्बन्ध में इस लेख में संक्षेप से प्रकाश डाला जा रहा है।

यहाँ के श्रावकों का आध्यात्म की ओर इतना अधिक प्रेम कब से एवं कैसे हुआ यह अन्वेषणीय है। मेरे नम्र मतानुसार १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दि० समाज में कविवर बनारसीदास जी ने जो आध्यात्मिक लहर लहराई थी, संभव है मुलतान तक वह पहुँच कर वहाँ के श्रावकों को प्रभावित करने में समर्थ हुई। आध्यात्मिक विषय का साहित्य श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा दिगम्बर समाज में अधिक[2] है अतः श्वेताम्बर मुनियों ने श्रावकों

---

१ जिनमें से कुछ ग्रंथों का परिचय इस लेख में भी दिया जा रहा है। सं० १६६८ में कविवर "समयसुंदर" जी ने मृगावती चौपई यहीं बनाई जिसमें मुलतान के मंदिरादि के सम्बन्ध में निम्नोक्त उल्लेख है—

शहर बड़ा मुलताण विशेषा, कान सुण्यां अब देख्या वे।
सुमतिनाथ श्री पाया जिणंदा, मूलनायक सुखकंदा वे॥ मृ० ८२,
खरतर संघ भला मुलतानी, नगर मुख्य दीवाणी वे।
सिंधु श्रावक सदा सोभागी, गुरु गच्छ केरा बहु रागी वे॥ मृ० ८३
आया श्रावक ते जेसलमेरा, मरम लहई धर्म केरा वे।
करमचंद रीहड जगीता, साह बणई सुविदीता वे॥ मृ० ८४

२ इसका कारण मेरे नम्र मतानुसार यह है कि दि० मुनि वन आदि निर्जन स्थानों में अधिक रहते थे। वहाँ ध्यानादि द्वारा आत्मानुभव होना ज्यादा अनुकूल हो सकता है। परिग्रह एवं सांसारिक प्रपंचों की कमी ही आध्यात्मिक साहित्य की अधिकता का कारण है।

के अनुरोध से आचारांग एवं अध्यात्मसार नामक वि० ग्रन्थों के अनुवाद रूप में (या आधार से) भी रचना की है। मुलतान में आकर वहाँ के आध्यात्मप्रेमी श्रावकों के संपर्क के कारण उन्हें भी इस रसानुभव से बड़ा संतोष हुआ और क्रमशः इस ओर आकर्षण बढ़ता गया जिसके उज्ज्वल उदाहरण श्रीमद् देवचंद्र जी महाराज हैं जिनकी रचनायें तात्त्विक विषयों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

कविवर बनारसीदास जी के आध्यात्म प्रेम ने जैन समाज में नव जीवन का संचार किया। सं० १६८० के लगभग तो इसका आगरे में विकाश हुआ पर थोड़े ही समय में उसका प्रचार बहुत व्यापक हो गया प्रतीत होता है। दि० समाज एवं आगरे की सीमा को उलंघन कर श्वेताम्बर समाज एवं दूरवर्ती स्थानों में इसका प्रभाव[1] नजर पड़ता है। मुलतान में संभवतः सं० १७०० के लगभग ही आध्यात्मिक लहर लहराने लगी और उसका सं० १८०० तक तो उत्तरोत्तर विकाश होता रहा ज्ञात होता है।

सिन्धप्रांत में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्य गच्छों की अपेक्षा खरतर गच्छ का अधिक प्रभाव रहा है। अतः मुलतान में रचित सभी ग्रन्थ इसी गच्छ के मुनियों के रचित ही पाये जाते हैं। यहाँ उनमें से ४ मुनियों के ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है जिनकी रचना आध्यात्मिक विषय पर यहाँ के श्रावकों के लिये हुई है।

१ **जिनसमुद्रसूरि**—आप खरतर गच्छ की बेगड़ शाखा के आचार्य थे। आपके रचित बड़े २ रास चौपइ एवं स्तवनादि फुटकर कृतियों की संख्या बहुत विशाल है पर उनका प्रचार जैसलमेर आदि की ओर ही अधिक रहने के कारण अभी तक जनसाहित्य जगत में उनका परिचय अधिक नहीं है। जैसलमेर की साहित्यिक यात्रा में हमें वहाँ आपके २५० के लगभग फुटकर स्तवनादि एवं १५।२० रास चौपइ आदि बड़ी कृतियों का नया पता चला है। बेगड़ पट्टावलि के अनुसार आप के रचित साहित्य का परिमाण १ लाख श्लोक से भी अधिक है। आप की परम्परा के विच्छेद हो जाने के कारण आप के कई ग्रन्थों का तो अब कहीं पता नहीं है। जैसलमेर भंडार में भी आप की कई रचनाओं की प्रतियाँ त्रुटित एवं अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हैं। सं० १७११ में मुलतान के गणधरगोत्रीय शालिभद्र के पुत्र नेमिदास के आग्रह से रचित आलम करणी संवाद प्राप्त है जिसकी प्रति जैसलमेर के यति डुंगरसी के भंडार में सुरक्षित है।

२ **सुमतिरंग**—आप खरतरगच्छ की कीर्तिरत्नसूरि शाखा के चंद्रकीर्ति के शिष्य थे। सं० १७२२ के आश्विन शुक्ल १० को मुलतान[2] के श्रावक चाहड़मल नवलखा वर्द्धमान

---

१ संभवतः इसीलिये उ० यशोविजय जी एवं मेघविजय जी को दि० समाज की मान्यताओं एवं बनारसीदास जी का खंडन करना आवश्यक हो गया था।

२ सं० १७२१ में आपने यहाँ हरकेशी चौपइ भी बनाई है।

आदि के आग्रह से श्वे० आध्यात्मिक (रूपक) ग्रंथ प्रबोधचिन्तामणि[1] का भाषा पद्यानुवाद ज्ञानकला चौपइ या मोहविवेक रास के नाम से किया। इसी प्रकार सं० १७२४ में वहां में उपरोक्त चाहड़मल राखेचा, ऋषभदास, नवलखा, वर्द्धमान आदि के आग्रह से श्रीमद् हेमचंद्राचार्य के "योगशास्त्र" का भाषा में पद्यानुवाद किया।

प्रबोधचिन्तामणि चौपाइ में कवि ने शांतरस की महिमा एवं वहाँ के श्रावकादि का परिचय इस प्रकार दिया है—

"अंतर शुद्धि अजाणतां, रचई शास्त्र विपरीत।
मंदिर पड तो मूकीने, गिरिवर करिवा प्रीति ॥२॥
नव रस सब जग कहतु है, अनिष्ट भ्रष्ट करी अंध।
शांति रस सब ते सरस, भाख्यो श्री भगवंत ॥३॥
और रस अलखामया, करी कुमति विकार।
शांति रस सेवे जिवो, तिणकुं सुख श्रीकार ॥४॥
× × ×
सुमतिनाथ पसादुलि ए, श्री मुलताण मझार।
संघ सकल मुलताण नो ए, समकत धर सिरदार।
पारसनाथ परसाद की ए, दिन दिन जय जय कार।
चाहड़मल भल चाहु सुं ए राखेचा धर्मरीत।
चाहक ग्राहक नवलखो, वर्धमान बड चीत।
× × ×
राखे चाहड रूप सदा तू छैल छबीलो।
करमचंद तम हरण वान, वरधमान वसीलो।
सहस किरण सारिखो, सुमति श्रीकरण सवाइ ॥
जो न त्रिभुवन माँहि जेठमल, सकल कहाई।
ताराचंद त्रिजग अगंद भव, ऋषभदास दुई कारि रहो।
पृथ्वीराज आज शिवराज प्रिय, लीलापति पदवी लहो ॥१॥
जिनवाणी तगतारक जाम, चाहड ऋषभदास वर्द्धमान।
समकदार श्रावक मुलताना, करइ सदा मिल अकथ कहानी ॥४॥
(योगशास्त्र चौपइ)

३ धर्ममंदिर[2]—आप खरतरगच्छीय वाचक दयाकुशल के शिष्य थे। मुलतान के श्रावकों के लिये आपने सं० १७४० में दयादीपिका चौपइ सं० १७४१ मि० सु० १०

१ यह ग्रंथ जयशेखर सूरि रचित बड़ाही सुन्दर रूपक ग्रन्थ है।
२ आप के रचित अन्य ग्रंथों के सम्बन्ध में जै० म० के० भा० २ देखना चाहिये।

को प्रबोधचिंतामणि मोहविवेक रास, एवं सं० १७४२ के कार्त्तिक शुक्ला ४ को परमात्म-प्रकाश (दि० योगिन्द्रदेव रचित) चौपइ ग्रन्थ बनाये। जिनमें यहाँ के श्रावकों का उल्लेख इस प्रकार है—

पारसनाथ पसाउले, श्रीमुलताण नगर मझारो रे।
श्रावक जिहां सुखीया वसै, आध्यातम ज्ञान विचारो रे॥
वर्द्धमान वारू सुखी, नवलखो भाग्योद जाणो रे।
भणसाली मीठू भला, धरम छोरी निज कुल भाणो रे॥
तास आदेश लही करी, जीव जतना तें अधिकारो रे।
चौपइ करी दयादीपिका, शिव ग्रन्थ नो लेइ विचारो रे॥

(दयादीपिका चौपइ)

× × ×

श्री मुलतान नगर में सोहे, पार्श्वनाथ मन मोहे जी।
तास पसाये चौपइ कीधी, मंगलमाला प्रसिद्धि जी॥
नवलखा वर्धमान विख्याता, नेमि धरम मति ज्ञाता जी।
भणसाली मिट्ठू धर्मधारी, सुरिजसुत सुखकारी जी॥
अध्यात्मशैली मनलाइ, सुखानंद सुखदाइ जी।
धर्म धुरंधर श्रावक संगे, वाधे ज्ञान सुरंगे जी॥

(मोहविवेक चौपइ)

× × ×

श्री मुलतान नगर भलो, जिहाँ श्रावक चतुर सुजाणो रे।
देव धरम गुरु रागिया, आदर बहु राग ने राणो रे॥
अध्यातमशैली वणी, नवलखा शाह वर्धमानो रे।
फणसाली भला लखिया, मिट्ठूमल बधतइ वानो रे।
साह कणोडी परगज, सुखानंद सत्य कही जै रे।
सुखीया दानी शुभमति, लखमी देई लाह लीजे रे।
नेमीदास धर्मदास जी, शांतिदास बंधव होइ रे।
मिट्ठू पुत्र सूरिज भणो, श्रावक शुभ भावुक जोइ रे।
ए श्रावक आदर करी, गांडाबी चौपइ सारी रे।
अध्यात्म पंडित सुधी, ते थाप्पे यहाँ अधिकारी रे॥

(परमात्म प्रकाश चौपइ)

४ श्रीमद् देवचंद्र जी—द्रव्यानुयोग के आप महान् पंडित थे। आप की रचनाओं में जैनतत्त्वज्ञान एवं आध्यात्मिक विषय भरे पड़े हैं। अपने समय के आप अद्वितीय विद्वान्

थे। आपका साहित्य भी बहुत विशाल है जिसको श्रीमद् बुद्धिसागरसूरिजीने श्रीमद् देवचंद्र भ० १-२ में प्रकाशित किया है उसके अतिरिक्त हमारी खोज से कतिपय नवीन रचनाओं का भी पता चला है। *आपका विशेष परिचय हमारे संपादित ऐतिहासिक* जैनकाव्य संग्रह में देखना चाहिये।

आप की सर्व प्रथम रचना ध्यानदीपिका चौपई है जिसका निर्माण सं० १७६६ के वै० शु० १३ को मुलतान के भणसाली मिट्ठूमल के आग्रह से ज्ञानार्णव ग्रन्थ के आधार से किया था। आप ने प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशस्ति में यहाँ के श्रावकों को "आध्यात्म श्रद्धानाधारी" मिट्ठूमल को "आतम सूरज ध्याता" बतलाया है यथा।

खरतर आचारिज गच्छधारी, जिणचन्द्र सूरि जयकारी जी।
तेसु आदेश लही सुखकारी, श्रीमुलतान मंझारी जी। ध्या० । १
अध्यातम श्रद्धानाधारी, जिहां वसे नरनारी जी।
पर मिथ्या मत ना परिहारी, स्वपर विवेचन कारी रे॥
निज गुण चरचा तिहां थी करता, मन अनुभव में वरता जी।
स्याद्वाद् निज गुण अनुसरता, नित अधिको सुख धरता जी ॥१०॥
भणसाली मिट्ठूमल ज्ञाता, आतम सूरज ध्याता जी।
तसु आग्रह करी चउपई जोड़ी, सुणतां सुखडी कोड़ी जी ॥ ध्या० ११ ॥

आध्यात्म ज्ञान के विशेष प्रेम के कारण ही ऐसे श्रावकों का संबोधन अन्य लोग आध्यात्ममती के नाम से करने लगे थे। यशोविजय जी एवं कविवर धर्मवर्द्धन ने आध्यात्ममत एवं आध्यात्ममती शब्दों का प्रयोग किया है।

विजयनगर राज्य का जैन धर्म के प्रति सद्भाव

[ले०—श्रीयुत बा० त्रिवेणी प्रसाद, बी. ए.]

जैनधर्म बहुत प्राचीन है। संभव है कि वैदिक धर्म के साथ-साथ या उसके पहले इसका उदय हुआ हो। जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन श्रीमद्भागवत में आया है और उन्हें महात्मा कहा गया है। जैन शास्त्रों से पता चलता है कि जैनों के अनेक आचार्य पहले वैदिक धर्म के माननेवाले थे पर जैन धर्म से प्रभावित होकर जैन हो गये थे। हमारा तो ख्याल है कि बहुत प्राचीन काल में वैदिक धर्म और जैन धर्म में इतना अधिक अन्तर नहीं था कि दोनों मतावलम्बियों में साम्प्रदायिक द्वेष पैदा हो, जैसा कि पीछे चलकर बौद्धधर्म के साथ हुआ। वास्तव में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म वैदिक धर्म के निकट है। इसका एक विशेष प्रमाण यह है कि इस साम्प्रदायिक विद्वेष के जमाने में भी दोनों सम्प्रदायों के माननेवालों में वैवाहिक संबंध होता है। हमारे कहने का तात्पर्य्य यह है कि वैदिक और जैन दोनों मतावलम्बी बहुत प्राचीन काल से साथ-साथ रहे है, दोनों का व्यवहार, कतिपय उदाहरणों को छोड़कर, सौहार्द्रपूर्ण रहा है, और दोनों ने अपने को एक ही राष्ट्र का अंग समझा है। महाराज हर्षवर्द्धन की धार्मिक सहिष्णुता तो प्रसिद्ध ही है। अनेक इतिहास-कारों का तो विश्वास है कि हर्षवर्द्धन की वैदिक धर्म के प्रति विशेष रुचि न थी! पर वास्तविक बात यह है कि हर्ष ने कभी साम्प्रदायिक पक्षपात नहीं किया। इसी प्रकार महा-राज समुद्रगुप्त ने, वैदिक धर्म का उद्धारक कहलाकर भी, साम्प्रदायिक मनोवृत्ति नहीं अपनाई। मध्यकालीन भारत के हिन्दू राज्यों में विजयनगर का राज्य सब से प्रसिद्ध है। यह राज्य वैदिक धर्म का पोषक था। इसी राज्य के प्रसिद्ध मंत्री, सायणाचार्य ने वेदों पर भाष्य किया। यह एक आश्चर्य की बात है कि जबकि इसी समय के आस-पास के संसार के दूसरे राष्ट्र धर्म के नाम पर रक्तपात कर रहे थे, इस विजयनगर के प्रतापी राजे विभिन्न मतावलम्बियों के साथ सर्वथा पक्षपात रहित व्यवहार कर रहे थे। प्रस्तुत निबन्ध में इसी, अन्तिम विषय पर थोड़ा प्रकाश डाला जायगा।

विजयनगर साम्राज्य का जन्मकाल सन् १३४६ ईस्वी है। हम जानते हैं, यह समय भारतवर्ष के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण है। उत्तर भारत में मुसलमानों का राज्य कायम हो चुका था; वे अब दक्षिण-विजय के अपने प्रयत्नों को सफल करने में सचेष्ट थे। ऐसे समय में देश में एकता की बड़ी आवश्यकता थी। विजयनगर साम्राज्य के शासक स्वभावतः उदार थे, और राजनीतिक आवश्यकता वश नहीं, बल्कि स्वाभाविक सहि-ष्णुतावश उन्होंने अन्य सम्प्रदायों का भी उतनाही आदर किया, जितना कि वैदिक धर्म का। यह समय जैनधर्म की अवनति का था, किन्तु वैदिक सम्प्रदाय के प्रभावशाली राजाओं ने कभी उसकी ओर असहानुभुति का परिचय नहीं दिया। इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण मौजूद हैं। कईएक यहाँ पर दिये जाते हैं—

जब मुसलमानों का दक्षिणावर्त की ओर बढ़ना रुक गया और विजयनगर का साम्राज्य स्थापित हो गया (ई० सं० १३४६); इस नवीन साम्राज्य के राजाओं को राज्य की धार्मिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं की ओर ध्यान देने का मौका मिला। साम्राज्य-संस्थापन के केवल १७ वर्षों के बाद, १३६३ में, एक धार्मिक विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद का निपटारा जिस न्याय के साथ हुआ, उससे यह छिपा नहीं रहा कि नवीन साम्राज्य के अन्तर्गत जैनमतावलम्बियों के अधिकार सर्वथा सुरक्षित हैं, और नये राजाओं के वैदिक धर्मावलम्बी होते हुए भी उनके धर्म में हस्तक्षेप का कोई भय नहीं। विजयनगर के राजा हरिहरराय का पुत्र, विरुपाक्ष ओडयार, मलेराज्य का सूबेदार था। यह विवाद उसीके सम्मुख उपस्थित हुआ। यह हेदुरनाड के अन्तर्गत ताडनाल के प्राचीन पार्श्वनाथ बसदि की जमीन के सम्बन्ध में था। हेदुरनाद की वैदिक मतावलम्बी जनता का कहना था कि उक्त जमीन पारसनाथ बसदि की नहीं है। राज्य ने इस मामले की जाँच की आज्ञा दी, और मलेराज्य की राजधानी, आरंग में मामले की सुनवाई शुरु हुई। इसमें दोनों पक्ष के गण्यमान्य लोग बुलाये गये थे [लेख में सबों का नाम दिया गया है]। अन्त में सबों की सम्मति से प्राचीन प्रथा के अनुसार ही बसदि की जमीन की सीमा निश्चित कर दी गई, तथा पार्श्वनाथ की अन्य जायदाद के सम्बन्ध में भी निश्चय कर दिया गया। सबों की सम्मति से इस मामले का फैसला पत्थर पर खुदवा दिया गया।"

[मेडिएवल जैनिज्म—सालेतोरे, पृ० २८७-७७]

"उपर्युक्त घटना के केवल पाँच साल बाद बुक्काराय प्रथम के आगे एक बहुत ही महत्वपूर्ण समस्या उपस्थित हुई। १३६८ के एक शिलालेख से पता चलता है कि जैनों और वैष्णवों में एक विवाद उठ खड़ा हुआ। अनेक जिलों के जैनों ने बुक्काराय प्रथम के आगे इस बात की दरख्वास्त दी कि वैष्णव लोग जैनियों के साथ अन्याय करते हैं। राजा ने काफी जाँच-पड़ताल के बाद जैनियों और वैष्णवों में मेल करा दिया, इस बात का एलान किया कि जैन दर्शन और वैष्णव दर्शन में कोई अन्तर नहीं है, और साथ ही अपनी यह राजाज्ञा प्रकाशित की—

"यह जैन दर्शन पहले की ही भाँति पञ्च महाशब्द और कलश का अधिकारी है। यदि कोई वैष्णव किसी प्रकार भी जैनियों को क्षति पहुँचावे, तो वैष्णवों को उसे वैष्णव धर्म की क्षति समझना चाहिए। वैष्णव लोग इस बात की ताकीद के लिए जगह-जगह 'शासन' कायम करें। जब तक सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व है, तब तक वैष्णव लोग जैन दर्शन की रक्षा करेंगे। वैष्णव और जैन एक ही हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं समझना चाहिए।"

राजाज्ञा में आगे बतलाया गया है कि जैनियों और वैष्णवों से कर लिया जाता है उससे बेलगोल के लिए रक्षकों की नियुक्ति की जाय, और यह नियुक्ति वैष्णवों के द्वारा हो,

तथा इससे जो द्रव्य बचे, उससे जिनालयों की मरम्मत कराई जाय और उनपर चूना पोता जाय। "इस प्रकार वे प्रति वर्ष धन दान देने मे न चूकेंगे, और यश तथा सम्मान प्राप्त करेंगे। जो इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह राजद्रोही, संघद्रोही और समुदाय-द्रोही होगा'[1]।"

इसी शिलालेख के पीछे से जोड़े हुए अंश से प्रकट होता है कि कल्लेह के हर्विसेट्टि में पुत्र बुसुवि सेट्टि ने बुक्काराय को प्रार्थनापत्र देकर तिरुमलें के तातय्य को बुलवाया और उक्त शासन का जीर्णोद्धार कराया था। जैन और वैष्णवों ने मिल कर बुसुविसेट्टि को 'संघनायक'[2] की पदवी प्रदान की थी तथा दोनों के अनुयायियों ने जैनधर्म की जय का नारा लगाया था।

इसी प्रकार हमें १६३८ ई० के एक शिलालेख से जैनों और वीर शैवों के विवाद का पता चलता है। यह एक महत्त्व की बात है कि यह शिलालेख जैनधर्म की प्रशंसा से शुरु होता है और अन्त होता है शिव की प्रशंसा से! विवाद यह था कि किसी वीर शैव ने विजयपार्श्व बसदि के एक खंभे पर शिवलिंग की स्थापना कर दी थी और विजयप्पा नामक एक धनी जैन सौदागर ने उस शिवलिंग को नष्ट कर दिया था। इस घटना से जैनियों में क्षोभ फैला और गण्यमान्य जैनियों ने वीर शैवमत के नेताओं के पास इस मामले के निपटारे के लिये प्रार्थना की। सभा में यह निश्चय हुआ कि जैन लोग पहले विभूति और बेलपत्र चढ़ाकर, [अर्थात् शिवलिंग का सम्मान कर] अपना आराधन-पूजन प्राचीन प्रथा के अनुसार करें। इस निर्णय के सम्बन्ध में राजाज्ञा भी मिल गई। वीर शैवों ने जैनियों के प्रति अपना सौहार्द प्रदर्शित करने के लिये इस निर्णय में यह भी जोड़ दिया—"जो कोई भी जैनधर्म का विरोध करेगा, वह शिव-द्रोही समझा जायगा, वह विभूति-रुद्राक्ष तथा काशी और रामेश्वर के पवित्र शिवलिंगों का द्रोही समझा जायगा।" इस लेख के अन्त में 'जिन-शासन की जय हो' यह वाक्य लिखा गया। इसी प्रकार इस राज्य के

१—शक वर्ष १२६० नेय कीलक-संवत्सरद भाद्रपद शु० १० बृ० स्वस्तिश्रीमन्महामण्डलेश्वरं अरिराय विभाड भाषेगे तप्पुव रायर गण्ड श्री वीरबुक्करायनु पृथ्वीराज्यव माडुव कालदल्लि जैन-रिगू भक्तरिगू संवाज वादल्लि आनेयगोन्दि होस-पट्टण पेनुगुण्डे कल्लेहद-पट्टण वोळगाद समस्त-नाड भव्यजनङ्गलु आ-बुक्करायङ्गे भक्तरुसमाडुव अन्यायङ्गलनु बिन्नहं माडलागि कोविल-तिरुमले-पे माळ कोविल-तिरुनारायणपुरमुख्यवाद सकलाचार्य्यरू सकल-समयिगलू सकलसात्त्विकरू मोष्टिकरू तिरुपणि-तिरुविडितण्णीरवरुनाल्वत्तेन्टु-जनङ्गलु सावन्त-बोवकलु तिरिकुल जाम्बुवकुल वोळगाद हदिनेण्टु-नाड श्रीवैष्णववरकैय्यलु महारायनु वैष्णवदर्शनक्के-ऊ जैनदर्शनक्के-ऊ भेद-विल्लवेन्दुरायनु वैष्णवर कैय्यल्लु जैनर कै-विडिदु कोट्टु यी-जैन-दर्शनक्के पूर्व्वमरियादे यलु पञ्चमहावाद्यङ्गलू कलशवु सलुवुदु जैनदर्शनक्के भक्तर देसे यन्द हानिवृद्धियादरू वैष्णव-हानि वृद्धि यागि ....अ० शि० पृ० २६३-२६४

२—देखें-मैडियेवल जैनिज्म सालेतोर पृ० २८८-२८९ तथा अ० शि० पृ० २६४-२६५।

कई सेनापति और प्रधान अमात्य जैन धर्मानुयायी थे तथा राजाओं की रानियों के भी जैन धर्मानुयायी होने के प्रमाण मिलते हैं। श्रवण बेलगोल के निम्न शिलालेख से देवराय महाराय की रानी भीमादेवी का जैन होना प्रकट होता है, यह देवी जैनधर्म की परमाराधिका थी, इसने मङ्गायी बस्ति में शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा कराई थी। इसके गुरु पण्डिताचार्य थे—

श्रीमत्पण्डिताचार्य गुड्डि देवराय महारायर राणि भीमादेवी माडिसिद शान्तिनाथ स्वामि श्री ॥

हरिहर द्वितीय के सेनापति इरुगप कट्टर जैनधर्मानुयायी थे। इन्होंने बेल्गोल में एक बनकुञ्ज और एक तालाब का दान गोम्मटेश्वर के लिये किया था। इरुगप के माता पिता मङ्गप और जानकी जैन धर्म के परम श्रद्धालु थे, इसका समस्त कुटुम्ब जैनधर्म को पालता था। इसकी धार्मिक प्रशंसा में शिलालेख नं० ८२ में निम्न श्लोक कहे गये हैं—

आहारसम्पदभयार्पणमौषधं च
शास्त्रं च तस्य समजायतनित्यदानम्।
हिंसानृतान्यवनिताव्यसनं म चौर्य्यं
मूर्च्छा च देशवशतोऽस्य बभूव दूरे ॥
दानं चास्य सुपात्र एव करुणा दीनेषु दृष्टिर्जिने
भक्तिर्द्धर्म्मपथे जिनेन्द्रयशसामाकर्णनेषु श्रुती।
जिह्वा तद्गुणकीर्त्तनेषु वपुपस्सौख्यं च तद्वन्दने
घ्राणं तच्चरणाब्दसौरभभरे मर्वं च तत्सेवने ॥

इरुगप रत्नत्रय का परमाराधक श्रावक था, इसने विजयनगर में कुन्थुनाथ भगवान् का जिनालय भी बनवाया था। तथा इसकी व्यवस्था के लिये कुछ भूमि भी दान में दी थी।

विजयनगर साम्राज्य के अमात्यों ने भी जैन मन्दिरों एवं जैन प्रतिमाओं का निर्माण कराया था। इस राज्य के उच्चपदस्थ कर्मचारियों में अधिकांश जैन धर्मावलम्बी थे, इसलिये राजाओं को भी जैनधर्म का विशेष खयाल रखना पड़ता था।

अतएव उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि विजयनगर के हिन्दू राजे साम्प्रदायिक पक्षपात रहित थे। जनता भी उदार थी। एक मत वाले दूसरे मतों का आदर करते थे, और मजहबी कट्टरता का नामोनिशान नहीं था। यदि साम्प्रदायिक समस्या को लेकर भारतीय इतिहास का अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही हमें यह ज्ञान प्राप्त होगा कि जैन मत और वैदिक मत में कोई विशेष विरोध नहीं है। आज भी वैष्णव और जैन एक परिवार में अपने अपने मतों के अनुसार चलते हैं, और किसी प्रकार की असहिष्णुता नहीं दिखाई देती। पति अगर जैन है, तो पत्नी कट्टर वैष्णवी! और पति-पत्नी के प्रेम में कोई बाधा नहीं पहुँचती, बल्कि दोनों एक दूसरे के धर्म का आदर करते हैं!

पुष्पाञ्जलि महाकाव्य

[सं०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री]

मुझे इस महाकाव्य का सिर्फ एक पत्र स्थानीय जैन मठ के ग्रंथागार में वर्तमान, ७९० नंबर वाले बण्डल में प्राप्त हुआ। महाकाव्य का यह उपलब्ध अंश सप्तम सर्ग का अंतिम [पद्य सं० ४२ से ५४ तक] एवं अष्टम सर्ग का प्रारम्भिक [पद्य सं० १ से ६ तक] भाग है। इसके सप्तम सर्ग के अंत में निम्न प्रकार की एक पुष्पिका लगी हुई है :—

"इति स्थावरश्रीकुपणतीर्थनिवासिजंगमतीर्थश्रीधरदेवपरमभट्टारकशिष्यश्रीमाघनन्दिसैद्धान्तिचरणसरसीरुहचञ्चरीकेण···यकीर्तिना विरचिते पुष्पाञ्जलिमहाकाव्ये दहपश्रेष्ठि प्रवर्तिते श्रीमद्दोद्दवलदेशाधिपतिकद्दुभूपालनामांकिते सप्तमसर्गः।'

पुष्पिका में प्रतिपादित 'कुपण-तीर्थ' तो इस समय हैदराबाद राज्य में वर्तमान आजकल का 'कोप्पल' है, जो कि एक जमाने में जैनों का भारत-विश्रुत एक प्रमुख महान् तीर्थ रहा। उस काल में इस क्षेत्र की महत्ता तथा पवित्रता श्रवणबेलगोल से कम नहीं समझी जाती थी। 'भास्कर' की पिछली एक किरण में इस तीर्थ के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला भी गया है।

अब इस पुष्पाञ्जलि महाकाव्य के रचयिता के विषय में भी दो शब्द लिख देना परमावश्यक है। पर खेद की बात है कि काव्य का उपलब्ध पत्र खण्डित है; फलतः इसमें रचयिता के नाम में प्रायः एक या दो अक्षर गायब हैं। इसीलिये दूसरी प्रति की प्राप्ति तक निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि इसके प्रणेता अमुक नामधारी कवि हैं। हाँ यह खण्डित नाम अविवादतः अयःकीर्ति नयकीर्ति आदि कोई कीर्त्यन्त नाम अवश्य है।

खैर, अब ग्रंथरचयिता के द्वारा सादर स्मरण किये गये गुरु माघनन्दी तथा प्रगुरु श्रीधरदेव को लीजिये। ये दोनों विद्वान आचार्य नागदेव मंत्री-द्वारा अपने श्रद्धेय गुरु श्री नयकीर्ति योगीन्द्र की निषद्या निर्माण कराये जाने का उल्लेख करनेवाले श्रवण बेल्गोल के ४२ [६६] वें नंबर वाले लेख में प्रतिपादित व्यक्ति ही मालूम होते हैं। इस लेख में इन दोनों की काफी प्रशंसा की गई है। इसमें माघनन्दी के शिष्यों में कीर्त्यन्त नाम वाले सिर्फ चन्द्रकीर्ति एक ही मिलते हैं। पर यह नाम काव्य के उपर्युक्त पुष्पिका में ठीक नहीं बैठता है। हाँ माघनन्दी के प्रशिष्य, गुणचन्द्र मुनि के शिष्य जिनके स्मृति रूप में श्रवणबेल्गोल का यह लेख अंकित है उन नयकीर्ति का नाम यहाँ पर ठीक बैठता है अवश्य। किन्तु ग्रंथरचयिता ने अपने को स्पष्ट रूप से माघनन्दी का शिष्य बतलाया है। इसलिये जब तक इसकी दूसरी पूर्ण तथा शुद्ध प्रति उपलब्ध नहीं होती है तब तक निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक नाम वाले व्यक्ति ही इसके प्रणेता हैं। इसी प्रकार पुष्पिका में प्रतिपादित दहप श्रेष्ठी दोद्दवल देश तथा तदधिपति कद्दुभूपाल के संबंध में भी विशेष खोज करने की आवश्यकता है। काव्य का उपलब्ध भाग इस प्रकार है—

....नस्य सूनोः ॥
कुरु नृप ! विधिमार्चैत्रान्तभद्रादिमासा- ।
त्प्रभृति धवलपक्षे सद्दिने पंचमाख्ये ॥४२॥
परमजिनपतीनां श्रीचतुर्विंशतीनाम् ।
प्रतिकृतिमभिषिच्य प्राच्यं तोयादिभिस्ताम् ॥
पुनरपि रचयित्वा पुंजकं तण्डुलानाम् ।
जलधिनयनसंख्यं द्वादशं यक्षदेव्योः ॥४३॥
द्विगुणजलधिसंख्यैरर्चनैः प्रेज्यपुंजा-
नभिनवकुसुमोघैर्नामपूर्वं समर्च्य ।
परमसुखनिदानांस्तीर्थकर्तृन्समस्ता-
न्यज नरप ! नवम्यां रत्नगर्भयंजलाभिः ॥४४॥
नियमितकरणस्मन् यामयामेऽभिषेकम् ।
श्रवणरमणगीतैर्जागरन्त्वं कुरुष्व ॥
सुचरितयतिनाथांस्तीर्थकर्तृन्प्रमाणान् ।
गदितविधिविशेषाद्भोजय प्रान्तरेन [त्र] ॥४५॥
युवतियुगलकाभ्यां भर्तृसंसर्गभाग्याम् [भाग्याम्]
अशनवसनपुष्पं स्नानपूर्वं प्रदेहि ॥
मृदुकरतलदेशे बालयोर्मातुलुङ्गम् ।
कुरु पुनरपि राजन् ! वर्षवर्षं प्रतीत्थम् ॥४६॥
गतवति सति वर्षे वह्निसंख्ये नरेन्द्र !
प्रतिकृतिममलां त्वं श्रीचतुर्विंशतानाम् ॥
परमजिननियुक्तं यक्षदेव्योश्च बिम्बम् ।
कनकरजतरत्नैः कारयोद्यापनाय ॥४७॥
भवगहनहुताशं पुस्तकं लेखय त्वम् ।
विशदलिपिविशिष्टं श्रीप्रसूनाञ्जलेश्च ॥
उभयमपि मणिष्ठां त्वं प्रतिष्ठां विधाय ।
प्रदिश जिनगृहेभ्योऽर्चां सुनिम्बश्च पुस्तम् ॥४८॥

तदनु विधिविशेषाद्देहि संघाय दानम् ।
भवगहनविनाशं भक्तिभारावनम्रः ॥
इति निगदितगत्योद्यापनं तद्विधेस्स्या-
त्पुनरपि तव च स्यान्मुक्तिकान्तानुरागः ॥४६॥

सुरभिकुसुमसंख्या यस्य नो पूर्यते चे-
दुदधिसदृशसंख्यं वर्षमस्मिन्स कुर्यात् ॥
दुरितकुजकुठारान् पञ्चकान्संप्रतिष्ठय ।
प्रहतमदनदर्पान् भोजयेदेकभिद्वान् ॥५०॥

यदि निगदितशक्तिः कस्यचिन्नास्ति पुंसः ।
कनकसदृशवर्णान्नद्यतान् पंचवर्षम् ॥
क्षिपतु परमभक्त्या सोऽपि तस्माद्गरिष्ठाम् ।
दिविजशिवसुखादीन् स्वादते निश्चयेन ॥५१

श्रुत्वा पूर्वभवान्तरं वनितया मित्रेण चेत्थं नृपः ।
श्रीमच्चारणपादपद्मयुगलं भक्त्या नमस्कृत्य सः ॥
कैलाशाचलचूलिकाजिनगृहे कृत्वा सुपुष्पांजलिम् ।
धन्याधिष्ठितरत्नसंचयपुरं शीघ्रं गतो हर्षतः ॥५२॥

बिभ्राणो विजयांगनां निजभुजे लक्ष्मीं च वक्षस्थले ।
कुर्वाणः कुसुमांजलिं जिनगृहे रत्नप्रभाशोभिते ॥
श्रृण्वन् श्रीपरमागमं प्रतिदिनं तत्रास्त यावन्नृपः ।
गीतातोद्यविनोदनोदितवपुः काले कियन्मात्रके ॥५३॥

दंष्ट्रोपलक्षितमहाकडगस्य वंशे ।
जातः समौक्तिक इवामलकद्रभूपः ॥
सद्वृत्तवान्सगुणवान् जिननाथवाण्याः [ण्या] ।
कर्णे [कण्ठं] विभूष्य भुवि संस्थितवान्स जीयात् ॥५४॥

इति स्थावरश्रीकुपणतीर्थनिवासिजंगमतीर्थश्रीधरदेवपरमभट्टारकशिष्यश्रीमाघनन्दिसैद्धान्ति-चरणसरसीरुहचञ्चरीकेणे···यकीर्तिना [?] विरचिते पुष्पाञ्जलिमहाकाव्ये दृढपश्रेष्ठिप्रवर्तिते श्रीमद्दोद्दबलदेशाधिपतिकद्रभूपालनामांकिते सप्तमस्सर्गः

कुलिशेन महीपतिरेकदा लुलितरत्नविराजितमण्डपे ।
युवतिभिस्स्वसुतैस्सचिवैः परिवृतस्सुखमास्त गुणाम्बुधिः ॥१॥
सरसिजं सुरभीकृतदिङ्मुखं बहुदलं मकरन्दविमिश्रितम् ।
नृपतये वटुको गुणवान् ददौ नरपतिस्तदलोकत हर्षतः ॥२॥
मधुकरा व्यसद्गतजीविता [न्] त्मतिदलेष्ववलोक्य महीपतिः ।
विषयिणां विषयान्मरणं ध्रुवं धिगिति तत्त्यजने कृतवा मनः ॥३॥
पिबति मृष्टजलं गहनोद्भवं चरति चेक्षुसमं नवपल्लवम् ॥
मदगजः करिणीरतिलोलुपो व्यसनतस्स्मृतिं गतवान्भुवि ॥४॥
अशनलंपटधीश्शफरोमहान्ग्रसति लोहविलिप्तपरामिषम् ।
त्रुटिततुण्डगलस्सविलोडते क्षितितले विलयं मृ[द्रु]तमश्नुते ।
पतति शुष्कपलासदले भयात्सरति लंघति पर्वतमस्तकम् ।
श्रवणलोभवशादिह लुब्धकान्मरणमेति शरैर्हरि........॥६॥

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में जैन महिलाओं के नाम।

[ले०—श्रीमती जी० के० जैन बी० ए०, साहित्यभूषण, आरण्य नगर]

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख जैन इतिहास की अपूर्व निधि हैं। इनमें अनेक धार्मिक, सामाजिक, भौगोलिक आदि विभिन्न विषयिक महत्त्वपूर्ण बातों के उल्लेख के अतिरिक्त जैन मुनि, आर्यिका, कवि, संघ, गण, गच्छ आदि के नामों का उल्लेख है। अनेकों शिलालेखों में धर्म की उन्नति करने वाले नर-नारियों के संक्षिप्त परिचय भी हैं। प्राचीन काल में स्त्री और पुरुष समान रूप से धार्मिक कार्यों में भाग लेते थे। प्रकृति ने भी पुरुष को बहिर्जगत का स्वामित्व और स्त्री को अन्तर्जगत का स्वामित्व प्रदान किया है। पर स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों जगत् परस्पर में भिन्न दो नहीं, एक और अभिन्न हैं, गिरा अर्थवत जलवीचिवत्। जीवन जान्हवी को अपने सुख एवं ऐश्वर्य के दोनों कूलों को अपनी मन्थर गति से अहर्निश मुखरित करते रहने के लिये कर्त्तव्य का यह विभाजन अन्तरंग और बहिरंग रूप में विभक्त भले ही दीख पड़े लेकिन दोनों हैं एक और अभिन्न। इसीलिये जहाँ धर्म में उत्सर्ग करने वाले पुरुष मिलते हैं, वहाँ नारियाँ भी। प्राचीन जैन महिलाओं ने जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, इस लेख में श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में नामाङ्कित महिलाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा—

अक्कब्बे १२४ (३२७)—यह शम्भुदेव की पत्नी और चन्द्रमौलि की माता थी। चन्द्रमौलि त्रिभुवन मल्ल वीरबल्लालदेव के मंत्री थे। बल्लालदेव होयसल वंशी प्रतापी राजा थे, इन्होंने लाड, गुर्जर, गौड़, पल्लव, चोल, ओडेयरस आदि नरेशों को जीत लिया था। चन्द्रमौलि के ऊपर माता के धार्मिक संस्कारों की अमिट छाप थी। इन्हीं संस्कारों के कारण वह शैव होकर भी जैन धर्म की ओर झुकता रहा था और अन्त में आचलदेवी के प्रभाव से जैनधर्म में दीक्षित हो गया था।

अत्तिमब्बरसि या अत्तिमब्बे ५९ (७३), १२४ (३२७), १४४—इस धर्मात्मा देवी के प्रभाव से गोदावरी नदी का प्रवाह रुक गयो था। जैनधर्म से इसे अत्यन्त प्रेम था। इसके पिता का नाम सेनापति मल्लप्प, पति का नाम नागदेव और पुत्र का नाम पदुवेल तैल था। अतिमब्बे का जैन नारियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसने अपने व्यय से पोन्नकृत शान्ति पुराण की एक हजार प्रतियाँ तैयार कराकर वितरण कराई थीं। इसके सम्बन्ध में कहा गया है "Atemable wasan ideal devotee. She had 1000 Copies of Ponnas Sātipurana made at her own expense, and 1500 images of gold and jewels. We have seen that some women devotees have been compared to Attimable in their piety.

अनन्तमति गन्ति १८ (९८)—यह नविलूर संघ की थी. इसने द्वादश तपों का कटवप्र पर्वत पर यथाविधि पालन किया था। अन्त में समाधि सहित मरण करने से स्वर्ग के अनुपम सुखों को प्राप्त किया।

आचलदेवी १०७ (२५६), १२४ (३२७), ४२६ (३३१), ४९४—इन शिलालेखों में आचले, आचाम्बा और आचियक्क ये नामान्तर आचलदेवी के बतलाये हैं। शिलालेख नं० १२४ से सिद्ध होता है कि आचलदेवी नयकीर्त्ति के शिष्य बालचन्द्र की शिष्या थी। नयकीर्त्ति[१] सिद्धान्तदेव मूलसंघ, देशिय गण, पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दाम्नाय के गुणचन्द्र सिद्धान्त देव के शिष्य थे। इसी शिलालेख में आचलदेवी की वंशावली निम्न प्रकार दी गई है।

मासवाडिनाडु के श्रावक शिवेयनायक एक धर्मात्मा गृहस्थ थे, इनकी पत्नी का नाम चन्दब्बे था। इस दम्पत्ति के बम्मदेवहेग्गडे, बाचेयनायक, कालब्बे, आचलदेवी और बाचब्बे ये पाँच सन्तानें हुईं। बाचब्बे का विवाह मासवाडि नरेश हेम्माडि सोवणनायकदेव के साथ हुआ। इन दम्पत्ति के बम्मेयनायक, मार, आचलदेवी, चेन्दब्बे और काम ये सन्तानें हुईं। इनमें से आचलदेवी का विवाह होयसल नरेश वीरबल्लालदेव के मंत्री चन्द्रमौलि के साथ हुआ था और बम्मेयनायक का मल्लिसेट्टि और माचब्बे की पुत्री दोचब्बे के साथ हुआ।

प्रस्तुत आचलदेवी ही बालचन्द्र की शिष्या है। शिलालेख में इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

हरिणी-लोचने पङ्कजानने घनश्रोणिस्तनाभोग-भा—
सुरे बिम्बाधरे कोकिलध्वने सुगन्ध-श्वासे चञ्चत्तनू
दरि-भृङ्गावलि-नीलकेशे-कलहंसीयानेयीकम्बुक-
न्धरेयप्पाचलदेवी-कन्तु-सतियं सौन्दर्यदिन्देलिपल्।

आचलदेवी जैन धर्मानुयायी थी, किन्तु उसका पति चन्द्रमौलि शैव धर्मानुयायी था। यद्यपि चन्द्रमौलि ने अपनी स्त्री को शैव धर्म में दीक्षित करने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया, लेकिन वह अपने ध्येय में सफल नहीं हो सका। बल्कि आचलदेवी ने अपने प्रभाव से उसे जैनधर्म की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया था। तथा वह बहुत कुछ अंशों में सफल भी हुई थी। आचलदेवी ने कई जैन मन्दिर बनवाये थे।

अक्कनबस्ति के[१] लेख नं० १२४ (३२७) से प्रकट होता है कि इस बस्ती का निर्माण आचलदेवी ने कराया था। इस सुन्दर भवन में गर्भगृह, सुखनासि, नवरङ्ग और मुखमण्डप हैं। गर्भगृह में सप्तफणी पार्श्वनाथ की पाँच फुट ऊँची भव्य मूर्ति है। गर्भगृह के द्वारों पर बड़ा अच्छा खुदाई का काम है। सुखनासि में तीन फुट ऊँची पञ्चफणी धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्त्तियाँ हैं। यहाँ के गुम्मज और छतों की कारीगरी देखने लायक है। मन्दिर

की गुम्मटों पर अनेक जैन मूर्त्तियाँ चित्रित हैं। आचलदेवी ने इस बस्ति का निर्माण कराके होय्सल नरेश बल्लालदेव से बम्मेयनहल्लि ग्राम प्राप्त कर उसे अपने गुरु नयकीर्त्ति सिद्धान्त-देव के शिष्य बालचन्द्र मुनि की पादपूजा कर उस मन्दिर के लिये दान कर दिया था। इस बस्ति का निर्माण काल सन् ११८१ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचलदेवी ने जैन धर्म की उन्नति के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया।

आचलदेवी १२४ (३२७)—इस नाम की अन्य देवी हेम्माडिदेव की भार्या थी, इसकी माता का नाम चान्दव्वे और पिता का नाम शिव्रेयनायक था।

आचाम्बिके २५१ (२२१)—इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि "अरस आदित्यङ्गवाचा-म्बिके गपोलविनिपुट्टिदर्प्पम्पराजं हरिदेवं मन्त्रि-यूथाग्रणि गुणिबल"—अर्थात् आचाम्बिके के पति अरसादित्य थे। इन धर्मात्मा दम्पत्ति के पम्पराज, हरिदेव और बलदेव ये तीन पुत्र हुए। बलदेव की प्रशंसा इस लेख में बहुत की गई है, इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि कर्नाटक कुल तिलक, माचिराज के पितृव्य, शत्रुओं के लिये प्रचण्ड शक्ति, जिनपद भक्त महा साहसी थे। समस्त मन्त्रियों के नाथ, शत्रुओं को वश करने वाले, परस्त्री त्यागी, सरस्वती, देवी के कण्ठहार विशुद्धकीर्त्ति, प्रसिद्ध और उदार मूर्त्ति, जिनेन्द्रपद सेवी बलदेव जयवान हो।

एचिकब्बे या एचब्बे १४४ (३८४)—यह गङ्गराज के बड़े भाई बम्मदेव के पुत्र एचिराज दण्डनायक की स्त्री थी। एचिकब्बे के गुरु शुभचन्द्रदेव थे। एचिराज दण्डनायक ने अपनी स्त्री की प्रेरणा से अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण कराया था। अन्त में समाधि मरण पूर्वक प्राण त्याग किये। बोप्पदेव दण्डनायक ने अपने भाई की निषद्या निर्माण कराई तथा निर्माण कराई हुई बस्तियों के लिये शुभचन्द्रदेव के शिष्य माधवचन्द्रदेव को गङ्ग समुद्र की कुछ भूमि का दान किया।

एचिकब्बे ने तथा उसकी सास वागणब्बे ने ही जिननाथपुर में अरेगल बस्ति के पूर्व की ओर वाले लेख को अंकित करवाया था। यह अत्यन्त धर्मात्मा महिला थी।

एचलदेवी ९० (२४०), १२४ (३२७),—यह नारसिंह प्रथम की भार्या हैं, इसके पुत्र का नाम द्वितीय बल्लाल देव था। बल्लाल राजा ने ओडेय और कामदेव के राजाओं को पराजित किया तथा उच्चाङ्गि के किले को जीता था। महारानी एचलदेवी बड़ी धर्मात्मा थी, इनकी धार्मिक भावनाओं का प्रभाव पति और पुत्र दोनों पर था। इसीलिये द्वितीय बल्लाल-देव ने कई ग्राम दान किये थे।

इसी नाम की एक और रानी का शिलालेख नं० ९०, १२४, १३७, १३८, ४९०, ४९३, ४९४ में उल्लेख मिलता है। यह विनयादित्य के पुत्र एरेयङ्ग की भार्या थी। इसके बल्लाल,

विष्णुवर्धन और उदयादित्य ये तीन पुत्र हुए थे। इस देवी ने भी जैन धर्म की उन्नति के लिये जिनालय आदि का निर्माण कराया था।

कण्णब्बे ४६० (४८५)—इसका एक आर्यिका के रूप में उल्लेख किया गया है।

कनकश्री ११३ (२६८)—इस देवी ने कुन्दकुन्दान्वय, देशीय गण, पुस्तक गच्छ के आचार्य भानुचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सोमचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सिंहनन्दि भट्टारक, सोमश्री, गौरश्री आदि के साथ पञ्चकल्याण महोत्सव मनाया था।

कामलदेवी ४२ (६६), १३० (३३५)—इस देवी के पिता का नाम नागदेव और माता का चन्दब्बे था। नागदेव के पिता बम्मदेव और माता जोगब्बे थी। यह होयसल वंशीय नरेश द्वितीय बल्लाल देव के मंत्री थे, इनके गुरु का नाम नयकीर्त्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती था। इन्होंने नगर जिनालय का शक संवत् १११८ में निर्माण कराया था तथा कमठ पार्श्वदेव बस्ति के सम्मुख शिलाकुट्टम और रंगशाला भी बनवाई थी। जिनालय के प्रबन्ध के लिये कुछ भूमि भी दान में दी थी।

कामलदेवी के भाई का नाम मल्लिदेव था। कामलदेवी बड़ी धर्मश्रद्धालु थी, इसने जैनधर्म की उन्नति के प्रयत्न किये थे।

केलियदेवी या केलेयब्बरसि १२४ (३२७), १३७ (३४७), १३८ (३४९), ४९४—यह होयसल नरेश विनयादित्य की भार्या थी। इस दम्पत्ति के ही प्रतापी पुत्र एरेयङ्ग हुए थे, जो चालुक्य नरेश की दक्षिण बाहु कहे गये हैं। राजा विनयादित्य ने केलियदेवी की प्रेरणा से कई तालाब और जैन मन्दिर बनवाये थे। मन्दिर बनवाने के लिये ईंटों के निमित्त जो भूमि खोदी गई थी, वहाँ तालाब बन गये; जिन पर्वतों से पत्थर निकाले गये थे, वे पृथ्वी के समतल हो गये, जिन रास्तों से चूने की गाड़ियाँ निकलीं थीं वे रास्ते गहरी घाटियाँ हो गये।

गङ्गार्या ३९५ (३००) इसे "पं० गोविन्दा नाथ गङ्गाई" शिलालेख में कहा गया है।

गुज्जबे ३६१ (२५२)—यह बम्मिसेट्टि की भार्या थी, इसने भोसले के बहुव्यवहारि बसवि-सेट्टि के प्रतिष्ठा कराये हुए जिनालय में चतुर्विंशति तीर्थङ्करों की अष्टविध पूजा के लिये प २ सेलदि वार्षिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की थी।

गुणमतियब्बे २१८ (११२) शिलालेख में इसे "श्री नविलूर सङ्घदा गुणमतिअब्बेगळा निसिधिगे।" उल्लेख किया गया है।

गौरश्रीकन्ति ११३ (२६८)—इसने कुन्दकुन्दान्वय, देशीय गण, पुस्तकगच्छ के अनेक आचार्यों के साथ फाल्गुन सुदी ८ हेवगन्दि (हेमलम्ब) सम्वत्सर में गोम्मट देव तीर्थ में पञ्चकल्याणक उत्सव मनाया था।

चन्द्राम्बिके, चन्दब्बे या चन्दले ४२ (६६), ३० (३३५)—यह देवी मागदेव मंत्री की भार्या थी। इसे जैनधर्म से बड़ा प्रेम था, तथा इसने जैनधर्म के अभ्युत्थान के लिये भी पर्याप्त कार्य किये थे।

चागलदेवी १३८ (३४९)—यह नारसिंह प्रथम होयसल नरेश की रानी थी। शिलालेख में बताया गया है कि "चागल-देवी-लक्ष्मी यादव-कुल-कमलविमलमार्त्तण्ड श्रीः।" इत्यादि शब्दों के द्वारा चागलदेवी के पति नारसिंह की प्रशंसा की गई है। नारसिंह ने कई बार चागलदेवी के साथ गोम्मटेश्वर की बन्दना की थी। जब दिग्विजय के समय नरेश बेल्गोल में आये थे, गोम्मटेश्वर की बन्दना कर हुल्ल द्वारा निर्मापित चतुर्विंशति जिनालय के दर्शन कर उन्होंने उस मन्दिर का नाम 'भव्य चूड़ामणि' रक्खा था और उसके जीर्णोद्धार के लिये सवणेरु ग्राम दान में दिया था।

चन्दब्बे १२४ (३२७)—यह मासवाडिनाडु के शिवेयनायक की भार्या थी। इसको पाँच सन्तानें हुई थीं। इसे जैनधर्म से बड़ाभारी अनुराग था।

जक्कणब्बे या जक्कमब्बे ४३ (११७), ४४६ (३६७), ५४७ (३६८)—*यह गंगराज के बड़े* भाई बम्मदेव की स्त्री थी। यह[१] शुभचन्द्रदेव की शिष्या थी। सेनापति बोप्प इसी महिलारत्न का पुत्र था। इसने 'मौक्तितिलक' नामक व्रत करके एक प्रस्तर खण्ड में जिन मूर्त्ति खुदवाई थी और सन् ११२० में उसे श्रवणबेल्गोल में प्रतिष्ठित किया था। इसी वर्ष इस देवी ने एक सरोवर भी श्रवणबेल्गोल में खुदवाया था।

लेख नं० ४८९ (४००) से प्रकट होता है कि इस देवी ने श्रवणबेल्गोल से तीन मील की दूरी पर सोणहेल्लि ग्राम में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था।

इसी नाम[२] वाली एक और देवी हो गई है जो विख्यात जैन सेनापति पुणिसमय्य की भार्या थी। सन् १११७ के एक लेख से पता चलता है कि कृष्णराजपेटे तालुका के होसकोटे नामक स्थान में इसने एक बसदि का निर्माण कराया था। होसकोटे के लेख में यह भी बताया गया है कि इस देवी की तुलना सीता और रुक्मिणी से की जा सकती है।

जम्बुनायगिर आर्यिका ५ (१८)—इस देवी का शक संवत् ६२२ के शिलालेख में उल्लेख आया है कि इसने व्रतपाल कर समाधिमरण द्वारा प्राण त्याग किये थे।

१ श्रीमूलसङ्घद देशिय गणद पुस्तकगच्छद शुभचन्द्र सि०

१ शान्त-देवर गुड्डि दण्डनायक-गङ्गराजनानिगे दण्डनायक बोप्पदेवन तायि जक्कमब्बे मौक्तिकद नोन्तु नोम्परे नयणद-देवर माडिसि प्रतिष्ठेय माडिसिदस मङ्गल महा श्री श्री।

—अ० शि० पृ० ३६१

२ देखें—Medieval Jainism P. 163 तथा जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ८ किरण १ पृ० ९४

आनकि[1] या जानकी ८२ (२५३) यह मङ्कप सेट्टि की भार्या थी। इसके बैचप और इरुगप ये पुत्र हुए थे। इरुगप संस्कृत का बड़ा अच्छा विद्वान था। इसके ऊपर माता के धार्मिक जीवन की अमिट छाप पड़ी थी, इसलिये इसने विजय नगर में कुंथुजिनालय का निर्माण किया था, तथा बेलगोल में एक वनकुञ्ज और एक तालाब का दान गोम्मटेश्वर के हेतु किया था। इरुगप ने 'नानार्थ रत्नमाला' नामक कोष की रचना भी की थी। जानकी ने भी जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक प्रयत्न किये थे।

जोगव्वे या जोगम्बा ४४ (११८), १३० (३३५)—यह बम्मदेव की भार्या थी।

देमति[2], देमवति या देमियक्क ४६(१२६), ४९(१२९)—यह राजसम्मानित चामुण्ड नाम के वणिक् की भार्या थी। इसकी माता का नाम नगले, बहिन का नाम लक्कले और भाई का नाम बूचिराज था। इसके गुरु का नाम शुभचन्द्र सिद्धान्त देव था। शिलालेख नं० ४९ (१२९) से प्रकट होता है कि लक्कले या लक्ष्ममती ने बहन देमति के स्मरणार्थ इसे लिखवाया था। देवमति ने दान पुण्य कार्यों में जीवन व्यतीत कर शक सं० १०४२, फाल्गुन वदि ११ गुरुवार को संन्यास विधि से शरीर त्याग किया था। धार्मिक कार्यों के लिये इस देवी का नाम जैन महिलाओं में सदैव उल्लेख योग्य रहेगा। इसने प्रायः सभी तीर्थक्षेत्रों की यात्रा की थी। चार प्रकार के दान देना इसका नित्य का नियम था।

देवश्री कान्ति आर्यिका ११३—इस देवी ने सिंहनन्दि, सोमश्री, कनश्री आदि के साथ शक संवत् १०९९ में विन्ध्यागिरि पर्वत पर गोम्मटदेव का पञ्चकल्याणोत्सव मनाया था। इस आर्यिका ने कई तीर्थ क्षेत्रों की वन्दना की थी। यह कुन्दकुन्दान्वय, देशीगण और पुस्तक गच्छ की थी।

—क्रमशः

१ जानकीत्यभवदस्य गेहिनी चारुशीलगुणभूमिरुज्वला जानकीव रघुवंश-भूषणस्य रावणस्य रमणीय-तेजसः॥

२ आहारं त्रिजगज्जनाय विभयं भीताय दिव्यौषधं—
व्याधि व्यापदुपेतदीनमुखिने श्रोत्रे च शास्त्रागमं।
एवं देवमतिस्सदैव ददती प्रशस्ये स्वायुषा—
महंद्देवमति विधाय विधिना दिव्या वधू प्रोदभू॥
आसीत्परक्षोभकरप्रतापाशेषावनीपालकुलादरस्य।
चामुण्डनाम्नो वणिजः प्रियास्त्री मुख्यासती या भुवि देमतीति॥
भूलोक-चैत्यालय-चैत्य-पूजा-व्यापार-कृत्यादरतो ऽवतीर्या।
स्वर्गात्सुरस्त्रीति विलोक्यमाना पुण्येन लावण्य गुणेनयात्र॥

—श्र० शि० पृ० ७०

श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का संक्षिप्त वार्षिक विवरण

[१३-६-४५—४-६-४६]

श्रीजैन सिद्धान्त-भवन आरा ३५ वर्षों से जैन समाज की ही नहीं, अपितु साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति मात्र की सेवा करता चला आ रहा है; इस 'भवन' ने इस वर्ष भी कितनी ही साहित्यिक संस्थाओं एवं व्यक्तियों के प्रकाशन कार्य में साहाय्य प्रदान किया है। जैन संस्कृति के इतिहास निर्माण में इस भवन का विशेष हाथ है। अनेक अलभ्य ग्रन्थ रत्नों के संग्रह के साथ-साथ पुरातत्त्व विषयिक अन्य सामग्री का भी संग्रह किया जा रहा है।

इस वर्ष वीर नि० सं० २४७१ ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी से वीर नि० सं० २४७२ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक रजिस्टर में ६३५१ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। परन्तु हस्ताक्षर करने की कृपा न करने वाले व्यक्तियों की संख्या इससे कहीं अधिक होगी। विशिष्ट दर्शकों में निम्न लिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं :—

श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; श्रीमान् रामविचार पाण्डेय आयुर्वेद मार्त्तण्ड, एम० ए० उपसभापति युक्त प्रान्तीय जैन सम्मेलन बलिया; श्रीमान मास्टर दुलीचन्द जी जैन बी० एस-सी; बी० टी०, गंजबासौदा; श्रीमान पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री; श्रीमान डा० बी० एल० आत्रेय प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय काशी; श्रीमान् डा० ए० एस० आलतेकर प्रधान प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी; श्रीमान् काका कालेलकर, हिन्दुस्तानी प्रचारक वर्धा; श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी तथा मंत्री साहित्य विभाग दि० जैन संघ मथुरा; श्रीमान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार अधिष्ठाता वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; श्रीमान् पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, रिसर्च स्कालर वीरसेवामन्दिर सरसावा; श्रीमान् पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, मंत्री दि० जैन विद्वत्परिषद् व सम्पादक जयधवला बनारस। इन विद्वानों ने अपनी शुभ सम्मतियों के द्वारा पूर्ववत भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

प्रकाशन—'भवन' के इस विभाग में जैन सिद्धान्त-भास्कर तथा जैन एन्टीक्वेरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा, प्रसन्नता की बात है कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोक प्रिय होता जा रहा है और बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। कई अजैन विद्वानों ने भास्कर के सम्बन्ध में कहा है कि "भास्कर भवन की अमूल्य सम्पत्ति है इसके द्वारा जैन इतिहास और साहित्य का सुन्दर ढंग से निर्माण हो रहा है। भास्कर के साथ जैन

एन्टीक्वेरी का रहना तो सोने में सुगन्ध का काम करता है, इसे अविलम्ब त्रैमासिक कर देने की आवश्यकता है, जिससे जैन इतिहास का पर्याप्त मात्रा में निर्माण हो सके" आदि। इस वर्ष कागज नियन्त्रण के कारण अन्य प्रकाशन का कार्य नहीं हो सका।

परिवर्त्तन—इस वर्ष भवन के प्रकाशन से ४०-४५ ग्रन्थ परिवर्त्तन में लिये गये हैं। निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र पत्रिकाएँ भी भास्कर के परिवर्तन में भवन को प्राप्त होती रही हैं:—

(1) Annals of the Bhandarkar oriental Research Institute, (2) The journal of the university of Bombay, (3) The Karnatak Historical Review, (4) The Adyar Library Bulletin, (5) The journal of Annamalai university, (6) The poona orientalist, (7) The journal of the united province Historical Society, (8) The Quarterly of Mythic Society, (9) The Punjab oriental research, A quarterly journal, (10) The journal of the royal Asiatic Society of Bengal (11) The journal of the royal Asiatic Society of Bombay (12) The Fergusson College Magazine (13) The journal of the Bihar and Orissa research Society, (14) The journal of the Benares Hindu university, (15) The Andhra university college Magazine and chronicle (16) The journal of the Sind Historical society, (17) The journal of Tanjore sarsvati library, (18) The Bombay theosophical Bulletin, (19) The jain gozette (20) The Indian literary review (21) The journal of the Ganganath Jha research Intitute Allahabad, (22) The Hindu stani review.

हिन्दी:—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) विश्वभारती (३) भारतीय विद्या (४) सम्मेलन पत्रिका (५) साहित्य सन्देश, (६) अनेकान्त, (७) विज्ञान (८) आजकल (९) किसोर (१०) वैद्य (११) धर्मदूत (१२) हिमालय (१३) वरदा (शोध-निबन्ध-क्रम) (१४) जिनवाणी (१५) संगम (१६) जैन महिलादर्श (१७) दिगम्बर जैन, (१८) जैन बोधक (१९) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—जयपुर (२०) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—इन्दौर (२१) वीर (२२) भारतीय समाचार (२३) जैन मित्र (२४) जैन सन्देश (२५) जैन गजट (२६) नवशक्ति।

गुजराती:—(१) जैन सत्यप्रकाश।

संस्कृत:—(१) मैसूर महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका (२) सूर्योदय।

कन्नड़:—(१) जयकर्णाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

तेलगु:—(१) आन्ध्र साहित्य-परिषत्पत्रिका। इस प्रकार भास्कर के परिवर्तन में कुल ५६ पत्रपत्रिकाएँ आती हैं। इनके अतिरिक्त (१) The Indian Historical quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक संसार (५) दैनिक संसार (६) Search light. और (७) आर्यावर्त मूल्य देकर भवन में मंगाये गये हैं।

पाठक-- भवन के सामान्य पाठक वे हैं जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं। क्योंकि सर्व साधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इसलिये प्रायः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके लिये हर तरह से सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अपवाद रूप में विशेष नियम से जिन जिन खास व्यक्तियों को घर ले जाने के लिये ग्रन्थ दिये गये हैं, उन ग्रन्थों की संख्या ५२२ है। इन ग्रन्थों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त श्रीमान पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाध्यापक श्री स्याद्वाद् महा विद्यालय काशी; श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री जयधवला कार्यालय काशी; श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ काशी; श्रीमान पं० परमानन्द जी शास्त्री सरसावा; श्रीमान् पं० दरबारीलाल जी, न्यायाचार्य, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; श्रीमान् बा० ज्योतिप्रसाद जी एम० ए०, लखनऊ; श्रीमान बाबू कामता प्रसाद जी डी० एल०, एम० आर० ए० एस० अलीगंज; श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री, अध्यक्ष ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई; श्रीमान् पं० के० भुजबली जी शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री; श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनिवर्सिटी मद्रास; श्रीमान् रामसिंह जी तोमर एम०-ए० रिसर्चस्कालर शान्ति निकेतन (बंगाल); श्रीमान् पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' व्याकरण-साहित्य-आयुर्वेदाचार्य डुमरॉव; श्रीमान जनार्दन मिश्र, वेदाचार्य, संस्कृत कालेज डुमरॉव। इसके अतिरिक्त लश्कर की जैन साहित्यिक प्रदर्शनी की श्रीवृद्धि का बहुत कुछ श्रेय इस भवन को है। यहाँ से ६०-७० अलभ्य पुस्तकों के अतिरिक्त सचित्र जैन रामायण, प्राचीन लिपियों के चित्र, तिल-जौ चावल, सरसों आदि पर लिखे गये शब्द एवं अन्य प्राचीन साहित्यिक सामग्री गई था।

संग्रह—पूर्ववत इस वर्ष भी मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं बंगला आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ९० और अंग्रेजी के १२ इस प्रकार कुल १०२ ग्रन्थ संगृहीत हुए हैं। इन्हीं भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों की संख्या भी लगभग इतनी ही है।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में दि० जैन स्त्री-समाज आरा; श्रीमान् बा० रूपसुन्दरदास आरा; श्रीमान् डा० देवराज एम० ए०, डी० फिल० राजेन्द्र कालेज छपरा, श्रीमान बाबू बच्चूलालजी रईस आरा, श्रीमान बाबू धनेन्द्रचन्द्रजी आरा; श्रीमान् बा० छोटेलाल जी रईस कलकत्ता एवं व्यवस्थापक आर्किलोजिकल मैसोर आदि के नाम उल्लेख योग्य है। श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाईजी की ओर से जैनमहिलादर्श को समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ भी भवन को मिले हैं।

इस वर्ष प्रतिलिपि का कार्य एक प्रकार से स्थगित-सा रहा है। इसके दो कारण हैं, पहला कारण तो कागज का अभाव और दूसरा संस्कृतज्ञ लेखकों की अप्राप्ति। असंस्कृतज्ञ लेखकों से शास्त्रों की प्रतिलिपि कराने से कोई लाभ नहीं होता है, बल्कि ग्रन्थों में अशुद्धियों की मात्रा और बढ़ जाती है। फिर भी श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ काशी के तत्त्वावधान में वहाँ के लेखकों से बेड़ाजातकवृत्ति, सिद्धिविनिश्चयटीका लिखवा कर मंगाये गये तथा आदिपुराण टिप्पण की प्रतिलिपि का कार्य अभी चालू है। श्रीमान् बा० बच्चूलालजी तथा बा० धनेन्द्रचन्दजी ने हस्तलिखित सचित्र यंत्र मंत्र सहित भक्तामर भवन को प्रदान किये।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थः—(१) षट्खण्डागम धवलाटीका समन्वित ७ वीं जिल्द, (२) न्याय दीपिका (प्रस्तावना टिप्पण अनुवादादि सहिता), (३) अध्यात्म कमल मार्त्तण्ड, (४) जैन-सिद्धान्त-दर्पण (प्रथम और द्वितीय अंश), (५) सिद्धान्त-समीक्षा (तीन भाग) (६) हिन्दी व्याकरण-वार्ता, (७) ब्रह्मचर्य रहस्य, (८) वीरस्तुति, (9) Great men of Shahabad, (10) Facts and figurs about jain Swetamber terapanthi Diksha, (11) Gleanings from Somadeva suri's Yasastilaka champoo (vol I, part III and IV) 12 Literary sources for the study of svetamber jain Iconography.

पत्र व्यवहारः—भवन तथा भास्कर से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों पत्रों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य, ज्योतिष, धार्मिक आदि विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले सैकड़ों पत्रों का समुचित उत्तर भवन से दिया गया है; जिनसे बाहर के पत्र प्रेषक मान्य विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष हुआ है।

साहित्यिक एवं धार्मिक सभाएं:—इस वर्ष भवन में 'सांस्कृतिक-जागरण-समिति' की पाक्षिक बैठक नियमित रूप से होती रही। आरा साहित्य-मण्डल और जिला साहित्य-सम्मेलन के भी दो-तीन अधिवेशन हुए हैं। इन साहित्यिक अधिवेशनों के साथ-साथ श्रुतपञ्चमी का अधिवेशन तथा महावीर जयन्ती का धार्मिक उत्सव भी भवन में ही मनाया गया। महीने में एकाध साहित्यिक या धार्मिक सभा भवन में होती ही रहती है।

प्रबन्धकारिणी की बैठकः—इस वर्ष भवन की प्रबन्ध कारिणी की बठक दो बार हुई। प्रथम बैठक में नये पदाधिकारियों और सदस्यों का चुनाव हुआ तथा बजट आदि पास किये गये। दूसरी बैठक में भवन के ग्रन्थों के सूचीपत्र के निर्माण, ग्रन्थ प्रकाशन एवं भास्कर को त्रैमासिक कर देने, आदि बातों के सम्बन्ध में विचार विनिमय किया गया।

जब से भवन स्थापित हुआ है, उसका व्यवस्थित ढंग से प्रामाणिक सभी विषयों की पुस्तकों का कोई सूचीपत्र प्रकाशित नहीं हुआ है, यह बात खटकने वाली थी, अतः इस कमी को दूर करने के लिये एक विषय क्रमानुसार अकारादिक्रम से सूचीपत्र तैयार किया जा रहा है। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी एवं मराठी आदि विभिन्न भाषाओं की मुद्रित विभिन्न विषयों की पुस्तकों का सूचीपत्र एक-दो माह में तैयार हो जाने की आशा है। तैयार होते ही प्रकाशित कर समाज की सेवा में उपस्थित किया जायगा।

कार्यालय को व्यवस्थित करने के लिये फर्नीचर, प्रकाशन, शाशे में जड़े बड़े और छोटे चित्र, जैन मूर्तियों के चित्र, सिक्के, भवन का फुटकर सामान आदि के स्टॉक रजिस्टर तैयार कराये गये हैं।

इस प्रकार भवन इस वर्ष व्यवस्थित ढंग से कार्य करता हुआ समाज की सेवा करता रहा है।

देवाश्रम आरा।

ता० २७-७-१९४६।

मंत्री:—

चक्रेश्वर कुमार जैन

बी० एस-सी०, बी० एल०, एम० एल० ए०

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XII JULY, 1946. No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH. BIHAR. INDIA

Annual Subscription
Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

Om

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol. XII No. 1 | ARRAH (INDIA) | July, 1946.

THE PREDECESSORS OF SVAMI VIRSENA

By

[Syt Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B]

In the colophon at the end of the Dhavala, Svami Virsena tells us that his preceptor was Ajjanandi, the disciple of Chandrasena, and that one Elacharya was also his Guru[1]. The same information is repeated in the colophon of the Jayadhavala by Jinsena[2] who was the disciple of Virsena. The fact that Virsena had studied the whole of the Siddhant near Elacharya, is corroborated by Indranandi in his Shrutavatar[3]. It, therefore, appears that although Virsena was ordained by Ajjanandi (or Aryanandi) he was taught the Siddhanta by Elacharya

Besides this meagre information, we know nothing about these Gurus of Svami Virsena The learned editors of the Dhavala series, those of the Jaya Dhavala or any other scholar has not, to my knowledge, as yet fixed up their identity.

I have, after a careful and detailed discussion, arrived at the date of the completion of the Dhavala by Virsena, which is A D. 780,

1. Dhavala Prasasti v. 1, 4. Shatkhandagama 1, 1, 1, Intr. p. 35-36.
2. Jayadhavala Prasasti, v. 26—"प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् ।"
3. Shrutavatara v. 177-178.

and have also therefrom concluded that that sage must have been born in the twenties of the 8th century A. D. and must have died sometimes in the last decade of the same century[4]. Both his Gurus, Elacharya and Aryanandi, therefore, must belong to the first half of that century and the latter's Guru Chandrasena to the latter half of the 7th. century A. D.

In literature and tradition we have little to help us; but the numerous epigraphic records found in the South help us a great deal in this matter. A copper plate grant of the Ganga king Sivamara I mentions one Chandrasenacharya. This record relates that this monarch gave as a gift some specified lands in the village of Kellipusugūr (Location given) for the services of a Jain temple to Chandrasenacharya[5]. The grant itself is undated, but we know that King Sivamara I of the Ganga dynasty ruled from A. D. 670 to 713. That this ruler was himself a Jain is proved by this record as also by another in which he is also described as 'a distinguished sailor able to reach the other side of Panini's Grammar[6].' In a record assigned to circa A. D. 900, found at the top of the Kund hill (Kundsita) situated to the west of Nimbagrāma in the village of Sandhikavāta, it is related that many Jain sages (Bahavo Munipungavah) attained Siddhi on that spot, and that here Chandrasena the disciple of Srisena obtained Mukti[7]. A number of Jain devotees, among whom are mentioned two women, are said to have perfo med Sallekhna at this place. This place also seems to have been called Kirukunda[8]. Dr. Saletore places the death of Chandrasena Muni in the same year as is assigned to the record i e. A. D. 900[9]. It, however, does not seem likely. The inscription records past events, including the death of Chandrasena. Moreover it is not dated, but is believed to be as old as atleast A. D 900 or so. It might have belonged to earlier times. In any case, while informing us of the sanctity of the place, it might narrate, among others, the death by

4. See Anekant 7, 11-12, p. 207—my article on "The Date of Sri-Dhavala."
5. M. A. R. for 1925, p. 92.
6 M. A. R for 1927, p. 77.
7. E. C IX Cp. 69 p. 145, text p. 323.
8. E. C. IX Ch. 70, dated circa A. D. 900, p. 145.
9. Saletor - Mediaval Jainism, p 227 (n).

Sallekhana of such a celebrity as Chandrasenacharya. And this could very reasonably be our Chandrasena, the preceptor's preceptor of Virsena. If it is so, which seems quite probable, we incidentally get his Guru's name as well, which was Srisena. Besides, the Sena ending of the two names, Srisena and Chandrasena indicates their association with the Sena Sangha. And we know that Virsena and Jinsena belonged to the Panchstupanvaya of that very Sangha[10]. The contemporaneity of Chandrasena with king Sivamara I (670—713 A. D.) places the former in the last quarter of the 7th. century A. D, which date is quite in keeping with the known date's of his disciple's disciple Virsena.

As regards Aryanandi, a kannad record in grantha characters mentions the setting up of an image of Devasena the pupil of Bhavānandi by a Jain sage called Arynandi also known as Ajjanandi, on Vallimalai near Tiruvallam in the Wandwash Taluka of the North Arcot District[11]. The record also tells us that this Devasena was the Guru of the Bana king[12]. In an undated Vattaluttu inscription commemorating the setting up of another image in Karungālakkudi in the Madura Taluka, Ajjanandi is called "the glorious[13]" Ajjanandi is also mentioned in the records found at Añamalai, Madura Taluka[14]. The Ajjanandi's mentioned in these records refer to one and the same person or to different persons, cannot be said with certainty. But there is nothing tangible to distinguish any one of them from others. About the first Ajjanandi who is also called Aryanandi, there are, however, two facts worth noting. Firstly, the place Vallimalai was a Jaina stronghold and a sacred place for the followers of this faith during the rule of the Gangas. King Rāchamalla Satyavakya I, the son of Ranvikrama had built a Jaina Basadi there in the 9th. century A.D.[15] Secondly, the pupil of Devasena referred to above, was a Bana king. The Banas seems

10. Colophons of the Dhavala and the Jayadhavala.
11. 8 of 1895, Med Jainism p. 243.
12. 7 of 1895—Rangachari, Top list, I, p. 120.
13. 562 of 1911.
14. 67-74of 1905.
15 91 of 1889;6 of 1895.; and Med. Jainism p. 243.

to have come into existence in the 4th, 5th centuries A. D., but their early history is obseure. The important and famous kings of that line were Vikramaditya Bali-Indra and his successor Vikramaditya. The former one was a vassal of Chalukya Vijayaditya who reigned from A. D. 696 to 733[16]. Vijayaditya himself was a devotee of Jainism and no wonder his vassal also followed the same faith. Before the time of Vikrama-Bali-indra, the Banas were petty chiefs, occasionally crushed by the Gangas whenever they got unruly, and after the times of his successor they are heard no more. So there is every likelihood of Vikram-Bali-indra being the Bana king who is said to have been the disciple of Devasena. If this is so, the death of Devasena is to be placed in the first quarter of the 8th century A. D. Aryanandi's setting up of the image of Devasena clearly shows that the former was in some way associated with the latter on whose death he erected this memorial. It, at the same time, proves that Aryanandi survived Devasena and so might have lived upto A. D. 750 or so. His date too thus quite fits in with the dates of Virsena who was ordained as a Jaina saint by Aryanandi

The identity of Elacharya is a bit difficult, as there have been several Jain sages of that name and in different times The first and most famous was Kunda Kundacharya. Some scholars doubt his being called as Elacharya, but in the present case we have nothing to do with a person belonging to such remote times. A second Elacharya was the disciple of Sridhardeva and is supposed to have lived in circa A. D. 910[17]. Rice, however, assigns him to circa 1100 A. D. The third Elacharya is mentioned in a record assigned by Rice to circa 1060 A. D. Nothing more is known about him except that his lay disciple was one Bindayya[18]. Rice seems to identify these two later Elacharyas. A lithic record of Cikka Hanasoge, assigned to A D. 910, relates that in the reign of Ereya a Jain teacher Elacharya who subsisted on water for one month, died by Samadhi. And a citizen, Astopvāsa Kalnele Devar set up a Nisidhi in memory of this Guru. This citizen has been described,

16. Sircar—The Successors of the Satvahnas p. 247
17. E. C., Yd. 28, p. 56; also Med. Jainism p. 240.
18. E. C. IV Ng. 67, p. 129.

therein, as a "moving tirtha"[19], Late Mr. Narsimhacharya identified the Elacharya of this record with the second Elacharya mentioned above as disciple of Sridhardeva[20]. But this identification is not a happy one. The Erya in whose domains the last Elacharya is said to have performed Sallekhna, appears to be the Ganga prince Eyerappa (Duggamar), the younger brother of king Sivamara II Saigotta, and a son of Sripurusha Muttarasa Prithvipongni II. This Sripurusha ascended the Ganga throne in A. D. 726 and seems to have ruled upto A. D. 776. Eyerappa Duggamara does not seem to have set on the throne, but he was a viceroy of Kovalnād under his father on whose death he tried to establish himself against his elder brother Sivamara II[21]. Eyerappa was a devout Jaina and gave grants to the Jain temples. He is famous for his Arjneya temple grant which is undated and is assigned to the biginning of the 9th century A D.[22] It is quite probable that the Elacharya of the lithic record died when Eyerappa was a viceroy under his father. And thus the event seems to have taken place sometimes in the third quarter of the 8th century A D. Naturally, therefore he could not have been the same person as the disciple of Sridhardeva, who is placed by Narsimhacharya in the beginning of the 10th century and by Rice at the end of the 11th century A D

An incomplete copper plate grant dated A D. 807, hailing from Chāmrajnagar informs us that Ranavaloka Kamblaraja, when he was in his victorious camp at Talavanagar, granted at the request of his son Sanpargana the village of Vadanguppa (location specified) to the kind hearted, pious and learned Vardhamanguru the disciple of Elacharya guru who was the disciple of Kumarnandi Bhattaraka of Kunda kundachraya for the Srivijaya Basadi of Tolavanpur[23]. This record clearly shows that Elacharya the Guru of the recipient of a grant in A. D. 807 can easily us placed in about the middle of the 8th century A. D , and that quite probably he is our Elacharya. Moveover, he seems to be identical with the Elacharya of the lithic

19. M. A. R. for 1913-14, p. 38.
20. Saletore—Med. Jainism, p. 174 (n).
21. Ibid p. 25.; and Rice—My and coorg pp. 39, 55.
22. M. A R. for 1932, pp. 240-41.
23. M. A. R. for 1921, p. 31.

record referred to above. The Elacharya belonging to the early centuries of the Christian era and those belonging to the 10th and 11th centuries A. D. need not be considered.

As we have already seen, Svami Virsena completed his Dhavala in A. D. 780. He must have taken about thirty years to compile that 72000 slokas size volume. Virsena himself as well as Indranandi inform us that after taking leave of Guru Elacharya, Virsena came to Vatgrama and there devoted himself to the compilation of works[24]. Hence he must have been associated with Elacharya sometimes prior to A. D. 750.

Thus we now know that Chandrasena the disciple of Srisena flourished in the latter half of the 7th century A D. His disciple Ajjanandi or Aryanandi belonged to the first half of the 8th century A. D., and was the Diksha Guru of Swami Virsena who took to orders sometimes in the second quarter of the 8th century A. D. Elacharya, the disciple of Acharya Kumarnandi of kundkundanvaya, and the Diksha Guru of Vardhamana Guru taught Siddhanta to Virsena and was associated with him towards the middle of the 8th century A. D. He, however, died by Sallekhna (brave and pious mode of taking death), after a month's fast sometimes in the third quarter of the same century of the Christian era

---

24. Indranandi—Shrutavatara, verse 179

THE JAIN CANONS AND THEIR PLACE IN THE STUDY OF ANCIENT INDIAN CULTURE.

By

[Syt. Prof. J. C. Jain. M. A., Ph. D.]

(*Continued from Vol. XI, No. II, p. 24*)

Lastly, a reference must be made to a large number of Inscriptions that have come to light. The Mathurā Inscriptions belonging to the reign of Kaniṣka and his successors reflect that the Jain community had attained a highly developed stage in the first century A. D. In these inscriptions are given the names of the Patriarchs belonging to different Gaṇas (schools), Kulas (families) and Sākhās (branches), already referred to, which mostly coincide with the list of the teachers and the schools founded by those teachers as given in the Kalpasūtra of Bhadrabāhu. Thus we see that the tradition preserved in the Jain Canons is pretty old and contains much historicity and hence as Buddhist books have been used as materials for the history of Buddhism. there is no reason why we should distrust the Jain Canons as an authentic source of the Jain Church.

Modifications in the Jain Canons and their Authenticity.

It may be noted that there are references which go to show that the present Jain Canon is not the original Canon and has undergone considerable modifications. We have noticed that different names are ascribed to one and the same Canon* and the number of the Canons varies considerably. The famous commentators Sīlānka, Malayagiri and Abhayadeva point out different versions (vācanābheda) in the Canons stating that a number of the Sūtras had become corrupt (galitāni) and a number of them were unintelligible (durlakṣa)**. Then the contents of the Canons do not correspond

*Archeelogical Survey Reports Vol. III, Plates XIII-XV; Buhler: The Indian Sect of the Jains, PP. 42-60; Vienna oriental Journal Vols. III and V, article by Buhler.

*For example Rāyapaseṇaiya is rendered into Sanskrit by the names Rājapraśnīya (Malayagiri), Rājaprasenakīya (Siddhasena Gani) & Rājaprasenajit (Municandra Sūri), Becharadas. Rāya Intro P. 8 f. Jīvā bhigama 9-257 Tī. P. 449 a; Sūya Tī. II 2, 335 a; Rāya. Tī., P. 239; 259; 236 etc. Abhyadeva has recorded that it was most difficuit for him to explain the texts faithfully since they were full of mistakes, traditions were lost & there were different versions (Nāyā dhammukaha Prasarti; Thāṇā. Tī. P. 499 a.)

to the table of contents referred to in the Thānāṅga, Samavāyāṅga or Nandi[1]. For instanve, according to the commentary of Nandi (Sū. 51, P. 230 a), the Nāyādhammakahā contained three crores and a half Padas (apparently an orcaggeration) where as at present it contains only twenty chapters The commentator finding himself at a loss to explain this, simply refers to some old tradition on the matter. The same thing can be said regarding the number of padas of the Bhagavatī[2]. Then the Praśnavyākaraṇa does not correspond either to the title of the work or to the table of the contents as stated in the Thāṇāṅga (10, p, 484a) or the Nandi (Sū. 55, p. 233 af). Like the Praśnavyākaraṇa, the Antagaḍadasāo and a major part of Anuttarovavāiyadasāo also seem to have lost their texts since their present contents do not tally with those recorded in the Thāṇāṅga[3]. The names of the characters in the stories are quite different and the explanation given for this by Abhayadeva is the difference of Vācanā. The same incongruity is recorded regarding the Niryavali Srutaskandha (n ibid, p. 485 a.) Then, as we are told about the Jambudvīpa Prajñapti a portion of which is restored with the help of the Jīvābhigama and other Canons[4].

Besides these modifications and interpolations in the Āgamas, certain Canons or parts of the Canons have become totally obsolete and perhaps there is no possibility of their being restored now. We have already seen that the Dṛṣṭivāda was missing from the time of Sthūlabhadra. Then Mahāpariṇṇā, the seventh chapter of the Ācārāṅga does not exist any more; Dogiddhidasā and a portion of the remaining nine Dasās referred to in the Thāṇāṅga[5] are extinct now; the Pañcakappa is not available and some works of Kāliya and Ukkāliya Suya referred to above, are lost. Then some portion of Mahānisīha and some of the Painnās are missing. Besides, we do not see any supposed chronological order in the Canons pertaining to priority or posteriority of their compilation. On the other hand, the references of the Āgamas which are considered of late origin are

1, cf. the remark of Abhayadeva, Bhag. 1-P 10 Bechardas.
2. See Bechardas, Bhag. pt. IV, Introduction, P. 20.
3. 10, P. 482 a
4. Jambu. 2, P. 117 a.
5. 10, P. 484 a.

found in those which are said to belong to the early period. For instance, the Sūyagaḍaṅga refers to Uvavāiva[1] and the Bhagavatī to Pannavaṇā[2], Jīvābhigama[3], Jambuddivapaññatti[4], Rāyapaseṇijja[5], Uvavāiya[6], Nandi[7], and Anuogadāra[8].

Thus we notice that the present Canons have undergone considerable changes and hence certainly cannot be claimed on the original texts of the Canons. But at the same time it may be remarked that simply on this account the value of the canonical literature should not be minimised. As a matter of fact, the record of contradictory and inconsistent traditions and opinions in the Canons only prove that the Jains did not dare to make arbitrary changes in the texts but handed them down as faithfully as they could[9].

The Date of the Canons.

It should be borne in mind that the Jain Canons collectively do not belong to one particular period. In fact, each part of the Canon should be judged on its own merit after going through its contents carefully. We notice that certain Jain texts are ascribed to later authors by tradition itself For instance, the Pannavaṇā is ascribed to Ajja Sāma (Ārya Syāma) who is said to have lived 376 or 386 years after Mahāvīra's death. The Daśāśrutaskandha, the Piṇḍavijjutti and the Oghavijjutti are ascribed to Bhadrabāhu (2nd century after Mahavira's death) the Dasaveyāliya to Sejjambhava (Śayyambhava), who is counted as the fourth head of the Church after Mahāvīra, and the Nandi to Devardhigani, the President of the Council of Valabhī in the tenth century after the death of Mahāvīra (i. e. 5th century A. D.)

To sum up, the canonical works of the Jains have not originated at one period; their traditions can be traced back to Mahāvīra and his disciples, or to say more correctly to the period of Candragupta when tradition places the council of Pāṭaliputra. But afterwards the sacred books of the Jains had to undergo considerable changes

1. II. 1 P. 275 a.
2. 6-2.
3. 10-7.
4. 9-1
5. 8-2.
6. 9-6.
7. 8-2.
8. 5-4.
9. cf. Winternitz: op. cit. P. 434.

and as a result of which several works or portions of the works were added to them from time to time. Finally the Canons were written down by Devardhigaṇi in the fifth century A. D. which must be taken as the latest date of the Siddhānta.

The Exegetical Literature of Canons.

The exegetical literature on the Canons is very extensive, and it is impossible to interpret the Canons without the support of the commentaries. On the whole the commentary literature seems to be quite trustworthy since the commentators have tried to preserve the old traditions and the stock of tales and legends current in those days. The commentators while illustrating the tenets of the Canon have referred to old compositions (pūrvaprabandha, ancient traditions (vrddhasampradāya) and ancient explanations (vṛddha-vyākhyā), which is an evidence to prove their authenticity. The commentators have frequently quoted the difference of opinions (kecit) and wherever they have failed to give satisfactory explanation of the texts they have taken recourse to the authority of the order tradition (sampradāyaga) or the words of an omniscient being (kevalin).

The exegetical literature which includes some of the important commentaries such as the Bṛhatkalpabhāṣya, and its Vṛtti, the Vyavahārabhāṣya and its Vivaraṇa, the Nisītha cūrṇi, the Āvaśyaka cūrṇi and its commentaries, and the commentaries on the Uttarādhyayana. is undoubtedly a mine of rich treasure in itself. In these works we come across various customs ond beliefs prevalent in those days in different parts of India, various feasts and festivals, religious sects, wandering ascetics, descriptions of famines, robbers and dacoits, the inaccessible roads mountains and deserts, economic production, industry, trade-routs dress, ornaments, food, and various other matters of importance which have nothing to do with religion as such but are of general interest to the man on the street. The commentary literature is also important from the point of view of voluminous and comprehensive literature that it contains. According to Dr. Winternitz, many a gem of the narrative art of ancient India has come down to us by way of the Jaina commentary and narrative

literature, which would otherwise have been consigned to oblivion[1]. The commentary literature like the canonical literature is also important from the point of view of the history of Indian languages. The canonical literature and its earliest commentaries are written in Prākrta language which is very useful in tracing the history of the modern India and Vernaculars.

The commentarial literature on the Canons consists of four parts, viz. (1) Nijjutti, (2) Bhāsa, (3) Cuṇṇi, and (4) Ṭikā; including the Canons this literature is known as Pañcāṅgi or consisting of the five parts.

(1) *Nijjutti.*

The oldest explanatory literature on the sacred texts is represented by Nijjuttis which consit of a very concise explanation in verses These Nijjuttis contain a number of historical or legendary tales elucidating Jain doctrines and moral or disciplinary rules given in the Jain Canons. The Nijjuttis were probably memorial verses which were learnt by heart by the teachers who used them in their oral interpretation of the Canon[2]. It is suggested that since the Nijjutti is absolutely unintelligible without the support of the commentary, there must have been an extensive commentary where all tales and legends referred to in Nijjuttis must have been told at length[3]. But unfortunately we have no means to ascertain the existence and nature of these hypothetical commentaries and how far they were epitomised in the present Niryuktis[4]. The Nijjuttis served the foundation for several other later commentaries.

The following are the ten Nijjuttis: (1) Āyārāṅga, (2) Sūyagadaṅiga, (3) Sūriyapannatti, (4) Uttarajjhayana, (5) Āvassaya, (6) Dasaveyāliya, (7) Dasāsuyakkhandha, (8) Kappa, (9) Vavahāra and (10) Isibhāsiya. The tradition is unanimous in attributing the

1. Op. cit, P 487 Some of the stories of the cūrṇi literature are also found in the Jātakas, Kathāsaritsāgara Sukasaptati and Arabian Nights etc, see the author, introduction to his 'Atita kī kahāniyan' which is going to be published shortly.

2. Winternitz. op. cit. P. 483.

3. Jarl Charpentier op. cit. P. 50 f.

4. See Prof. A. M. Ghatage's article "The Daśavaikālika Niryukti", P. 629, I. H. Q., Vol. XI, 1935.

authorship of the Nijjuttis to Bhadrabāhu, who seems to be different from Bhadrabāhu, the last Srutakevalin and the author of the Cheda Sūtras, who died 170 years after Mahavira's death (i.e. 297 B. C.) When we study the contents of the Nijjuttis we notice that they refer to the later traditions. For instance the Uttarādhyayana Niryukti[1] refers to the story of the Bhadrabāhu's four disciples, and Sakaṭāla and Sthūlabhadra, and the Āvaśyaka Niryukti[2] to Bhadragupta, Ārya Siṁhagiri, Vajraswāmi, Tosaliputrācārya, Ārya Raksita, Phalgurakṣita and others, who were the successors of Bhadrabāhu. We also find a reference here to the origin of the Digambaras and seven schisms in the Jain church which undoubtedly represents the tradition much later than Bhadrabāhu, the author of the Cheda Sūtras[3].

(2) *Bhāsa.*

After Nijjutti comes Bhasa, the next chronological stage development in the commentarial literature on the Jain Canons. Like Nijjutti the Bhāsas were also written in Prakrt verses. However, it should be noted that a number of verses of Nijjutti and Bhāsa have so much intermingled with each other that it is difficult to distinguish from one another. This is corroborated by the statement in the commentary on the Bṛhatkalpa Bhāṣya (Pīthikā, p. 2, by Malayagiri where he refers to the same confusion between the verses of the Niryukti and Bhāṣya Similarly the verses of the Bhāṣya on the Dasaveyāliya have been uncorporated in its Niryutti (p. 278) and the same muddle is noticed regarding the verses of the Bhāṣya on the Āvassaya Sutta and its Nijjutti[4].

The following eleven Āgamas seem to have contained their Bhāsas :—(1) Āvassaya, (2) Dasaveyāliya, (3) Uttarajjhayaṇa, (4)

1. 91, 100.

2 764-776, also cf Uttarā. Nir. 96 f

3 See Muni Punya Vijayaji's article in the Mahāvira Jain Vidyālaya Rajata Mahotsava Smāraka Grantha, 1915-40: Jarl Charpentier's Introduction to the Uttarādhyayana Sūtra, P. 49 f. Bhadrabāhu. the author of the Nijjuttis placed in the fourth century A. D. (see Prof Ghatage, The Dasavaikalika Niryukti. P. 631, I. H. Q, XI, Dec 1935.)

4. See H. R. Kapadia, op. cit., P 172; Prof. A. M. Ghatge's article on Sūtrakṛtaṅga Niryukti in I. H. Q, Vol XII, 1936, P. 270 ff.

Kappa, (5) Pañcakappa, (6) Vavahāra, (7) Nisīha, (8) Pañca-maṅgala suyakkhandha, (9) Jīyakappa, (10) The Nijjutti and (11) Piṇḍa Nijjutti[1]. The Bhāsas on the Bṛhatkalap Sūtra, Vyavahāra Sūtra and Niśītha Sūtra are very important as they contain most valuable information regarding various topics, particularly the life of monks and nuns and the society of these early days. The Bhāṣya on the Bṛhatkalpa Sūtra is written by Saṅghadāsagaṇi Kṣamāśra-maṇa; most of the Bhāsas, however, are anonymous.

(3) *Cuṇṇi.*

After Bhāsa comes cuṇṇi, an intermediate stage between the two periods. Bhāsa on one hand and the Tīkā on the other. Cuṇṇi is an intermixture of Prākṛt and Sanskrit languages pointing out an important era in the history of the Jain annals when slowly and slowly the Sanskrit was taking the place of Prākṛta in the history of the Jain literature.

The following Āgamas contain cuṇṇis: -(1) Āyāra, (2) Sūyagaḍa, (3) Viāhapannatti, (4) Jivābhigama, (5) Jambuddivapannatti, (6) Nisīha, (7) Mahānisīha, (8) Vavahāra, (9) Dasāsuyakkhandha, (10) Kappa, (11) Pañcakappa, (12) Oha Nijjutti, (13) Pañcamaṅgala Suyakkhandha, (14) Jīyakappa, (15) Uttarajjhayaṇa, (16) Āvassaya, (17) Dasaveyāliya, (18) Nandi, (19) Anuyogadāra and (20) Pakkhiya Sutta[2] out of these a very few cuṇṇis have seen the light of the day so far. Some of them have been edited by Muni Ānandasāgar from Rutlam. A cyclostvted copy of the Nisīha cuṇṇi is edited by Ācārya Vijaya Prema Sūrīsvara is available in same of the Bhandaras and Libraries. Most of the published cuṇṇis are ascribed to Jinadāsa-gaṇi Mahattara. Out of the available cuṇṇis the Āvassaya and Nisīha are most important as they contain most valuable treasure of information from the point of view of Jain history and culture. The Nisitha refers to Ārya Kālaka, a contemporary of King Sālivāhaṇa of Paiṭṭhāṇa, who proceeded to Persia (Pārasakūla) and returned with ninety-nine Kings (Sāha) to take revenge on King Gaddabhilla of Ujjeni, who is said to have abducted his sister and kept her in

1. H. R. Kapadia, op. cit., P. 187.
2. ibid., P. 190.

his harem. The Āvassaya cuṇṇi records a tradition of flood in Sāvatthi after thirteen years of which Mahāvīra attained kevalahood[1]. It also refers to important kings and princes contemporary of Mahāvīra and various other traditions. The cuṇṇis are also important from the point of view of Philological Studies.

(4) *Ṭīkā.*

Haribhadra Sūri (705-775 A. D.) was a most distinguished and versatile writer, who is considered to have written for the first time the commentaries on the canons in Sanskrit, retaining the Prākṛt narrative in their original form He has written commentaries on Āvassaya, Dasaveyāliya, Nandi and Anuyoga. He is also said to have written a commentary on the Pannavaṇā which is lost now[2]. After Haribhadra comes Sīlārika Sūri, who lived about a century later and wrote commentaries on the first two Aṅgas with the help of Vāharagaṇi in about 862 or 872 A. D He is also said to have written commentaries on the remaining ten Aṅgas which are lost now Then we come to the commentaries Vānivetāla Sānti Sūri and Devendragaṇi, otherwise known as Nemicandra Sūri, in the eleventh century. They wrote separate but enhanstive commentaries on the Uttarādhyayana retaining the narratives in Prākṛt in the manner of Haribhadra Sūri. The famous Abhayadeva Sūri also belongs to this period. He wrote commentaries on nine Aṅgas (III—XI) and the Ovāiya. His commentaries on the latter and the Nāyādhammakahā were revised by great Droṇācārya, the author of the commentary on the Ogha Niryukti. Then cames Maladhāri Hemacandra, a senior contemporary of ācārya Hemacandra and a pupil of Abhayadeva, who commented on Anuyogdvāra Sūtra Malayagiri was another important author who wrote commentaries on six Upāṅgas (I—VII). His commentary on the Jambuddīvapannatti is said to have been lost, and that on the Pannavaṇā is based on Haribhadra's. He also wrote commentaries on Vyavahāra Bhāṣya, Piṇḍa Niryukti, Āvaśyaka Sutra, Bṛhatkalpa Bhāṣya (incomplete), and Nandi. He completed his commentary on Nandi in

1. cf. the same tradition is also recorded in the Maccha Jātaka (I, No. 75).
2. The com. of Malayagiri on Pannavaṇā, P. 611.

1235 A. D.[1] Kṣemakīrti completed the commentary on the Bṛhatkalpa Bhāṣya in 1276 A. D. Then Vijayavimala wrote his commentaries on the Tandulaveyāliya and Gacchācāra in 1576 A. D; Sānticandra, a pupil of Hīravijaya on the Jambuddīva Pannatti in 1594 A. D., and Samayasundaragaṇi on the Kalpa Sūtra in the 17th century A. D. Besides a large number of Dīpikās, Vivṛtis, Tikās, and Avacūris were written on the canomical literature of the Jains, several of which do not exist now. In the Tīkā literature, the commentaries on the Āvassaya, Uttarajjhayaṇa, Bṛhatkalpa, Bhāṣya, Vyavahāra Bhāṣya, Sthānāṅga, Bhagavati, Jambudvipa Prajnapti and Kalpa Sūtra are most valuable since they have recorded various important traditions.

Thus the Jain canons and their commentaries which extend from the second century B. C. to the seventeenth century A. D., throw immense light on various aspects of ancient Indian culture and hence a thorough study is needed of this literature.

---

1. Winternity op. cit., P. 592.

Note :—Though the author has tried his best to explore the literature at his disposal yet his representation is based only on one side of the Jain literature. He has not touched at any stage the original Digambra Jain literature, which undoubtedly forms the most valuable and rich part of the treasure of Indian wisdom.

—*Editor.*

THE PURĀṆIC AND HISTORICAL REFERENCES IN THE APABHRAṂŚA STANZAS OF HEMACANDRA.

By

[Prof. Sibendranath Ghosal, Bangabasi College Calcutta.]

(*Continued from Vol. XI, No. II, p. 40*)

Posibly, Vedavyāsa is refered to in the verse, who is the arranger of the Vedas, the Mahābhārata and the Purāṇas and is the founder of the Vedanta philosophy. Since it is impossible for a single man to be the compiler of both the Vedas and the Purāṇas there having elapsed at least several centuries between the conclusion of the former and the composition of the latter it is well assumed that there were different Vyāsas at different times and the attribution of the different works to one person has arisen from a desire to heighten their antiquity and authority. The name Vedavyāsa or Vyāsa occurs in almost all the ancient works, as the sage occupied a very exalted position in the heritage of Hindu religion and culture "The Purāṇas mention no less than twenty-eight Vyāsas, incarnations of Vishnu or Brahmā who desended to the earth in different ages to arrange and promulgate the Vedas." (Hindu Classical Dictionary P. 370 by John Dowson) But at present, due to want of authentic records it is impossible to trace any life-history of the different Vyāsas. Only we can know in fair details the account of the son of Parāsara and Satyavati, who is so gloriously extolled in the Mahābhārata and occupies a most distinct place into it. Vyāsa mentioned in the verse is surely a staunch upholder of Vedic rites, which lie at the very roof of the Brahmanic creed and culture and he preaches the doctrine of devotion, particularly to one's own mother, who is reverently considered to be the Goddess incarnate in all the works of Hindu moral sciences. In the Brahma-vaivarta Purāṇa occur the following lines:—which are also quoted in the Vācaspatya abhidhāna:—

व्यासः पुराण सूत्रञ्च पप्रच्छ वाल्मिकं यदा ।
मौनीभूत स सस्मार त्वामेव जगदिम्बकाम् ॥
तदा चकार सिद्धान्तं त्वद्वरेण मुनीश्वरः ।
संप्राप निर्मल ज्ञानं भ्रमान्धध्वंसदीपकम् ॥

पुराणसूत्रं श्रुत्वा स व्यासः पञ्चकलोद्भवः ।
त्वां सिषेवे प्रदध्यौ च शतवर्षञ्च पुष्करे ।
तदा तत्तो वरं प्राप्य स कवीन्द्र बभूव ह ।
तदा वेद विभागञ्च पुराणञ्च चकार ह ॥ ब्र.वै.पु. ४ अध्याय: ।

The last line is to be carefully observed in which it is emphasised that the one and the same Vyāsa arranged both the Vedas and the Purāṇas. Such a statement, as we, have already observed, can hardly be justified ,and we must reluctantly admit, that it is subject to a most adverse criticism.

In the two following verses, we find a reference to Yamaloka and Yamagṛhiṇi respectively :—

गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास-गउ सो जमलोअ जिणेप्पि ॥ 442 2.

("He who dies after having visited the Ganges and Benares (शिवतीर्थ) conquers यमलोक and enjoys pleasure in heaven.")

पइं मइं बेहिं वि रण-गयहिं को जयसिरि तक्केइ ।
केसहिं लेप्पिणु जमघरिणि भण सुहु को थक्केइ ॥ 390.3.

("When you and I both are on the battlefield, who (else) would expect to gain victory? Say, who would be at ease by pulling Yama's wife in her hair.") Such a belief that the virtuous conquer the yamaloka, where the wicked go to be punished by yama after death is purely Purāṇic in origin In the Vishṇu Purāṇa we find, however, a very graphic description of the different hells, over which yama rules and, in which the wicked are hurled Yama, who is the Judge of the worldly activities of all the beings punishes the unfortunate sinners, but conducts the good, the virtuous to Swarga (Indra's heaven) an abode of eternal bliss. We find such descriptions copiously in the different Purāṇas and they were exaggerated with a view to dissuade people from committing any sin and to guide them to the right track of virtue and righteousness It is interesting to note that though yama is a Vedic character, such a description of his judging the human conduct lacks in the Vedas. Yama is said there to be the God of the dead, with whom the spirits of the departed dwell. In a hymn it is said that yama "is the first of men that died, and the first that departed to the (celestial) world." Dr. Murr observes. "But yama is no where represented in the Rigveda

as having any thing to do with the punishment of the wicked......the hymns of that Veda contains no prominent mention of any such penal retribution......Yama is, still, to some extent an object of terror. He is represented as having two insatiable dogs with four eyes and wide nostrils, which guard the road to his abode, and which the departed are advised to hurry past with all possible speed. These dogs are said to wander about among men as his messengers, no doubt for the purpose of summoning them to their master, who is in another place identified with death, and is described as sending a bird as the herald of doom." D.S.T.V. 302.

We find in the second verse, a reference to यमगृहिणी i. e. 'wife of Yamas' needless to mention that such a conception of Yama's wife occurs only in the later Purāṇas. From the Purāṇas, indeed, we come to know the names of the wives of Yama, who are Hema-mālā, Susīlā and Vyayā. In the Bhabiṣya Purāṇa we find a very interesting description of Yama's marriage with Vijayā who was successful in her endeavour of rescning her old mother from the terrible grip of the cruel toturer of the hell. No such conception of the wife of Yama, is found before the composition of the Purāṇas. In the Rig-Veda, we find, however, a mention of a twin-Sister of Yama, called Yami, who tried to exact her brother's love for the perpetuation of the human species. But the legend of Yamī is in no way connected with the conception of Yama's wives, who are so beautifully described in the later period. From the verse, quoted above, it is not possible to know anything about the wife of Yama. Only what we understand is that the speaker—a hero is too strong for his enemy, and the latter cannot save himself from the attack of his rival, as one incurring the displeasure of Yama by pulling the hair of his wife, cannot protect himself from Yama's retaliation.

The word Lakṣmī occurs in the verse following :—

एत्तहें तेत्तहें बारि घरि लच्छि विसण्टुल धाइ ।
पिअ-पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिं व ठाइ ॥ 433.1.

("Fortune is fickle and runs here, there, at the door, in the house, and does not stay firm at any place like the fair maid away from the lover.')

Here Lakṣmī may be interpreted also as the goddess of fortune, besides fortune itself. As she is noted for her fleetingness, she is rightly called cañcalā the fiekle", the goddess Lakṣmī does not occur in the Rig-Veda, but the word is used there in the sense of 'good fortune', 'prosperity' etc. Possibly in the later period when Lakṣmī was deified, the character of good fortune which is anything but permament was attributed to her...."in the Atharva Veda the idea has become personified in females both of lucky and unlucky character. The Taittiriya Saṃhita, as explained by the commentator makes Lakṣmī and Śrī to be two wives of the Āditya, and the Satapathaḥ Brāhman describes Śrī as issuing forth from Prajāpati." (H. D. dict. P. 176.) So the Atharva Veda and the others had nothing to do with Lakṣmī as the 'goddes of fortune' which was developed further later in the days of the Purāṇas. In the Rāmāyana however, Lakshmī is regarded as the "goddess of prosperity", along with 'love' and 'beauty.' When a man is growing rich it is said that Lakshmī has come to dwell with him; whilst those in adversity are spoken of as 'forsaken of Lakshmī.' So this conception of Lakshmī, the origin of which can be traced in the Rāmāyana, grows popular as the Purāṇas grew in number and many legends became connected with her, who as the wife of Vishṇu, an important duity of Purānic pontheon, was worshipped with much devotion.

Kāma, 'the god of love' is mentioned in the verse following and we find there also a reference to the sharp arrow with which he pierces the hearts of the young

रिवं जिवं वंकिम लोअणाहं णिरु सामलि सिक्खइ ।
तिवं तिवं वम्महु निअय-सर खर पत्थरि तिक्खेइ ॥ 344.1.

("The more does the darkish (young women = श्यामता) learn the crookedness (side-glances) of the eyes, the more does the God of love sharpen his arrows on sharp (hard) stone.")

He is called also मकरध्वज, which is referred to in the stanza

चलेहिं चल-न्तेहिं लोअणेहि जे तइं दिट्ठा बालि ।
तहिं मकरध्वय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥ 422.14.

["O young girl, those that are seen by you with your quick side glances, are attacked by the God of love even before they attain youth (अपूरइ कालि)"].

Rati, who is noted in the Purānas as a devoted consort of kāma and a co-worker in the enterprises of her husband, is mentioned below though here is no reference to any of her actions.

सीसी सेहरु खणु बिणिम्मविदु
खणु कण्ठि पालंबु किदु रदिए ।
विहिदु खणु मुण्डमालिए जं णणपण
तं नमहु कुसुम-दाम-कोदण्ड कामहो । 446.1.

["Bow down to the bow of cupid which is made of the wreath of flowers—the bow which he makes into a chaplet on his head for a moment, which he keeps hanging on the neck of रति for a moment and which he places on his head for a moment."]

In the Purāṇas thousands of legends have wound round the deity of Kāma, who gained popularity in a far later period, though he had his origin in the Rig-Veda In the Rig-Veda Kāma is described as the first movement that arose in the one after it had come into life through the power of fervour or abstraction. In the Atharvaveda Kāma who is in no way connected with sexual love is celebrated as a great power superior to all other gods, and is invoked for deliverance from the enemies. There he is also identified with Agni; while at another place (in the same Veda) he is called to be the first desire and also the power that gratifies the desire It is curions to note that though in the Atharvaveda the conception of Kāma has nothing to do with sexual love, in one of the hymns of the Rig-Veda, this aspect is connected with the deity, as he is clearly mentioned there to be the 'god of sexual love.' Hence in the Rig-Veda occurs such an address: 'May kāma having well directed the arrow which is winged with pain, barbed with longing, and has desire for its shaft, pierce thee in heart. It is to be observed that bow and arrow, with which kāma is equipped, is referred to as early as in the days of the Rig-Veda. In the Purāṇas this aspect has been developed and when in the days of the Purāṇas there were anthropomorphic conceptions of the deities, kāma was described, as a young boy decorated with flowers all over the body and bearing shafts and bow, which are also made of flowers. In the Bhāgavata, Vishṇu purāna and others, the stories of kāma are elaborately treated and in the "Vāmana Purāṇa" we find a lengthy, account of the effect of kāma's arrows.

As Purāṇas grew in number, the story of the birth of kāma began to vary. The conception of Rati, who is the wife of Kāma, and who assisted the latter in instilling the passion of love into the mind of great God 'Śiva' is purely Purānic in origin. Possibly this conception of the God of love is Pre-Indo-Aryan (in origin,) as Eros of the Greaks and the Cupid of the latins have a counterpart in Kāma of the Old-Indo Aryan.

The following verses refer to the eclipse of the moon by Rāhu.

मुह कवरि वन्ध तहें सोह धरहिं ।
जं मल्लजुज्झु ससि राहु करहिं ॥
तहें सहहि कुरल भमर-उल-तुलिअ ।
जं तिमिरडिम्ब खेल्लंति मिलिअ ॥ 382 l.

["Her face and the braid of her hair (rolling on it) bear respectively the beauty of the moon and the Rāhu engaged in fight, her curly locks of hair comparable to swarms of bees. look beautiful as if children of darkness, having gathered together are playing."]

जं दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसङ्कु ।
पिअ-माणुस विच्छोह-गरु गिल गिल राहु मयङ्कु ॥ 396.1.

["When the unchaste women saw the eclipse of the moon, they laughed fearlessly, (and said) O Rāhu, do do swallow the moon that agitates the beloved person."]

The account of Rāhu's swallowing of the moon seems to be Purānic in origin. In the different Purāṇas the story is amplified with beautiful descriptions, which bespeak the poetic insight and ingenuity of the versifiers. As in those days anthropomorphic description of the deities was a fastion with the poets and the propagators of religion, Rāhu has been described mostly as a black man riding on a lion. He is further said to have four arms and a tail hanging at the lower part of the body. He is a demon and is called Saṃhikaya, as he was the son of Sinṇhika and Bṛhaspati, according to the "Hindu mothology", but Vipracithi, according to the Hindu Classical Dictionary. However, both the fore-quoted verses presuppose a knowledge of the legend of the churning of the ocean and the severance of Rāhu'a head from the body by Vishṇu. In the Vishṇupurāna occurs "Eight black horses draw the dusky chariot of Rāhu, and once harnessed are attached to it for ever. On

the Parvans (nodes or lunar and soler eclipses) Rāhu directs his course from the Sun to the Moon, and back again from the Moon to the Sun." Though the legend of Rāhu's swallowing of the Moon **is believed** to be originating in the days of the Purānas, the word Rahu and the phenomenon of eclipse were not something new at that time. In the days of the Brāhmanas and the Upanishads, they were probably well known. Even in the days of the Rig-Veda, Rāhu and the eclipse caused by his agency, were popular objects as in the third Aṣṭaka of the same Veda occurs the following verse, which betrays a knowledge of the both.

यत्वा सूर्यं स्वर्भाणु स्तमसाविध्यमासुर: ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यऽन्ये अशक्नुवन् ॥

Here Rāhu is said to have eclipsed the Sun with darkness—a fact which may be possibly connected with the description of the dusky chariot of Rāhu, which we find in the Vihṇupurāna.

The great God 'Siva' occurs in the stanza :—

जेप्पि असेसु कसाय बलु देप्पिणु अभउ जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झायविणु तत्तस्सु ॥ 440.1.

["Having conquered the whole army of possions, having offered protection to the world, having taken the great vow and having meditated upon the highest truth, (the sages) attain bliss."]

His consort 'Gāuri' too is mentioned in the following :—

आयहिं जम्महिं अन्नि वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तहं चत्तङ्कुसहं जो अभिडइ हसन्तु ॥ 380.3.

("O Gouri, may you give me in this life and also in another such husband *who smilingly meets maddened elephants unmanagable* (even) by means of goods.")

The annotator of the Bom. edition translates Siva as 'bliss'. Such an interpretation of the deity, as one of its attributes, rather than the God himself. which developed in the Purāṇic period, points to the later origin of the approach. The history of the deity "Siva" is very much interesting and a brief description of the same is not irrelevant in the present context. The diety Siva is unknown in the Rig-Veda, where is mentioned only 'Rudra, the terrible', who sometimes stands for Agni and is called to be the father of the Maruts. From this Vedic Rudra the God Siva with later characters developed. The

deity Rudra, who occurs also in the Satarudriya hymns of the Yayurveda, is said there to 'auspicious' and not 'terrible which was emphasied in the earlier work. But curiously enough, the Atharva-veda which has an affinity with the later hymns of the Rigveda describes him to be fiercer, "dark, black, destroying terrible" and maintains in this aspect, a continuity with the latter.

In the Brāhmaṇas, Rudra, still occupies an important position and there occur legends which account for the peculiarity of his name. There it is distinctly mentioned that he had seven other names, which he received from his father Prajāpati and which are Bhava, Śarva, Pasupati, Ugradeva, Mahāndeva Iśana and Asani. In the upanisads in which attempts have been made to discern one unifying principle in the diversity of forces and one God immanent, but at the same time transcendental, Rudra is exalted to the position of the Brahma of the Vedānta. So we find there such expressions as "He is the only Rudra, he is Iśāna, he is divine, he is Maheswara, he is Mahādeva." In these upanishads indeed, Siva appears for the first time. So we find there such uttarances as "He is without beginning, middle or end; the one, the pervading, the spiritual and blessed, the wonderful, the consort of Umā, the supreme lord, the three-eyed, the blue-throated, the tranquil......He is Brahmā, He is Śiva, he is Indra, he is undecaying, supreme self-resplandant; he is Vishṇu, he is breath, he is the spirit, the supreme lord!" So it is evident that the Vedic Rudra is transformed into Śiva in course of centuries and in the Purāṇic days the latter gains so much popularity, that the former is relegated to a very negligible position and finally to oblivion. In the very upanishads, it is observed that Śiva had two opposite characters, which are further developed in the Purāṇas. He is both the destroying principle and the agent of reproduction, furious and transquil, Mahākāla and Śiva. As inordinate emphasis is laid on tranquillity, the latter aspect of his character which leads to a transcendental bliss, and which the great God is believed to have enjoyed, Śiva is not restricted to the deity alone, but is used to signify the super mundane serenity of mind, which is attainable only by the remunciation of worldly contacts. The poet of the Apabhraṃśa verse has used the word in this sense

and followed the tradition which was coming down from a very ancient time. Gouri. who is described to be the consort of Śiva is his female energy i. e. Śakti. Like Śiva, she too, had two opposite characters, one mild and the other fierce. The word Gouri refers to her mild aspect—but she is worshipped more under the opposite character, as she the very energy incarnate, appealed to the minds of her devotees. The goddess is Purāṇic in origin and it is difficult to find out any counterpart of her, in the Vedas or the Brāhmaṇas.

In the verse following, Brahman is mentioned though we find here nothing stated about him.

वम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वङ्ग-छइल्ल ।
जे वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते वइल्ल ॥ 413.1.

("Oh Brahmin (misprint for Brahman) rare are those persons who are good or clever in all respects. Those who are crooked are great deceivers those (the?) that are straight-forward are bulls (dull.)")

As Brahman may stand both for Brahma, the personal God who developed in the Purāṇic period and the all-pervading eternal spirit of the Vedantas it is very difficult to ascertain as to who is intended here by the poet. The God Brahma, who gained supremacy in the Purāṇas, is not even mentioned either in the Vedas or the Brāhmaṇas. In the Śatapathaḥ Brāhmaṇa Brahma (menter) is used, but the God is invested with powers, specially the act of reproduction, which is said to be a function of the made counterpart of the deity. In the later period. i e. in the days of the Purāṇas. Brahma appears as one of the most important deities with limited spheres of action but Brahma becomes on abtractions, a spirit, nay a principle that unifies the divergent phenomana of the universe.

Prajâpati, is refered to in the stanza that runs:—

जइ सो घडदि प्रयावदी के त्थु वि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥ 404.2.

("If the coreator fashions persons after having learnt the art from somewhere, then he may fashion in this world a person similar to her.") Prajapati is translated here as creator as the act of creation is ascribed to him since the very days of the Rigveda. In the different Vedas the term is sometimes applied to Indra, Savitri, Soma,

Hiranyagarbha and sometimes to the other deities. It certainly points to a state in which the deity Prajapati was just being conceived and had not yet grown to be a fullfledged personal God, in which character he appeared later. In the later period, when the Purāṇas were being composed and legends were winding round the deity in thousands, the God merges into Brahmā and both appear as one. Further later, Prajāpati signified the Rishis, the sages, who varied from seven to twenty-one in number, according to the statements of the different Purāṇas.

The siddhārtas, the Jinabara, and the Tirtheswara Śānti are mentioned in the following verses respectively :—

अज्जवि नाहु महुज्जि घरि सिद्धथा वन्देइ ।
ताउँ जि विरहु गवक्खेहि मक्कड घुग्घिउ देइ ॥ 423.3.

("My husband is still in the house saluting the holy images of Jinas (has not yet gone out in a journey), and still seperation acts like monkey (peeps inside like a monkey, through the windows.)

पेक्खेविणु मुहु जिनवरहो दीहर नयन सलोणु ।
नावइ गुरु मच्छर भरिउ जलणि पविसइ लोणु ॥ 444 3.

("On seeing the face of जिनवर having long eyes and possessing beauty salt is very much jealous and entires fire ")

जेप्पि चप्पिणु सयलधर लेविणु तवु पालेवि ।
विनु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणे वि ॥ 441.2.

("Who except the तीर्थङ्कर शान्ति is able in this world to conquer and then abandon the whole earth, to take the vow and observe it ")

The siddhārtas, who are twenty-four in number, occupy an unique position in the heritage of Jaina religion and culture. In some manuscripts of the Kalpasutra, a detailed description of their life history occurs, while in others, only that of Mahāvira, Pārswanath and Rishava is discussed. The western scholars, who have very little faith in the accounts of the indigenous historians, evince a tendency to reject forthwith, whatever do not appeal to their critical minds. Some of the accounts of the Kalpasutra too, have been similiarly taken to be doubtful by them. In this connection, we quote the observations of J. Stevension which deserve a careful study," The few particulars we have of the other Tirthaṅkaras are most likely were fictions, founded on no solid traditions The only

three historical characters I conceive to be Rishabha, who practised austerities in very ancient times, which (was) in after ages imitated; Pārsvanāth, the real founder of the sect, and Māhabira who carried its principles out to their atmost limits." Introduction to the translation of Kalpasutra and Navatattva F.N.P. 99. It is needless to go into the details of their life-history, as from the context of the verse, we know nothing about them and their achievements in the history of their faith.

The word 'Jinabara' deserves a consideration here, as we cannot determine from the contents of the verse whether the poet intended some particular Tirthaṅkara, referred to above, or any Jain sage, who frees his mind from worldly attachments by meditation, obtains Nirvāṇa—a state of perfect bliss and perfect knowledge at death and finally reaches the highest heavens, called Siddhaśila by becoming a perfect Jina. We cannot come to any conclusion from a strey reference like this.

Shrī Hemchandracharya is a Shwetambar. It would be much better had the learned writer heveled references from books of Digambaras and Apabhransh or Prakrit literature also, The above article has been based mainly on Hindu-Puranas, For the clear understanding and comprehensive exposition of such subject as this, it is absolutely necessary to give quotation equally from different granthas of different philosophical Schools. *—Editor.*

The Jain Chronology.

By
[Syt. Kamta Prasad Jain, D.L., M.R.A.S]
(*Continued from Vol. XI, No II, p 9*)

No.	Period & Date	Events
152	103 A. D.	The Nanjangud Inscription of King Konguṇi Verma of the Ganga Dynasty (No 110) was inscribed in this year. (EC III).
153		Siṃhanandi Āchārya, the preceptor of the princes Dadiga and Mādhava Konguṇi Vermā flourished, who founded the Ganga Dynasty at the instance of their preceptor.
154	132 A. D.	Smith Gova (Gopa) son of Siha set up an image of *Saraswati* at the instance of the Vāchaka Āryya Deva of the Koṭṭiya gaṇa (JA, XI pp. 1-4).
155	138 A. D.	Renowned Digambara Jaina pontiff Samantabhadra flourished, who travelled all over India preaching the religion of the Jinas. "It is told of him that in early life he performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhanā; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith." No doubt he proved to be so and was a great scholar and logician, renowned disputant and Law preacher. The Jainas believe that as a reward of his peoñs deeds Samantbhadra will born as a

No.	Period & Date	Events
		Tîrthankara in a future cycle of Time. [Swāmî Samantabhadra (M.G. Bombay) pp. 115 ff].
156	Kusan Period.	A Jaina Āyāgapaṭṭa was set up at Kośāmbî (Kosam) in the reign of King Sivamitra for the worship of Arhatas by Śivapālita at the instance of Sthivirā Baladāsā, who was the female disciple of Śivanandi. —UPJS. p 25.
157	200 circa.	Bhavaḍa an enterprising Jaina trader flourished at Kāmpilya. —SJI, II 2, p. 59.
158	"	"The epigraphical records......show that until the 2nd or 3rd century A. D practically all royal and private benevolences were bestowed upon Jaina and Buddhist institutions and that patronage of Brahmanas, as such, and of Brahmanical deities did not begin until after that time. —Havell (HARI, p. 147).
159	260 A. D.	Mayurśarmā, the descendant of Mukuṇṇa of Ahichchhatra founded Kadamba dynasty at Sriparavata. —SJI, III, 2, 19.
160	249 to 260 A. D.	Kalachūri dynasty was founded. Most of the Kings of this dynasty patronised Jainism. —MPJS. p. 3.

No.	Period & Date	Events
161	300 circa.	*Paumacariya* of Vimalasûri, the oldest Prākrata poem, assigned to this date by Prof. H. Jacobi Ref. HKL., p. 36.
162	370 A. D.	The Matur copper-plate of Śrî Mādhava Verma of the Ganga dynasty was inscribed recording the gift of the King of the village Kumarpar to Ācārya Viradeva of Mûlasaṃghar for the temple of Arhat at Peravolal. —Ep. Car. X No. 73.
163		Vakragrivācārya explained the meaning of the term 'Atha' (अथ) for six months continuously. - Madras. PJS, p. 269.
164	3rd & 4th centuries	"The capital of the Gupta emperors became the centre of Brahmanical culture, but the masses followed the religious traditions of their forefathers, and Buddhist and Jaina monasteries continued to be public Schools and Universities for the greater part of India." —HARI. p. 156.

To be continued.

'CONTEMPLATION' IN JAINA SCULPTURE.

By

Prof. N. V. Sarma, M. A.

It is hardly necessary to preface this short note with a warning not to be misled by the nomenclature 'Jaina Sculpture.' When we use this term it is only for the sake of convenience and with full knowledge that any such classification of Indian Art on the basis of religion is a travesty of History of Indian Art. This mistake was originally committed by Fergusson in his History of Indian Architecture. The fundamental fallacy underlying such a classification was pointed out by authoritative art—critics like Buhler, Smith and Coomarswamy. The writer of these lines had occasion to refer to this point at some length in a paper of his published sometime back in this very Journal.

The 'Yogī' type of image is common to Indian Sculpture whether inspired by Brahmanism, Buddhism or Jainism. Uudoubtedly the credit must go to Buddhism, more than Brahmanism or Jainism, for familiarising the world with this type of Sculpture Be that as it may, this expression of contemplation in stone has evoked the unstinted praise of discriminating scholars and art-connoisseurs. Images of this type of fankly Jaina inspiration share fully the encomiums paid to this achievement of Indian Sculpture.

It is a unique feature of Indian Sculpture that it could translate into stone with equal success the dynamism and stasis of creation and eternity. The secret of the former, illustrated in the familiar figure of 'Nataraja', has only been recently mastered by Europeon sculptors like Rodin and the contemporary artist Epstein. Perfect stasis as expressed in images in the state of 'Samādhi' is an accomplishment of Indian artists not to be met with in the works of artists of any other country. But we shall return to it presently.

Before we discuss the artistic excellence of such images we should like to draw the attention of scholars to a misconception regarding its remote origin.

Some scholars, among whom Sir John Marshall may be mentioned in patricular, try to trace it as far back as the Indus Civilization period of Indian history. In his monumental work, "Mohenjodaro and the Indus Civilization" (1931), Marshall has discussed in detail the only stone image yet discovered at Mohenjodaro which can definitely be said to be that of a deity It is a white steatite head and bust, now about seven inches in height but once much larger as the lower part of it is missing. The peculiar half-shut eyes are regarded by Marshall to represent a state of 'Yoga' or contemplation.

It must be noted in this connection that it is a highly improbable and far-fetched suggestion. Similar eyes have been noticed in some very early clay figures from Kish and Ur. Even a superfical study of this stone image will convince any connoisseur that it is hardly the archetype of the images under discussion

While refusing to link the tradition of this branch of Indian Sculpture we can not doubt that it had the deepest moorings in the aesthetic conception of the Indian mind, attaining perfection at the hands of Buddhist and Jain sculptors. The inherent strength of Indian art lay in the fact that, like Indian Philosophy, it had the most intimate contact with religion and life. The state of 'samādhi' translated into stone by Indian sculpturs reflects the importance which was attached to contemplation, if the word is at all capable of connoting the full implications of 'Samadhi', in the spiritual life or religions of the Indians.

We propose to base our generalisations, now, with reference to the "Āyāgapata, 'tablet of worship', with Jina". found at Mathura (circa 1st. century A.D) We shall confine ourselves to the study of the central figure, absorbed in contemplation, leaving aside the decorative designs, ornamentations, sacred symbols or the pillars which form a fitting frame-work for the central dise. It goes without saying that what is true of this figure is in a large measure applicable to most of the images of this type.

There is a plethora of platitudinous statements aboût the spiritualism and expressionism reflected in such figures. Let us first delve into the mystery of this spiritualism of such figures. Our task will

be easier if we study one such figure closely, our preference having already been indicated.

The stasis of the figure, the cessation of all action reflected in the expression of the image, is something quite superficial. What is glibly termed as stasis is in reality, parodoxical as it might seem, nothing but extreme dynamism. This dynasism is kinetic in nature and not unnaturally quite liable to be mistaken for stasis. The muscular relaxation of the figure is almost cancelled by the half-shut eyes, tight lips and the position of the hand and feet which seem to be canalising all energy and activity inwards.

It is an astonishing feature of such images that it is these more than all other types of male figures found in Indian sculpture that exhibit the ideal proportions of a man. The broad shoulders and the slender waist approximate to modern standards for the ideal male physique even more than Greek Sculpture which is difficult to be surpassed in anatomical exactitude and attention to all that is beautiful in the human figure. The aesthetic concinnity of realism and expressionism is remarkable in such figures in general and this Jina image in particular

Rothenstein, that superb artist and accomplished critic is ecstatic in praise for such an exquisite plastic interpratation of spiritual absorption. In his Introduction to 'The Examples of Indian sculpture', he rightly remarks that "This concrete crystallisation of a spiritual mood was developed into a form so perfect and inevitable that it remains, after more than 2000 years, one of the most inspiring and satisfying symbols erected by man."

Jaina Sculpture had sufficient creative genius to make the people fearless of the dictum "Where there is no vision the people perish".

THE ANCESTORS OF KHĀRAVELA.

By

Syt. B Kamta Prrsad Jain, D.L., M R.A.S.

The Jaina King-Emperor Khāravela of Kalinga is famous equally for his quick war-compaigns, bravery, statesmanship and religious piety. But it is a pity that little is known about his ancestors. In his famous Hathigumphā inscription, he styles himself as Aira, Mahārāja, Mahāmeghavāhana, Kalingādhipati Khāravela of the third dynasty of Kalinga, which was established by King Cheta or Chaitra[1]. In the last line of the said inscription, it is mentioned that Khāravela descended from a family of the dynasty of royal sages[2].

The late-lamented MM. Dr. K. P. Jayaswal wrote about Khāravela's dynasty that:—

"The name of the dynasty of Khāravela is after his predecessor Cheta-Rāja, King Cheta (or Chaitra) We cannot be sure that Khāravela was King Cheta's son; we can only say that he belonged to Cheta's family and was a successor to him. As Mr Banerji points out in his note, '*Khāravela's Kula*' (family) is described in the last line of the inscription; 'to have come out of a Rājarishi stock' This denotes that King Cheta's family must have been a branch of some well known dynasty of the Aryavarta. This leads me to suspect that *aira* might be representing *aila*, the famous dynasty of early Hindu India King Cheta must have flourished between the death of Asoka and the Yuvarāja rule of Khāravela, 182 B.C."[3]

Later on however Dr Jayaswal altered his reading and read the word "Cheta" as "Cheti" and declared that King Khāravela belonged to Chedi family of Dakṣiṇa Kauśala. Be that as it may; but, however, the literary evidence corroborates Dr. Jayaswal's earlier reading, according to which it was established that Khāravela was styled as

---

1. ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतराजवसवधनेना·········कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन ।

2. राजसि-वस-कुल-विनिश्रितो ।

3. The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol. III, pt. IV, p. 435.

'Aira', being the scion of the famous dynasty of Aila and was a descendant of King Cheta or Chaitra. It is evident from the Jaina '*Harivaṁśa-purāṇa*' that King Abhichandra, who was a descendant of King Aileya of Harivaṃśa, founded Chedi-rāṣṭra near the Vindhyāchala mountain. His queen Vasumati was from the Ugra-vaṁśa and he was succeede by his son Vasu, who violated the vow of truth and intrepreted the meaning of word 'aja' in a wrong manner, which brought-forth the innovation of bloody sacrifices[4]. Thus the connection of Chedirāṣṭra with Aileya (= Aila?) is apparent and as such it is more probable that our King-Emperor of Kalinga might have been styled as 'Aila' since he is said to belong to Cheti or Chedi dynasty. Most of the descendants of King Aileya adopted the vows of a naked Jaina Śramaṇa in their after-life[4] and hence their dynasty is rightly styled as a family of royal sages. But, however, it has been contended elsewhere and said that "the intention of using two words 'vasa' and 'Kula' in 'Rājasi-vasa-kula-vinisrito' is not understood unless 'vasa' is taken to be the name of a person. Certainly we do find an illustrious emperor Vasu by name in the Chedi country[5]." In the 'Mahābhārata' (Ādiparva, Ch 62) he has been styled to be a Rājaṛiṣi and hence it can be probable that he is identical with the person seems to had been named in the above line of the Hāthigumphā inscription Ofcourse, the Jaina tradition do not hold King Vasu in veneration; although he is described in it also as a powerful and illustrious King. It is with regard to his after-life the Jainas disagree. But we must not forget that King Khāravela is mentioned in the inscription as 'a King who respects every sect.' (सब पासंड पूजको). In the begining of Hathigumpha inscription he seems to have been compared with King Veṇa, who was converted to Jainism and was not held in high esteem by the Vedic Brāhmanas[6] and in the closing line probably Khāravela is connected with King Vasu of Chedi family, who was his kinsman. It is apparent from the Jaina Harivaṁśa purāṇa that Vasu was the son of the founder of Chedi-rāṣṭra and a famous King of that line, as

4. Harivaṃśapurāṇa, Ssrga XVII, Sl. 1-39 and my article in the JBORS., XV. 277-278.

5. JBORS., XVI. p 193.

6. Padmapurāṇa, Bhūmikhand, ch. 37-38.

referred to above. If we accept this hypothesis than it becomes clear that King Khāravela was a descendant of King Vasu, who belonged to the famous dynasty of King Aileya and was the son of Abhichandra, who established Chedi-rāṣṭra.

Khāravela's epithet of Mahāmeghavāhana also denotes this very thing; for, it is obvious from the Hindu Purāṇas that there once ruled a dynasty at South Kauśal, which was known as Meghas. (मेघा इति समाख्याताः)[7]. In the Jaina tradition as well, the Meghavāhana Kings are said to have ruled in South India[8].

Now let us see, if there is any reference in literature about Khāravela's ancestor King Cheta or Chaitra. In an Oriya Kāvya namely 'Prāchī-Mahātmya', the story of a Chitra Chāḍāla is given[9]. It is told in it that Chitra Chānḍāla founded a village on the bank of the river Prāchi in Kalinga He was devoted to all *Janas* and married a Brāhmaṇa girl by name Utapala; but luck did not favour him and he had no son. The couple died without any issue, who could have succeeded them. They were so very remembered by the people that the river came to be known as 'Chitrotapalā' in the whole country of *Utkula*. "Chitraka" and "Utpala" *lingas* were established on its both banks and the water become sacred It is commented upon this story that :—

"Now let us see what is meant by the word 'Chāṇḍāl' used as a qualifying epithet after 'Chitra', when he is introduced in the Prāchī Mahātmya. Surely it has not been used to convey the sense of contempt or to emphasize low origin, as the idea of holiness and reverence associated with his name is too apparent in the subsequent passages to admit of it.. ...On the whole, his life was so spotless that even the orthodox Hindu author of Prāchī Mahātmya could not help breathing a breath of admiration over it ... Buddhist of Orissa were divided into three sects one of which was being called "Chānḍāla" It is pretty certain that the word "Chānḍāla" appearing after 'Chitra' has been used in this technical sense and is intended to signify his non-Vedic faith. Chitra was devoted to all *Janas*. It is highly probable that the author of Prāchī Mahātmya actually used "Jina", which in course of time when the

7. JBORS., III. 483.
8. Nāyakumāracariu (Karanja), pp. 85-86.
'दाहिणमहिवहि वङ्कियविपन्न ।'
मेहउरि मेहवाहणु यरिंदु-पिय मेहवाल रइकइयवाल
9. JBORS., XVI. 194-195.

people at large forgot all about its technical or real significance, the subsequent Mss. writers changed it into "Janas". In any case, it is beyond doubt that Chitra had a strong inclination towards Jainism and most probably was a Jaina himself... ..it appears that towards the end of the 13th. century A. C. the people of Orissa at large forgot all about the nice distinction between Jainism and Buddhism and began to classify the followers of both the faiths, together under the general category of Buddhist[10]."

Viewing the above assertion, it seems to be the fact that Chitra of the Prāchî Mahātmya was a Jaina devotee and a ruling chief as well. As such, his being identical with Cheta or Chaitra, who was an ancestor of Khāravela is possible. In the Jaina tradition we find that among the devout Vidyādharas of the Jaina persuasion there were also those who were styled "Chāṇḍālas" or "Mātangas"[11] and so Chitra, being devoted to the Jinas and being perhaps connected anyhow with the Vidyādharas, is styled as Chāṇḍāla. Details of the Prāchi Mahātmya, ofcourse, cannot be treated as historical facts.

The Jaina tradition also comes forward to vouchsafe the story of Chitra In the Jaina literature we find a work namely "Chitrasena-Padmāvati-Charitra", in which the story of Prince Chitrasena is narrated. He was the son of King Virasena of Vasantpura Paṭṭana in the country of Kalinga[12]. His intimate friend was the minister's son Ratnasāra. However the King got enraged with his son Chitrasena and in a fit banished him from his country. Ratna-sāra, as a true friend, accompanied him to the forest. While roaming about in the forest they went to a Jina temple; in which Chitra saw a beautiful image of a blooming princess whom he resolved to marry Ratnasāra helped his friend and having come to know from an omniscient saint that it is the image of princess Padmāvatî who is the daughter of

10. Ibid.

11. Harivaṁśapurāṇa, Sarga 26 ślokas 14-24. It seems that Chitra ruled over these Vidyādharas and so he was styled 'Chāṇḍāla'

12. 'वसुधातलविख्यातो देशो नाम्ना कलिङ्गकः ।'

× × ×

'तत्रास्ति क्षिति शृङ्गारं वसन्तपुरपत्तनम् ।'

× ×

'उदारमानसस्तत्र वीरसेन नरेश्वरः ।'

—इत्यादि

King Padmaratha of Ratnapura they proceeded thither. However the friends managed to get the princess Padmāvatī married to Chitrasena in an open Suyaṁvara. As the identity of Chitra was not known to the Kings and princes assembled, they, challanged him and exchanged swords blow with him. In his roamings Chitra encountered Vidyādharas and got a few 'Spells' (Vidyās) from them. It was with the help of those *Vidyās*, he came out successful in the skirmish and his identity was disclosed. He went back with Padmāvati to Vasantpura, where his father installed him on the throne, and he himself became a Jain monk, when Tīrthankara Mahāvira happened to visit the town of Vasantpura. Thence-forward, with Ratnasāra as his minister, Chitrasena ruled over Vasantapura. "He always strove to do good to his people and led a pious life full of meritorious deeds such as charity, worship of the Jinas and the like." Once King Chitra heard that Siṃhaśekhara of Siṃhapura had revolted and waylaid travellers, he became enraged and marched against the offending chieftain. While he was encamped near Daṇḍaka forest, he encountered with Hemamālī and Ratnacūda Vidyādharas. Ratnacūḍa was overpowered by him and presented him a magic cot which flew in sky and a rod that could kill and bring again to life anybody. Then Chitra resumed his march against his enemy, the King of Siṃhapura and conquered him with the help of the magic rod. He appointed Siṃhaśekhara as his governor in Siṃhapura and returned to his capital. He passed his remaining life in observing the twelve vows of a Śrāvaka with his wife Padmāvati and they always paid homage to Jaina Śramaṇas. Queen Padmāvatī was renowned for her vow of chastity, for which she went through an ordeal succesfully. With the help of the magic cot, they visited various Tīrthas. One day King Chitrasena paid homage to sage Damasāra and listened to his sermon. Truth went through his heart and he renounced the world. His son Dharmasena succeeded him. Queen Padmāvatī and Ratnasāra also joined the Order and in due course they all attained Nirvāṇa. Such is the purport of the story of Chitrasena and Padmāvatī.

It is obvious from it that King Chitrsena of Vasantapura was a ruling chief in the country of Kalinga itself and as such he can be identified with Cheta or Chaitra Rāja of the Hāthī-Gumphā ins-

cription. It was his territory which Khāravela increased, for which he was styled as 'Chetarāj-Vasa-Vadhana.' Moreover the following facts also lead us to and substantiate our this finding :—

1. Chitra was the prince of the ruling chief of Vasantapura-paṭṭana, which was situated in Kalinga and was a famous port. It was located either on the bank of a river or on seashore[13]. Hence it was but natural for Khāravela, the descendant of Chaitra to expand his ancestral dominion. We have a parallel example of this fact in the person of King Śreṇika Bimbasāra of Magadha; whose ancestors ruled from a small hamlet in the country of Magadha, yet he succeeded in founding the big and strong empire of Magadha[14]. Similar seems to have been the case with Khāravela; whose ancestor Chitra or Cheta ruled from Vasantapura, but Khāravela made great achievement, for which he came to be known as "Kalinga-Chakravarti."

2. Chitrasena was connected matrimonially with the King of Ratnapura. This Ratnapura, if identified with its namesake in the territory of Kalachuri Kings[15], then of course we have reason to believe that Chitra can be identified with Chetarāja; since we know that Khāravela had ancestral relations with Southren Kauśala, where the Kalachuri Kings ruled and where Ratnapura was situated in Chedi-rāṣṭra.

3. The fact that Chitrasena subdued Siṃhaśekhara of Siṁhapura, justifies our identification of Chetarāja with Chitrasena, since we know that Khāravela is also described as to have made a similar encounter with the ruler of Simhapur and married his daughter[16].

13. 'तत्रास्ति क्षिति श्रृङ्गारं वसन्तपुरपत्तनम् ।'
'यत्र काशः सरित्तीरं कलियंत्र वना-तरे ।'

Epithet of 'Pattana' denotes that it was a port.

14. Early History of India, p. 33

15. Bhārata ke Prāchina Rājavaṃśa, I, 56. Ratnapur was the capital of Kalachūri Kings in mediaval period; but it seems that it had been a seat of ruling chiefs since an ancient period

16. "It was apparently a princess of this Kingdom that Khāravela of Kalinga married. In such a case Simhapura would be the capital of the Gangetic Kalinga."

—Some Contributions of South India to Indian
—Culture, p. 34.

JBORS, IV. 378.

Thus the relations with Simhapura of the dynasty of Khāravela were of remote period. Simhapura was situated in the tract of Gangetic Kalinga.

4. Lastly the religious belief of Chitrasena and his observance of vows befittingly illustrate the life of Khāravela; for, he was also a follower of Jainism like Chitrasena and observed the vows. Ofcourse Chitrasena adopted the life of a Jaina monk and became a Rājaṛiṣi.* So rightly is styled his family as 'a dynasty of royal sages' in the Hāthiī-gumphā inscription.

Therefore we are justified to identify Chitrasena of Jaina tradition with Chetarāja or Chaitrarāja, the ancestor of Khāravela. The Prāchī-mahātmya also corroborates this conclusion.

SOME EPIGRAPHIC EVIDENCE BEARING ON THE ŚVETĀMBARA AND DIGAMBARA DIVISIONS.

By

[Syt. K. D. Bajpai, M. A.,]

Curator, Curzon Museum, Muttra.

Although according to the Jaina semi historical tradition there had already appeared a division in the Jaina community as early as the fourth century B. C. which became almost manifest by the end of the first century A. D. in the form of two sub-sects Śvetāmbara and the Digamabara, yet as far as the epigraphic evidence is concerned we do not find this difference pronounced for a long time. Even granting that there was a divergence between the two sects in the early centuries of the Christian era it may be observed that for a long time the difference remained nominal. It was only in the late Medieval period that the gulf between the two became wide enough so much so that each of them began to mention its name on record in order to claim its clear cut distinction from the other. The inscriptions where an explicit reference to this distinction can be sought are all later than the 9th century A. D. I shall briefly deal here with such epigraphic data which throw light on this important problem of Jaina religion.

In the provincial Museum, Lucknow, there are two colossal Tīrthaṅkara images exhibited in the Jaina Hall. They were both discovered from the Kankali Tila, Mathura. Both the Tīrthaṅkaras are seated in Dhyānamudrā. The first image (No. J. 143) dated in Vikrama Saṁvat 1038 (=981 A. D.) is complete and well-preserved while the second (No. J. 145) dated in V. S. 1134 (=1077 A. D.) has both its arms broken. The inscription on the pedestal of the first image (J. 143) reads as follows :—

संबत् १०३८ कार्त्तिकशुक्ल एकादश्यां

श्री श्वेताम्बर [माथुर] संघेन पश्चिम……

कार्या श्री देवनिर्म्मित प्रतिमा प्रतिष्ठापिता ।

The inscription on the 2nd (J. 145) image runs as below :—

संवत् ११३४ श्रा स्वेतांबर श्री माथुरसंघ
श्रीदेवनिर्मितप्रतिमा कारितेति ।

From both these inscriptions it is clear that there was a group of people at Mathura known as the Māthura Saṁgha (माथुर संघ) which was follower of the Śvetāmbara branch of Jainism. By this Māthura Saṁgha were these two images installed in the temple which was then located in the central of the present Kankali Tila where these images have been found. The first image was set up in 981 A. D. while the second was installed in 1077 A. D., thus the difference of time between the two being 96 years. It is interesting to note that both the images are called *Srīdevanirmita* which would literally mean 'made by Srī Deva.' In view of the fact that there is a long difference of 96 years between the two, as is clear from their inscriptions, it seems improbable how one and the same sculptor made both these images. Apart from the difference in their bodily structure there can be observed some distinction in paleography also of the two inscriptions which are engraved on the pedestals of these images. It is, therefore, more likely that the two images were incised by two different sculptors in different periods, or it may be suggested that the phrase *Srīdevanirmita* should be taken to mean *Śrīderāyanirmita* or Śrī Devasya nirmita, that is, made in honour of Śrī Deva (Jina).'

From the archaeological explorations carried at Kankali Tila, Mathura, in 1888-91 it has come to light that from about the beginning of the 10th century A. D. there was distinct separation between the two sects of the Śvetāmbaras and the Digambaras, who had their temples side by side in the present Kankali mound. The first invasion of Mathura by Muslims under Mahmud of Ghazni took place in A. D. 1018. The first image described above was installed 37 years before while the second was installed 59 years after this invasion. It apears that the Muslims allowed the temples of the Śvetāmbaras and the Digambaras to exist for some time more after their first onslaught.

We find another reference to the Śvetāmbara sect in an epigraph from western India, which is almost contemporary to the records mentioned above. In the Kalavan (Nasik dist., Bombay Presidency) plates of the time of Paramara Bhojadeva I and his feudatory

Yaśovarmman dated 1048 A. D.[1] it is stated that one chief named Rāṇaka Amma of Gaṅga family, after hearing from illustrious Ammadeva Āchārya of the Śvetāmbara sect about 'the *dharma* and *adharma* and also having been convinced that this particular *Jina dharma* [Śvetāmbara] is superior to other *dharmas* in this and the other world in producing good results, made a donation of land on the occasion of a solar eclipse... .. ..after having washed the feet of the Jina with water from hands of his wife, queen Chachchai, who was born in the Chālukya family He also made a perpetual endowment in coin and kind for repairs of a Śvetāmbara temple in honour of Muni Suvratadeva. The relevant portions of the inscription are given below.

श्री अम्मराणकेन श्वेताम्बर श्री अम्मदेवाचार्य मुखाख्यात धर्म्माधर्म्मागमवाक्यप्रबोधित-चित्तेन मुख्यजिनधर्म्ममन्यधर्म्मादिहपरलोकशुभकृद्दानमिति। विचिन्त्य जातमनसा ....
.... श्रीकलकलेश्वरं पुण्यतीर्थे .... सूर्यग्रहणे ....
चालुक्यान्वयप्रसूतधर्म्मपत्नी श्री चच्चाई राज्ञी करगृहीत निक्षिप्तजलेन पादौ प्रक्षाल्य भूमिरियं दत्ता। .... लुप्तजीर्णोद्धारं कृतं आचन्द्रार्क कालं यावत् श्वेतपट[2]-जिनालये श्रीमुनिसुव्रतदेवाय निवेदिता।

Not only the Śvetāmbaras but also the Digambaras freely used to mention the name of their sect on records which can be dated from 10th. century onwards To quote an instance, in the famous Sāsbahū temple of Gwalior there is an inscription of Kachchhapaghāta Mahīpāladeva, in which it has been stated that the epigraph in question was composed by Maṇikaṇṭha Sūri, son of Govinda and grandson of Rāma and was written by his friend *Digambara* Yaśodeva, who is eulogized as a good poet of all languages—

प्रतापलङ्केश्वरवाग्विलासीयां विभ्रत्सुहृत्तां मणिकण्ठसूरेः।
अशेषभाषासुकविर्लिलेख वर्णान्यशोदेव दिगम्बरार्कः॥

The inscription is dated in V. S 1150 (=1093 A. D.)

There is another inscription on a fourfold Tīrthaṅkara (सर्वतोभद्रिका) image discovered at Kaṅkali Tila and now deposited in the Lucknow

1. Edited by R. D. Banerji in *Epigraphia Indica*, vol. XIX, pp., 69-75.

2. Mr. R. D. Banerji reads it as *Śvotapada* and takes it as the name of the country round about Nasik. But, as Dr. D. R. Bhandarkar rightly points out (*List of Brahmi Inscriptions*, no. 2085. f. n) the term is *Śvetapa'a* (=Śvetambara) and not *Śvetapada*.

Museum. It was dedicated in V. S. 1080 (= 1023 A. D.). Though it is not mentioned in the inscription as to who installed the image but from its makeup and its find-spot it is clear beyond doubt that the image was set up by the Digambaras at the site of whose ancient temple it was found.

In the vast number of Jaina images and stray records of Kushāṇa, Gupta and Early Medieval periods we do not find such reference to Śvetambara or Digambara schools which may warrant us to prove any striking division in the Jainism. It is only from the 10th. century onwards that we find in epigraphic sources the divergence between the two schools growing wider and more complicated. In this respect Jainism offers a contrast both with the Hinduism and the Buddhism where a number of sects and subsections sprang up even from the early centuries of the Christian era and their distinctive elements were explicitly pronounced in the contemporary general literature and inscriptions.

REVIEW.

Jinaratnakoṣa, (Vol. I) Prof. H. D. Velankar. The Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona; 1944. Price Rs. 10/-. pp. 466.

An alphabetical register of Jain works and authors in the lines of the well-known *Catalogus Catalogourm* by Th. Aufrecht was a desideratum. Late-lamented Kumār Devendra Prasad of Arrah endeavowed for it and gathered many an index of various Jaina Bhandārs; but he could not complete it Now this very valuable work has been done by Prof. Velankar. He worked hard for full 20 years and have achieved success. The vast field of Jain Literature still requires search Old Bhandaras are to be opened and examined. But the pity is that no constitutional effort for this is being done by the Jainas; they have been indifferent to this vital necessity and failed to get compiled an exhaustive *Catalogus Catalogourm* of the extant Jain Works. Recently Pandit Jugal Kisorji is endeavouring in this respect and we hope, his efforts will crown with success. In such conditions Prof. Velankar's work is most welcome, as it will help scholars in the study of Jainism In it Jain works in Sanskrit and Prakrata are recorded alphabetically, with the information of their respective location and publication. Some works of Hindi and Kanarese are also named in it. Although this work is not an exhaustive treatise on the subject, yet it is first of its kind. Many Jain works, mostly Digambara ones, are omitted in it. But on the whole the work is most commendable and it can be said that by its compilation Prof. Velankar has rendered a great service to Jainism. He deserves our heartiest congratulations.

—K. P. Jain.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं —

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस., डी.एल.
पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण,
पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यरत्न

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १३ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XII No. II

Edited by

Prof Hiralal Jain, M. A., LL B
Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
B Kamata Prasad Jain M.R.A.S., D.L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR INDIA.

Inland Rs. 3. Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/8.
JANUARY, 1947.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १३] [किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २००३

विषय-सूची ।

—:०:—

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १३ | जनवरी, १९४७। माघ, वीर नि० सं० २४७३ | किरण २

कविपरमेश्वर या परमेष्ठि

[ले०—श्रीयुत् डॉ० आ० ने० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट्]

भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसे कितने ही प्रसिद्ध ग्रंथकार हैं, जिनका नामस्मरण उत्तरकालीन ग्रंथों में बार-बार किया गया है; किन्तु उनके बारे में न तो हमही कुछ जानते हैं, न उनके ग्रंथ ही आजकल उपलब्ध हैं। कविपरमेश्वर या परमेष्ठि एक ऐसेही ग्रंथकर्त्ता हैं। इस लेख में आप के बारे में कनडी और संस्कृत साहित्य से अब तक मिली हुई कुछ ज्ञातव्य बातों का संकलन किया है।

आदिपंप (लगभग ९४१ ई०), अभिनवपंप (११०० ई०), नयसेन (१११२ ई०), अग्गळ (११८९ ई०) और कमलभव (ल० १२३५ ई०) इत्यादि प्रसिद्ध कन्नड कवियों ने बड़े आदर से तार्किककवि समन्तभद्र और वैयाकरणी पूज्यपाद इन दोनों के साथ कविपरमेष्ठि का उल्लेख किया है[1]। इतना ही नहीं, आदिपंप ने तो इनके साथ 'जगत्प्रसिद्ध' ऐसा विशेषण लगाया है—

> **श्रीमत्समन्तभद्र—**
> **स्वामिगळ जगत्प्रसिद्ध-कविपरमेष्ठि- ।**
> **स्वामिगळ पूज्यपाद-**
> **स्वामिगळ पदंगळीगे शाश्वतपदमं ॥**

(आदिपुराण १-१५, मैसूर १९००)

> **कविपरमेष्ठिगळ गुण-**
> **स्तवनंगळ् पूज्यपादयतिपतिय गुण- ।**

१ कर्णाटककविचरिते, भाग १, बेंगलूर १९२४, पृ० १, ४-५.

स्तवनंगळोमें नालगे-
गे बंद मानवन वाङ्मलं निंदपुदे ॥

(रामायण १.११)

श्रीमत्समन्तभद्र-
स्वामिगळ नेगळ्तेवेत्त कविपरमेष्ठि- ।
स्वामिगळ पूज्यपाद-
स्वामिगळ पदंगळींगे बोधोदयमं ॥

(धर्मामृत १.१४, मैसूर १६२४)

समनिके गन्मासदोळ्
समंतभद्रांघ्रिनखग्कांतिजळं म- ।
समळिनकविपरमेष्ठि-
क्रमकमळं पूज्यपादपदनखकुमुदं ॥

(चंद्रप्रभपुराण १.२०, मैसूर १६०१)

भवहरसमन्तभद्रर-
कविपरमेष्ठिगळ पूज्यपादर कारु- ।
ण्यवरेण्यदुग्धवार्धियो-
ळविरतमिर्केम्म चित्तमत्तमराळं ॥

(शांतीश्वरपुराण १.२०, मैसूर १६१२)

अन्य कवियों ने भी कवि परमेष्ठि का उल्लेख व्यक्तिशः किया है। गुणवर्म द्वितीय (ल० १२३५ ई०) ने अपने पुष्पदन्त पुराण (मद्रास १६३२ ई० अ० १ श्लो० २६) में कहा है, कि पुष्पदन्त का मुख निरुपम सरस्वती से सुन्दर था। इनकी स्तुति विद्वानों ने की थी। यह एक दूसरे परब्रह्म ही थे, और निःसंशय वे पुराण पुरुष थे :—

निरुपम सरस्वतीसुं-
दरचतुराननशेषविबुधस्तुत्यं ।
परमब्रह्मनेनल् कवि-
परमेष्ठि पुराणपुरुषनेंबुदु पुसिये ॥

पार्श्वपंडित (१२०५ ई०) ने अपने पार्श्वपुराणमें 'गुणज्येष्ठ' विशेषण के साथ कवि-परमेष्ठी का उल्लेख किया है।

निष्ठापरस्वदिं पर-
मेष्ठिस्तवनमननूनमं माडि गुण- ।
ज्येष्ठनेमिसिर्पे कविपर-
मेष्ठि गुणस्तवनमेमगे दल् करणीयं ॥

(मैसूर १९१४)

नेमिचन्द्र (ल० ११७० ई०) अपने नेमिनाथ पुराण (मैसूर १९१४ ई० अ० १ श्लो० १५-१६) में कवि परमेष्ठी के संबंध में दो बातें कहते हैं। उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों के बारे में एक पुराण लिखा था, और ब्रह्मा और सरस्वती उनकी सेवा करते थे—

जिनरपुराणंगळोळों-
दने बरेदोडे बरेदेवेंबरी भुवनं जी- ।
येने बरेदिरिसिदरिर्पे-
त्तुनाल्कुमं पोगळे सुकविपरमेश्वररं ॥

सुकविपरमेष्ठिगळ ना-
टकवेनिसिद भुवनवंद्यवरविद्यार्ता-
र्थकरत्वपुण्यलक्ष्मिगे
सकळश्रुतदेवि यक्षियत्तं बोम्मं ॥

इससे पूर्वकाल में चामुण्डराय (९७८ ई०) स्वरचित आदिपुराण (बेंगलूर १९२८) में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कविपरमेष्ठी ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण लिखा था। इसी तरह पृ० ६ पर वे कहते हैं, कि पूर्वकाल में कूचि भट्टारक और श्रीनंदि मुनि ने महापुराण लिखा था, और अपना चामुण्डराय पुराण कविपरमेश्वर, जिनसेन और गुणभद्र के ग्रंथों के आधार से ही लिखा गया है।

चरितपुराणदोळोंदने-
बरेदर् बरेदिक्किदर् त्रिषष्टिशलाका- ।
पुरुषपुराणमं कवि-
कविपरमेश्वररंतु जसके नोंतुरुमोळरे ॥

विरचिसिदर् मुन्ने महा-
पुराणमं नेगळद कूचिभट्टारकरुं ।
परम श्रीनंदिमुनी-
श्वररुं तदनंतरं जिनागमतिलकर् ॥

कविपरमेश्वरर् बरेदुदं जिनसेन महामुनीशरी-
यवनिगे पेळ्दु माळ्पे गुणभद्रमुनीश्वररेय्दे पेळ्दु प-
ल्लविसिदुदं त्रिषष्टिपुरुषप्रतिबद्धपुराणमं महो-
त्सवदोळे भव्यकोटिगरियल् बरेदं गुणरत्नभूषणं ॥

उत्तरपुराण के अन्त में गुणभद्र ने[१] कहा है, कि जिनसेन का आदिपुराण कविपरमेश्वर के गद्यकथा के आधार से रचित हुआ है।

कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।

जिनसेन (ल० ८३७ ई०) ने भी पूज्यभाव से कविपरमेश्वर का, जिन्होंने संपूर्ण पुराण का संग्रह किया था, जिसका नाम संभवतः 'वागर्थसंग्रह' होगा, उल्लेख किया है।

स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत् ॥
(आदिपुराण १.६०)

इस वाङ्मयीन उल्लेखों के अतिरिक्त ई० स० १०७७ के हुम्मच के शिलालेख में भी[३] अनेक जैन गुरु और कवियों के साथ कविपरमेष्ठी का उल्लेख मिलता है।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट होता है, कि नवमी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक भिन्न २ ग्रंथकारों ने कविपरमेश्वर का स्मरण आदर से किया है। कविपरमेश्वर एक प्रसिद्ध श्रेष्ठ और प्रामाणिक कवि थे। साथ ही वाणी पर उनका अबाधित प्रभुत्व था। उन्होंने त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के बारे में एक पुराण लिखा था, जो कि गुणभद्र के कथनानुसार गद्यकथा थी और जिनसेन ने आदिपुराण के लिए उसका उपयोग किया था। जिनसेन के उल्लेख से मालूम होता है, कि इसका नाम शायद 'वागर्थसंग्रह' था, और चामुण्डराय ने अपने चामुण्डरायपुराण के लिए इसका उपयोग किया था। समंतभद्र और पूज्यपाद के साथ कवि परमेश्वर का उल्लेख होना उनकी श्रेष्ठता का स्पष्ट प्रमाण है।

उन उत्तरकालीन ग्रंथकर्त्ताओं के संकेतों से, जिन्होंने अपने अपने ग्रंथ बनाते समय उनका उपयोग किया है, कविपरमेश्वर के बारे में हम इतना ही जानते हैं। उनका काल हमें निश्चित रूप से मालूम नहीं है[४]; फिर भी इतना तो कह सकते हैं, कि वे जिनसेन के पूर्वकालीन हैं और जिनसेन ने अपनी जयधवला ई० स० ८३७ में पूरी की थी।

---

२ पं० प्रेमी—जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० २५२, ४६७, इत्यादि; प्रो० हीरालाल—धवला की प्रस्तावना।

३ एपिग्राफिया कर्नाटिका, ८, नगर नं० ३५:

४ आर० नरसिंहाचार्यजी कविपरमेश्वर को समंतभद्र और पूज्यपाद के बीच में रखते हैं, और उनका समय ई० ४५० मानते हैं। यह अनुमान मात्र ही है।

अभी तक कविपरमेश्वर का ग्रंथ किसी श्रुतभण्डार में उपलब्ध नहीं हुआ है। फिर भी हम आशा करते हैं, कि दक्षिण में कितने ही श्रुतभण्डार अपरीक्षित हैं जिनमें कहीं न कहीं वह ग्रंथ मिल भी जावेगा। फिल हाल चामुण्डराय पुराण का एक अंश[५] (शांति-पुराण) प्रसिद्ध हुआ है। सुदैव से चामुण्डराय ने कविपरमेश्वर का उल्लेख कर नीचे लिखे हुए श्लोक उद्धृत किए हैं—

कविपरमेश्वरर वृत्त।

रामत्वं गणभृत्त्वमप्यभिमतं लौकान्तिकत्वं तथा
षट्खण्डप्रभुता सुखानुभवनं सर्वार्थसिद्ध्यादिषु।
इन्द्रत्वं महिमादिभिश्च सहितं प्राप्तं न संसारिभिः
तत्प्राप्तो भवहेतुसंसृतिलताच्छेदे कुतः संयमः॥

कविपरमेश्वरर श्लोक।

कषायोद्रेककालुष्यं व्रतदर्शनमत्तपः।
दूषयत्यचिराद्राजन् ततः क्रोधादि वर्जयेत्॥

त्यागेन लोभं क्षमया प्रकोपं
मानं मृदुत्वेन मनोहरेण।
ऋजेन मायामृजुनाभिवृद्धिं
नरेन्द्र हन्यात्परलोककांक्षी॥

स्थूलेषु दयां प्राणिषु करोति सूक्ष्मेषु विलसदनुकम्पाम्।
आरम्भाहतकर्मसु गृहाश्रमी निष्प्रतिज्ञानः॥

चरणादवनाल्दमपा विषया नानादपि प्रजासुवदा।
तदवनये वर्धितां न चिरं संसारभाक् नृपती[६]॥ [?]

हिंसातः प्राणिनोऽन्यायाद्राजदण्डेन वारयन्।
संचिनोति व्रती पुण्यमहिंसायाः समार्जितम्॥

अल्पानल्पापराधेषु तद्योग्यानपि दण्डयन्।
खचरेन्द्र महापुण्यं समाधत्ते नृपः कृती॥

---

५ कन्नड साहित्यपरिषत्पत्रिके, भा० २१, मार्च-जून १९४४, पृ० २३, २८.

६ श्लोक सदोष मालूम होता है।

एंद हिंसाव्रतमनरपि

तत्सुसाधुवचः सत्यं प्राणिपीडापराङ्मुखम् ।
येन सावद्यकर्माणि न स्पृशन्ति भयादिव ॥
नाग्निर्दहत्युग्रशिखाकलापस्तीव्रं विषं निर्विषतामुपैति ।
शस्त्रं शतद्योतविभूषणत्वं सत्येन किं ते न भवेदभीष्टम् ॥

एंदु सत्यव्रतमनरपि

परस्वार्जनमन्यायं प्रकाशस्तेनमुच्यते ।
नृपते चोरयंल्लोके वञ्चकस्तेन संस्मृतः ॥
इह जन्मनि तद्राजन् व्यक्तमख्यातिवर्धनम् ।
विचित्रदुःखसंपादि परत्र च विशेषतः ॥
अधर्मसंग्रहोऽन्यायान्नृपस्यान्यस्वसंग्रहः ।
प्रजाविद्वेषणीयश्च जायते येन कर्मणा ॥

एंदस्तेयव्रतमनरपि

परदारपरावृत्तो वर्तते यः क्षितीश्वरः ।
सम्यग्विहितकरकमलमुकुलैर्देवैरपि स प्रणमनीयः ॥[७] [?]
स्वदारगतमभ्येत्य मात्रयानुभवन्नृपः ।
भवेत्स्वार्थपरः कामं जनानां चोपदेशकः ॥

यह कहना कठिन है, कि सिर्फ आरंभ ही के श्लोक कविपरमेश्वर के हैं या सभी। ये सभी उद्धरण संस्कृत में हैं और पद्यरूप में है। एक श्लोक छंदोदृष्ट्या सदोष है, और उसका अर्थ भी ठीक नहीं बैठता है। चामुण्डराय ने कविपरमेश्वर के ग्रंथ का उपयोग किया था और यह अच्छी बात है कि उनके नामनिर्देश से कई उद्धरण दिये हैं।

इन उद्धरणों से एक बात स्पष्ट है कि कविपरमेश्वर का ग्रंथ संस्कृत में पद्यबद्ध था। अब तो एक और कठिनाई उत्पन्न होती है। क्योंकि गुणभद्र ने कविपरमेश्वर के गद्य ग्रंथ का उल्लेख 'गद्यकथा' जैसा किया है। संभव है कि वह चम्पू ग्रंथ होगा। जिसमें इतस्ततः पद्य होंगे, और सुभीते के लिए चामुण्डराय ने श्लोकों के उद्धरण दिये हों।

कविपरमेश्वर का संपूर्ण ग्रन्थ नहीं तो उसका कुछ अंश हमें आज उपलब्ध हुआ है। मेरी तीव्र इच्छा है कि कुछ दिन में जटिल के वरांग चरित के समान कविपरमेश्वर का पुराण भी मिल जावेगा[८]।

---

७ श्लोक सदोष मालूम होता है।

८ यह निबंध नागपूर के प्राच्य विद्या सम्मेलन के वास्ते लिखा गया था।

विश्व इतिहास और भूगोल के लिये जैन साहित्य की महत्ता।

(२)

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.]

(क्रमागत)

गताङ्क में हम जैन पुराणों के आधार से विश्व इतिहास की रूपरेखा का दिग्दर्शन करा चुके हैं। प्रस्तुत लेख में हम पाठकों के समक्ष जैनसाहित्य के ऐतिहासिक ग्रन्थों से वे अंश उपस्थित कर रहे हैं जिनसे प्राङ् ऐतिहासिक एवं प्राचीन ऐतिहासिक कालों के राजवंशों की वास्तविक स्थिति का पता चलेगा। पाठक समझेंगे कि जिन महापुरुषों को बन्दर और राक्षस बना दिया गया है वे वास्तव में मनुष्य थे और प्रायः जैनधर्म के भक्त थे।

मूल राजवंश

गत लेखांश मे पाठक जान चुके हैं कि भोगभूमि के अन्त में यहां मनु—कुलकर और सम्राट् ऋषभदेव हुए थे, जिन्होंने लोक में व्यवहार मर्यादा और सभ्य जीवन की शिक्षा लोगों को दी थी। उसी समय मानव समाज कुलों और वर्णों में राष्ट्र हित की सामूहिक भावना से विभक्त कर दिया गया था। उसी समय क्षत्रिय वर्ण के मुख्य कुलके वंश भी नियत हुए थे। 'षट्खंडागम-सूत्र' ग्रन्थ की 'धवला टीका' में बारह प्रकार के पुराण ग्रंथों और बारह जिन (श्रमण) एवं राजवंशों का उल्लेख निम्न प्रकार हुआ है :—

"बारसविहं पुराणं जगदिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं।
तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य ॥७७॥
पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्टि-वंसो दु।
विज्जहराण तदियो चउत्थयो वासुदेवाणं ॥७८॥
चारणवंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्ण-समणाणं।
सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरि वंसो ॥७९॥
णवमो य इक्खयाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धवो।
वाईएकारसमो बारसमो णाहवंसो दु ॥८०॥"

अर्थ—"जिनेन्द्रदेव ने जगत में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। अतः वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण-प्रतिनारायणों का, पाँचवां चारणों का, छटवां प्रज्ञा श्रमणों का वंश है। इसी तरह सातवां कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नववाँ इक्ष्वाकु वंश, दशवाँ काश्यपवंश, ग्यारहवाँ वादियों का वंश और बारहवाँ नाथवंश है।"[1]

इस उल्लेख में बारह पुराणों में वर्णित दो प्रकार के, (१) जिन (२) और राजवंशों का उल्लेख है। जिनवंश से अभिप्राय महान् जैन मुनियों ने जिन वंशों में जन्म लिया हो उनके वर्णन से है। अतः जिनवंश के अन्तर्भेदों में (१) अरिहंत वंश, (२) चारण--श्रमणों का वंश, (३) प्रज्ञाश्रमणों का वंश, और (४) वादियों श्रमणों का वंश आते हैं। अवशेष आठ अन्तर्भेद राजवंशों के समझिये। अर्थात् (१) चक्रवर्तियों का वंश, (२) विद्याधरों का वंश, (३) नारायण-प्रतिनारायणों का वंश, (४) कुरुवंश, (५) हरिवंश, (६) इक्ष्वाकु वंश, (७) काश्यपवंश, (८) नाथवंश प्रमुख राजाओं के वंश थे! 'कसायपाहुड की' 'जयधवला-टीका' के निम्न लिखित वाक्य से भी यही बात ध्वनित होती है :—

"जो पुण पढमाणिओओ सो चउवीसतित्थयर–बारह चक्कवट्टि–णवबल–णवणारायण–णवपडिसत्तूणं पुराणं जिण–विज्जाहर चक्कवट्टि–चारण–रायादीणं वंसे य वण्णेदि।"

अर्थ—"जो प्रथमानुयोग नाम का तीसरा अर्थाधिकार है वह चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायणों के पुराणों का तथा जिनदेव, विद्याधर, चक्रवर्ती, चारण ऋद्धिधारी मुनि, और राजा आदि के वंशों का वर्णन करता है।" (बनारस संस्करण), पृ० १३८)

श्वेताम्बरीय मान्यता भी इस प्रकार की ही रही है, क्योंकि 'स्थानाङ्ग' सूत्र (१४३) में अरहंतवंश, चक्रवर्ति वंश आदि का उल्लेख है।[2] यद्यपि इसी श्वेताम्बरीय सूत्र में सात मूल गोत्रों (१) काश्यप, (२) गौतम, (३) वत्स, (४) कुत्स, (५) कौशिक, (६) मंडप और (७) वासिष्ठ का भी उल्लेख है।[3] इन सातों गोत्रों में प्रत्येक के सात अन्तर्भेदों का भी उल्लेख उसमें है।

---

१. षट्खंडागम: (धवलाटीका) प्रथम पुस्तक (कारंजा १९३९), पृ० ११२।

२. "तंजहा—अरहंत वंसे चक्कवट्टि वंसे दसार वंसे।"—स्था० सूत्र १४३।

३. "सत्तमूलगोत्ता प० तं० कासवा, गोयमा, वत्था, कोत्था, कोसिया, मंडवा, वसिट्ठा" (पृ० ३९०)

जैनपुराणों में इन्हीं वंशों के महापुरुषों और राजवंशों का वर्णन सुरक्षित है। हम यहां संक्षेप में उनका निष्कर्ष जैन पुराण ग्रन्थों की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए उपस्थित करते हैं।

अरिहंत अथवा तीर्थंकर वंश

जैनधर्म्म में चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता प्राचीन काल से है। यह ठीक है कि हिन्दू पौराणिकों, यहूदियों और ईसाइयों ने भी अपने २ अवतारों और पैगम्बरों की संख्या २४ ही मानी है। इनमें से यहूदी और ईसाई मत अर्वाचीन हैं—जैनधर्म के बहुत समय पश्चात् उनका उद्गम हुआ है। उनमें यदि पैगम्बरों की संख्या २४ मानी गई है तो वह जैनधर्म के प्रभाव अनुरूप ही कहा जा सकता है। स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी ने अपनी एक पुस्तक में ईसाई मत के इन चौबीस 'पुरखाओं' (Elders) को तीर्थङ्कर मान्यता के अनुरूप सिद्ध भी किया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जैनियों ने यहूदियों और ईसाइयों की देखा देखी अपने यहाँ भी चौबीस की संख्या लेकर तीर्थङ्कर चौबीस मान लिये। वास्तव में घटना यह हो सकती है कि तीर्थङ्कर चौबीस हुए थे जिनका वर्णन प्राचीनतम साहित्य में है और जिनकी मूर्तियाँ प्राचीन काल से उपलब्ध हैं; जब अलंकृत भाषा में धर्मतत्त्व को यहूदियों और ईसाइयों ने प्रकट किया तब उन्होंने अपनी रहस्यमयी भाषा में इन २४ तीर्थङ्करों का उल्लेख भी कर दिया! हिन्दुओं में चौबीस अवतारों की कल्पना पौराणिक कालकी है, जिसके बहुत पहले ही जैनी चौबीस तीर्थङ्कर हो चुके थे। हिन्दुओं के चौबीस अवतार रहस्यमयी भाषा के अलङ्कार हैं। उनमें सिवाय ऋषभदेव के और किसी भी तीर्थङ्कर का उल्लेख नहीं है। उन्हीं ऋषभदेव को वहां योगमार्ग द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेष्टा बताया है—अन्य किसी अवतार के विषय में यह बात नहीं कही गई है। अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि हिन्दू अवतारों की नकल २४ तीर्थ-ङ्करों की मान्यता है। पुराणों से पहले के वैदिक साहित्य में इन चौबीसों अवतारों का नाम भी नहीं मिलता है।

जैन तीर्थङ्करों में मुख्यतः ऋषभदेव और श्री अरिष्टनेमि का उल्लेख 'ऋग्वेद' (८।८।२४) और 'यजुर्वेद' (२५।१९)में क्रमशः हुआ मिलता है। कतिपय वैदिक विद्वान् उनका भाव जैन तीर्थङ्करों से लेते हैं।[1] वैदिक टीकाकारों ने भी यह लिखा है कि वेदों में प्रयुक्त नामों

---

१ "इस मंत्र (८।२४) में जैनधर्मोपदेशक ऋषभदेव वाचक ऋषभ शब्द को न मानना केवल दुराग्रह ही होगा।.........अरिष्टनेमि का वास्तविक अर्थ हिंसा निवारण करनेवाला नेमि......यह अर्थ भी जैन धर्म के तत्त्वों की पुष्टि करता है।"—स्वामी विरूपाक्ष वाडियर, एम० ए० वेदरत्न, (जैनपथप्रदर्शक वर्ष ३ अंक ३ पृ० १०९-११२)

का इतिहास पुराणों से जान लेना चाहिये।[1] हिन्दू पुराणों में भी यह दोनों नाम मिलते हैं और जैन तीर्थङ्करत्व के द्योतक हैं।[2] ऐसी सूरत में यह शङ्का करना व्यर्थ है कि जैनियों ने अपने धर्म का महत्व दर्शाने के लिये यह नाम वेदों से लिये होंगे। यदि पारसनाथ जी और महावीर जी के अतिरिक्त शेष तीर्थङ्कर काल्पनिक हैं अथवा वे दूसरे मतों से लिये हुये हैं, तो यह कैसे सिद्ध किया जायगा कि प्राचीनतम जैनपुराण निरी कल्पना हैं और फिर कौन सा दूसरा मत है जिसमें यह तीर्थङ्कर महापुरुष मान्य हैं? वैदिक मत में जैन-धर्म सदृश योगाचार कभी नहीं रहा! फिर जैन तीर्थङ्करों का साम्य उनके साधुओं से कैसे बैठे? परमहंस-वृत्ति का उल्लेख शायद वेदों में नहीं है—गौणरूप से उपनिषदों में है जो वेद से बाद की चीज हैं। अतः ऋग्वेद के ऋषभ उस परमहंस वृत्ति के धारक कैसे हो सकते हैं, जिसका विधान उपरान्त उपनिषद् काल में हुआ? उपनिषदों में यह चीज जैनधर्म से ही गई; क्योंकि जैनी इसे प्राचीन काल से मानते आये हैं।[3] वेदों के रचयिता ऋषियों में भी इन तीर्थङ्करों का नाम नहीं है[4]—यदि तीर्थङ्कर वैदिक महापुरुष थे तो वैदिक आगम के रचयिता-रूप में कहीं इनका उल्लेख तो होता? अतएव हिन्दुओं से इन नामों को लेने की बात कोरी बेसिर पैर की है!

कुछ लोग जैन पुराणों में तीर्थङ्करों की आयु-काय का विशद् वर्णन पढ़कर चकित हो जाते हैं और उन्हें कल्पित मान बैठते हैं। किन्तु यहां वह गलती करते हैं। भूगर्भशास्त्र-वेत्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि "पूर्वकाल में प्राणी दीर्घकाय हुआ करते थे। धीरे धीरे उनके शरीर का ह्रास होता गया। यह ह्रासक्रम अब भी प्रचलित है। इस नियम के अनुसार जितना अधिक प्राचीन काल का मनुष्य होगा उसे उतना ही अधिक दीर्घकाय मानना न केवल युक्तिसंगत ही है, बल्कि आवश्यक है।" भूगर्भविद्याविदों को पचास २ साठ २ फुट लम्बे प्राणियों के पाषाणावशेष (Possils) मिले हैं और उतने ही लम्बे अस्थि-पिञ्जर भी! साथ ही प्राणीशास्त्र (Physiology) का यह नियम है कि "जिस जीव का जितना भारी शारीरिक परिमाण होगा उतनी ही दीर्घ उसकी आयु होगी।" सूक्ष्म जीवों की आयु भी अत्यल्प होती है। अतः तीर्थङ्करों की विशाल आयु काय होना ही चाहिये, क्योंकि वह अत्यन्त प्राचीन काल में हुए थे।

यह भी शङ्का की जाती है कि तीर्थङ्कर तो चौबीस हुए परन्तु उनका मत एक "जैन" रहा, यह कैसे हो सकता है? प्रत्येक तीर्थङ्कर ने अलग २ धर्मतीर्थ की स्थापना की, इस लिये उनके मत अलग २ होने चाहिये! जैनमत तो भ० महावीर का चलाया हुआ है।

---

१ असुर इंडिया, भूमिका पृ० ३-४

२ भागवत २।७।१०; मार्कंडेय, ५०।३९-४१; स्कंधपुराण प्रभासखंड, अ० ११

३ दिगम्बरत्व और दिग० मुनि, पृ०, २१-३१।

४ वेदों के रचयिता ऋषि – बा० सूरजभानु।

किन्तु यह शङ्का भी व्यर्थ है, क्योंकि चौबीस तीर्थङ्कर एक साथ नहीं हुए--वे कालान्तर से हुए और प्रत्येक ने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव के अनुरूप धर्म-तत्त्व का वैज्ञानिक रूप में प्रचार किया। प्रत्येक तीर्थङ्कर का धर्मतीर्थ अलग था और संघ व्यवस्था भी अलग थी; परंतु धर्म निरूपण की शैली वही थी और उसका भाव भी एक समान था, इसलिये ही पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों के उपासक इतर काल के तीर्थङ्कर के भक्त हो जाते थे। जैन शास्त्रों में तीर्थङ्करों के शासन भेद का उल्लेख मौजूद है[1]। इसलिये प्रवाह रूप में जैनधर्म प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव से चला कहा जायगा। समयानुसार वह वीतराग, व्रात्य, निर्ग्रन्थ, आर्हत, जैन आदि नामों से प्रसिद्ध रहा है। अतः प्रवाह रूप में जैनधर्म एक मिलता देखकर शेष तीर्थङ्करों के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता! तीर्थङ्करों में ईसा और मुहम्मद जैसा फर्क नहीं माना जा सकता। तीर्थङ्कर सब ही सर्वज्ञ और धर्मविज्ञान के वेत्ता धर्म-प्रवर्तक हैं—उन्होंने अहिंसा संस्कृति का ही उत्कर्ष किया था। उनकी धर्म प्ररूपणा में अन्तर केवल सामयिक परिस्थिति और आवश्यकताओं के कारण हुआ; जो नगण्य था। इसी कारण जैनी सर्वकाल में चौबीसों तीर्थङ्करों के उपासक रहे हैं।

वैदिक साहित्य में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव और बावीसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि का ही उल्लेख विशेष रूप में मिलता है। शेष तीर्थङ्करों में शायद एकाध का उल्लेख उनमें और हो। ऋषभदेव की गिनती तो अवतारों में की गई है और वह इसी लिये कि उन्होंने मोक्षमार्ग एवं अक्षर विद्या आदि का आविष्कार किया था। बावीसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि नारायण कृष्ण के चचेरे भाई थे। उस समय, द्यूत, सुरा और मांस का बहुत प्रचार था—कामिनी वासना की वस्तु बनी हुई थी। भ० अरिष्टनेमि ने स्वयं आदर्श बन कर उदाहरण उपस्थित किया था। हिंसा और वासना का अन्त करने के लिये उन्होंने आमूलचूल क्रान्ति उपस्थित की थी। इसी कारण 'यजुर्वेद' में और 'ऋग्वेद' में उनका स्मरण किया गया है। "ऋग्वेद" (प्रथमाष्टक अ० ६ व १६) में लिखा है :—

"स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥"

इस श्लोक में सब ही व्यक्तिवाचक नाम आये हैं; अतः अरिष्टनेमि का कुछ और अर्थ लगाना युक्तिसंगत नहीं। इसी लिये स्वामी विरूपाक्ष वाडियर वेदरत्न ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है :—

"वृद्धश्रवा (अनंत स्तुतियों के लिये उपयुक्त) जो इन्द्रदेव है, वह हमारा (स्वस्ति) कल्याण करे। विश्ववेदाः (सर्व पदार्थों का ज्ञाता) और पूषा (पोषक परमात्मा) हमारा कल्याण करे। अरिष्टनेमि (संसार सागर को पार कर जाने में समर्थ) ऐसा जो अरिष्टनेमि

१ मूलाचार ५३३ और उत्तराध्ययनसूत्र (श्वे०) में केशी गौतम संवाद देखो।

तीर्थंकर है वह हमारा कल्याण करे, बृहस्पति (समस्त दिव्य पुरुषों का पालक) परमात्मा हमारा कल्याण करे।" स्वामी वाडियर ने आगे लिखा है कि "अरिष्टनेमि का वास्तविक अर्थ हिंसा निवारण करने वाला नेमि अर्थात् आयुध-- फलतः जैन संन्यासी हिंसा निवारण के लिये बगल में जो आयुध (पिच्छिका) रखते है उसका वाचक है। जिस तीर्थङ्कर के समय से उस आयुध को रखने की प्रथा चली है; उसी का नाम अरिष्टनेमि हुआ है। तथा उसी अरिष्टनेमि के वर्णनात्मक--अर्थात् प्राणी संरक्षण करने के लिये अस्त्र धारण करने का उपदेश देनेवाला साक्षात् ईश्वर रूपी तीर्थङ्कर हमारी रक्षा करे! इस प्रकार उपरोक्त वेदमंत्र में स्तुति की गई है। यह मंत्र यजुर्वेद में जहां कहा गया है, वहां उव्वटाचार्य्य ने अरिष्टनेमि का अर्थ 'अनुपहिंसितासुः' (जिसके कारण प्राणियों की हिंसा नहीं होती) अर्थात् अहिंसा का उपदेशक किया है।'[1] अतः यह स्पष्ट है कि अहिंसा का विशेष उपदेश देने के कारण भ० अरिष्टनेमि की मान्यता वेदों में हुई है। 'यजुर्वेद' में जिस अहिंसा आयुध का उल्लेख है, वह पिच्छि के साथ में यदि प्रत्यंचा रहित धनुष हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि व्रात्यों के ऐसा धनुष रखने का उल्लेख है और व्रात्य प्रायः जैनी ही माने गये हैं।'[2]

इन चौबीसों ही तीर्थङ्करों की मूर्तियां भी प्राचीन काल से मिलती हैं। मोहनजोदड़ो की प्राचीन मुद्राओं में कायोत्सर्ग मुद्रा की प्राचीन मूर्तियां जिनपर बैल का चिन्ह भी है, भ० ऋषभदेव की अनुमान की गई है।[3] स्व० प्रो० प्राणनाथ ने एक मुद्रापर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा था।[4] जैन तंत्रवाद के अनुरूप बहुत-से बीजाक्षर भी उनमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त मथुरा का देवनिर्मित बोद्धस्तूप, जिस पर पांच तीर्थङ्करों की मूर्तियां हैं, भ० पार्श्वनाथ के समय से पहले बना माना जाता है।[5] भ० पार्श्वनाथ के समय की गुफायें और तीर्थङ्कर मूर्तियां तेरपुर धाराशिव में बताई जाती हैं।[6] पटना स्टेशन से मौर्य-कालीन तीर्थङ्कर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं[7]। कलिङ्ग की उदयगिरि खंडगिरि में भी प्राचीन

---

१ जैन पथप्रदर्शक, वर्ष ३ अङ्क ३ पृ० १०७-१०८।

२ "भगवान् पार्श्वनाथ" की प्रस्तावना देखो।

३ The Standing deity figured on seals three to five with a bull in the fore ground may be the proto-type of Rishabha

—Pros. R. P. Chanda, Modern Review, (August, 19 2)

४ "......inscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherment Jineshwara or Jinesh."

—Prof. Pran Nath, Indian Hist: Qrly : ;
Vol. VIII Supplement.

५ जैनस्तूप एंड अदर ऐंटीक्टीज आव मथुरा, पृ० २४-२५।

६ करकंडुचरित् (Karanja Series) की भूमिका देखो।

७ जैन ऐंटीक्वेरी भा० ५ पृ० ६१।

तीर्थङ्कर मूर्तियां हैं।[1] मथुरा, ढंक, अहिच्छत्र आदि से भी प्राचीन जिन मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं[2]। इस तरह दो हजार से पांच-छः हजार वर्षों पहले तक का मानव समाज जब ऋषभादि तीर्थङ्करों को मानता था, तब आज यह कैसे माना जाय कि वे काल्पनिक हैं? यदि वे नहीं हुये थे तो उस समय के मनुष्य उनके अस्तित्व को मान्य नहीं कर सकते थे और तब वे उनकी मूर्तियां भी नहीं बनाते! किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है—उनके उल्लेख भी साहित्य में हैं और मूर्तियां भी हैं।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि जो लोग चौबीस तीर्थङ्करों के अस्तित्व में शंका करते हैं उनकी यह शंका निराधार है। जैन साहित्य तो उनके एवं अन्य वंशों के इतिहास को बताने वाला प्रथमानुयोग शास्त्र ही निर्धारित करता है। यों तो तीर्थंकरों का कोई एक वंश नहीं था—वे अनेकानेक राजवंशों में जन्मे थे। उन सबका वर्णन प्रथमानुयोग में है, यह बात बताने के लिये तीर्थङ्कर वंश की अलग गणना की गई है।

चक्रवर्त्ती और नारायण-प्रतिनारायणों के वंश

तीर्थङ्कर-वंश की तरह ही पुराणों के चक्रवर्ती और नारायणादि शलाका पुरुषों का वर्णन करने के लिये उनका अलग-वंश रूप में निर्देश किया गया है; वैसे यह महापुरुष भिन्न-भिन्न क्षत्रियवंशों में जन्मे थे। जैनधर्म में माने गये त्रेसठ शलाका (महा) पुरुषों में चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र सम्मिलित हैं। बारह चक्रवर्त्तियों का उल्लेख 'तिलोयपण्णत्ती' में निम्न प्रकार है :—

'भरहो सगरो मघओ सणक्कुमारो य संति कुंथु अरा।
कमसो सुभउम-पउमा-हरि-जयसेणाय बम्हदत्तो य ॥१२८१॥

एदे बारस चक्की पच्चक्ख परोक्ख वंदणासत्ता।
णिब्भरभत्तिसमग्गा सव्वाणं तित्थकत्ताणं ॥१२८२॥'

अर्थ—"भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त, ये क्रमसे बारह चक्रवर्ती सब तीर्थङ्करों की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष वंदना में आसक्त और अत्यन्त गाढ़ भक्ति से परिपूर्ण रहे हैं।" हाँ, अपने अन्तिम जीवन में कोई २ धर्मविमुख भी हो गये थे।

इन चक्रवर्त्तियों ने छहों खंड पृथ्वी की दिग्विजय की थी—उनकी विशेष विभूति थी और उनके द्वारा सारे लोक में अहिंसा संस्कृति का प्रसार किया गया था। जैनेतर साहित्य में इन चक्रवर्त्तियों का क्या कैसा वर्णन मिलता है? यह अन्वेषण की चीज है। उनकी

१-२ कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम वॉल्यूम, पृ० २३३-२३४।

दिग्विजय की भौगोलिक स्थिति का भी अध्ययन करना आवश्यक है। तभी हम उनको विश्व इतिहास में यथार्थ पद पर बैठा सकेंगे। भरत महाराज का वर्णन हिन्दू पुराणों में मिलता है। इसी तरह अन्य चक्रवर्तियों का भी विवरण हमें उनमें ढूंढना चाहिये। बौद्ध ग्रन्थ भी हमारे इस अध्ययन में सहायक होंगे। उनमें ब्रह्मदत्तादि चक्रवर्ति राजाओं का हाल मिलता है।

त्रिपृष्ट, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुण्डरीक, पुरुषदत्त, नारायण और कृष्ण, ये नौ नारायण हुए। अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ, बलि, प्रहण, रावण और जरासिन्धु, ये नौ प्रति नारायण हुए। विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म, ये नौ बलदेव हुये! इन सब के चरित्रों का अध्ययन करके उनका महत्व प्रकट करना आवश्यक है। तीर्थङ्करों के चरित्रों पर भी इसका प्रकाश पड़ेगा।

—शेषमग्रे,

पटना म्यूजियम की जैन मूर्त्तियाँ

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा ने भारतवर्ष के समस्त म्यूजियमों की जैन प्रतिमाओं के विवरण तैयार करने की एक स्कीम बनाई है। इस स्कीम के अनुसार सर्व प्रथम नवम्बर १९४५ में पटना म्यूजियम के निरीक्षण के लिये पं० नेमिचन्द्र शास्त्री को भेजा गया था; वहाँ की जैन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में निम्न विवरण प्राप्त हुए हैं—

इस म्यूजियम में कुल ३० जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ, २ यक्ष-यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ, १ चरणपादुका, १ कल्पवृक्ष और १ धर्मचक्र, की प्रतिकृति हैं।

तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों का विवरण—

१ इस मूर्त्ति का A. N. १०४५३, यह पार्श्वनाथ भगवान् की धातु की मूर्त्ति है। यह पद्मासन, श्यामवर्ण और ८॥ इंच ऊँची है; देखने में मनोज्ञ है, अंग सभी ठीक हैं, लेकिन पृथ्वी के भीतर अधिक समय तक पड़ी रहने के कारण जीर्ण-सी प्रतीत होती है। मिट्टी ने धातु को चूस लिया है, जिससे जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे छिद्र निकल आये हैं। म्यूजियम के अधिकारियों ने इसे सन १९४० में अन्यत्र से खरीदा है। धातु एवं बनावट आदि से इसका समय विशेषज्ञों ने इस्वी सन् की ११ वीं शताब्दी निर्धारित किया है।

२ यह मूर्त्ति भगवान् नेमिनाथ की है, इसका A. N. ३ है। यह मानभूमि जिले के अन्तर्गत पलामू नामक स्थान से खुदाई करने पर भूगर्भ से प्राप्त हुई है। यह पाषाण की है, रंग श्याम और ऊँचाई ७॥ इंच के लगभग है। इसके भी सभी अंग ठीक हैं, लेकिन पहली मूर्त्ति से भी यह अधिक जीर्ण है। इस मूर्त्ति के नीचे कुछ लेख है, पर वह काल के प्रभाव से इतना धुन्धला हो गया है कि उसे पढ़ना कठिन ही नहीं असंभव है। विशेषज्ञों ने इसका काल १० वीं शताब्दी बताया है।

३ यह मूर्त्ति अभिनन्दननाथ भगवान् की है; इस पर चिन्ह कुछ नहीं है, लेकिन म्यूजियम के अधिकारियों ने इसे अभिनन्दननाथ भगवान् की बताया है। इसका A. N. ७२८ है। इस मूर्त्ति का रंग बादामी, ऊँचाई ५-६ इंच के लगभग, कान की लोरी का हिस्सा खण्डित और देखने में यह मनोज्ञ है। यह मूर्त्ति भी पलामू की खुदाई से प्राप्त हुई है। इसका समय विशेषज्ञों ने ९ वीं शताब्दी बताया है।

४ यह चन्द्रप्रभु भगवान् की पद्मासन मूर्त्ति है। इसमें चन्द्रमा का चिन्ह सिंहासन के सामने पृथक् बनाया गया है। इसका रंग श्याम और ऊँचाई ६ इंच के लगभग है।

यह मूर्त्ति म्यूजियम के अधिकारियों को शाहाबाद जिले के अन्तर्गत चौसा नामक स्थान से प्राप्त हुई है। इसका समय १० वीं शताब्दी बताया गया है।

५ यह आदिनाथ भगवान् की खण्डित मूर्त्ति है। इस मूर्त्ति के केशविन्यास आदि को देखने से गान्धार कला की स्पष्ट छाप कही जा सकती है। इस मूर्त्ति पर वृषभ का चिन्ह नहीं है, किन्तु केशविन्यास आदि कितनी ही बातों से आदिनाथ भगवान् की सिद्ध की गई है। चौसा की खुदाई में यह भी प्राप्त हुई है, इसका समय आठवीं शताब्दी बताया गया है।

६ यह खड्गासन खंडित जैन मूर्त्ति है। इसका समय ६ वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। पलामू की खुदाई से इसकी प्राप्ति हुई है।

७ ३ मूर्त्तियाँ पार्श्वनाथ भगवान् की चौसा की खुदाई से प्राप्त हुई हैं। इनमें दो मूर्त्तियाँ लगभग ४ इंच ऊँची और एक ७-८ इंच ऊँची पद्मासन की हैं। इनका समय ८ वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। ये दोनों ही मूर्त्तियाँ खण्डित-सी हैं।

८ ४ मूर्त्तियां नेमिनाथ, और आदिनाथ भगवान् की हैं, ये भी चौसा की खुदाई से प्राप्त हुई हैं। इनका समय १० वीं शताब्दी निश्चित किया गया है।

९ एक खण्डित मूर्त्ति है, जिसके हाथ और सिर खण्डित हैं। यह मूर्त्ति पटना जंक्शन के निकट लोहानीपुर नामक स्थान से उपलब्ध हुई है। इस खड्गासन पाषाणमयी मूर्त्ति पर सुन्दर पालिस की गई है। यह पालिश आज भी संगमरमर की तरह चमकती है। विद्वानों का कहना है कि मूर्त्तियों पर पालिश करने की प्रथा अशोक के समय में वर्तमान थी। इसीलिये इस मूर्त्ति का समय मौर्यकाल ई० ३२० निश्चित किया गया है।

१० उपर्युक्त मूर्त्ति के निकट में एक छोटी खण्डित खड्गासन पाषाण की मूर्त्ति भी है। यह भी लोहानीपुर से प्राप्त हुई है, इसका समय ई० सन् ३०० बताया गया है।

११ अन्य १५-१६ मूर्त्तियाँ चौसा से प्राप्त हुई हैं। इनका समय १०-११ वीं शताब्दी माना गया है। इन मूर्त्तियों के बारे में यह निश्चित करना [illegible] है कि ये किन किन तीर्थङ्करों की हैं। प्रायः सभी मूर्त्तियाँ पद्मासन खण्डित [illegible] का आर्किलोजिकल नं० ६५१६ से ६५३२ तक है।

अन्य मूर्त्तियाँ

१२ चरणपादुका—यह डेढ़ फुट ऊँचे कृष्णवर्ण के पत्थर पर अंकित है। चरणों के नीचे लेख है, जिसके अधिकांश अक्षर घिस गये हैं। प्रयत्न करने संवत् ११८३ पढ़ा गया है। सैकड़े वाला एक का अंक घिस कर पाँच का सा भी प्रतीत होता है।

म्यूजियम के संचालकों ने इसका समय ११ वीं शताब्दी निश्चित किया है। लेख काफी बड़ा है, कभी अवसर मिलने पर भास्कर में प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जायगा।

१३ यक्षिणी-मूर्त्ति—यह पद्मावती की मूर्त्ति प्रतीत होती है। देखने में सुन्दर पाषाण की मूर्त्ति है। इसका आर्जिलोजिकल नं० १३५१ है। इसका समय ११ वीं शताब्दी निश्चित किया गया है।

१४ यक्षमूर्त्ति—दो यक्ष मूर्त्तियाँ हैं एक खण्डित और दूसरी अखण्डित। इन दोनों का समय १० वीं शताब्दी बताया गया है।

१५ कल्पवृक्ष—यह धातु का बना कल्पवृक्ष है। इसका आकार वृक्ष जैसा है। कुछ शाखाएँ टूटी हुई हैं, देखने में बहुत सुन्दर है, कला की दृष्टि से अनुपम चीज है। यह भी चौसा की खुदाई से उपलब्ध हुआ है।

१६ धर्मचक्र—यह दर्शनीय चक्र के आकार का है। बनावट और धातु की परीक्षा से ८ वीं शताब्दी का यह निश्चित किया गया है।

इस प्रकार पटना म्यूजियम में जैन पुरातत्त्व की सामग्री स्थित है।

जैन-सिद्धान्त-भवन,
आरा।
१०—१—४७

भारतीय ज्योतिष की प्राक् ग्रीस कालीन 'लग्न' प्रणाली

[ले०—म० र० कुलकर्णी, बी० ए०, संशोधक राजवाडे संशोधन मंडल,
धुलिया, खानदेश]

—:०:—

यह स्पष्ट है कि भारतीय ज्योतिष में मेषादि बारह राशियाँ पीछे से शामिल की गई हैं। वेद, ब्राह्मण, वेदांग सूर्यप्रज्ञप्ति तथा ज्योतिषकरंडक इन ग्रंथों में वे नहीं मिलतीं। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि भारत-ग्रीक संघर्ष के बाद राशियां हिन्दुस्थान में आईं।

विद्यमान ज्योतिष में पूर्व क्षितिज के ऊपर उदित राशि, लग्न कहाती है। किन्तु यह लग्न संज्ञा प्राक्-ग्रीस काल में भी भारत में मौजूद थी, इसका प्रमाण एक ही जगह पर, किन्तु बहुत स्पष्टता से मिलता है।

ज्योतिषकरंडक का पद्य २८८ (दूसरा) स्पष्टता से इसको प्रमाणित करता है—

लग्गं च दक्खिणायविसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे।
लग्गं साई विसुवेसु पञ्चमु वि दक्खिणे अयणे॥

इस पद्य में 'अस्स' यानी अश्विनी और "साई" याने स्वाति ये विषुव के लग्न बताये गये हैं।

विशिष्ट अवस्था की राशि को लग्न कहते हैं (पूर्व क्षितिज पर उदित राशि), वैसे ही विशिष्ट अवस्था के नक्षत्रों को भी लग्न कहते होंगे।

वेदांग ज्योतिष के ऋक्पाठ में :—

'श्रविष्ठाभ्यां गुणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्॥'

यह १७ वें पद्य का पूर्वार्ध इस दृष्टि से परीक्षणीय है। म० म० सुधाकर द्विवेदी, बृहस्पति, ज्यो० शंकर बालकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक और म० म० डॉ० आर० शामशास्त्री आदि विद्वानों का यह मन्तव्य है कि ऊपर के श्लोकार्ध में जो "प्राग्विलग्न' शब्द है वह वर्तमान् लग्न का ही द्योतक है। भेद इतना है कि वह लग्न नक्षत्रों पर अधिष्ठित था, न कि राशियों पर।

प्रस्तुत लेखक ने इसी विषय को विस्तार से अपने Lagna System of the Vedang Jyotisha इस छोटे से प्रबंध में हल करने की चेष्टा की है। यह ग्रंथ राजवाड़े संशोधक मंडल धूलिया, से प्रकाशित हो चुका है। किन्तु यह छोटी सी टिप्पणी लिखने का उद्देश्य

यह है कि जैन साहित्य के यदि अन्य ग्रंथों में इस विषय पर अधिक प्रकाश प्रदान करने वाले प्रमाण किसी को मिल चुके हों या आगे मिल जायं तो उन्हें इस संबंध में प्रकट करने से बहुत उपकार होगा।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास लिखने का अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किया है। किन्तु जैनसाहित्य की सहायता इस विषय में जो कुछ ली गई है, वह नहीं के बराबर है। और जब तक जैन-साहित्य-सागर की इस दृष्टि से उपेक्षा रहेगी तब तक भारतीय ज्योतिष ही क्या सभी ज्ञानशाखाओं का इतिहास पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

नोट—भारत-ग्रीस सम्पर्क से पहले भी मेष, वृष, आदि १२ राशियों का प्रचार भारतीय ज्योतिष में था। वेदों के अनन्तर वेदाङ्ग काल में ऋक् यजु, अथर्व नाम से ज्योतिष के ग्रंथ संग्रहीत किये गये हैं उनमें स्पष्ट रूप से नक्षत्र लग्न का जिक्र है। ऋग्वेद के निम्न सूत्र से द्वादश राशियों का विधान सिद्ध होता है—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।
आपुत्रा अग्ने मिथुना सो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥

इस सूत्र में जो चक्र शब्द आया है, उसका अर्थ भाष्यकारों ने द्वादश राशि रूप चक्र लिया है।

समवायाङ्ग में नक्षत्र और ग्रहों की जो सूक्ष्म चर्चा है उसे पढ़कर यह कोई नहीं कह सकता कि उस काल के लोगों को राशि ज्ञान नहीं था। सूयगडाङ्ग में ''चंदचरियं, सूरचरियं, सुक्कचरियं बहस्सइचरियं, उक्कापायं, दिसदाह मियचक्कं वायसपरिमंडलं ...'' अर्थात् चन्द्रचार, सूर्यचार, शुक्रचार, बृहस्पति-चार, उल्कापात, दिग्दाह इत्यादि का सुन्दर और स्पष्ट वर्णन है। क्या राशि ज्ञान के अभाव में संहिता विषय का प्रतिपादन संभव था? कदापि नहीं। ठाणाङ्ग में "पंच संवच्छरा प० तं० णक्खत्तसंवत्सरे जुगसंवच्छरे पमाणसंवच्छरे लक्खणसंवच्छरे सणिचरसंवच्छरे।" अर्थात् नक्षत्रसंवत्सर, युगसंवत्सर, प्रमाण संवत्सर, लक्षण संवत्सर और शनिश्चर संवत्सर इन पाँच प्रकार के सम्वत्सरों का भेद-प्रभेद सहित वर्णन किया गया है। जब तक द्वादश राशि की कल्पना मस्तिष्क में नहीं होगी तब तक प्रमाण, युग, लक्षण और शनि संवत्सर का ज्ञान कदापि संभव नहीं।

जैन एवं अजैन ज्योतिष के प्राचीन अनेक ग्रन्थों के आधार पर से यह स्पष्ट सिद्ध किया जा सकता है कि ग्रीक सम्बन्ध के पहले भी भारत में द्वादश राशि का प्रचार था। किसी स्वतन्त्र लेख में उक्त विषय को स्पष्ट किया जायगा।

—नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य

दिल्ली और दिल्ली की राजावलि के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य।

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

जैनधर्म बहुत प्राचीन काल से भारत में है। वह यहीं जन्मा एवं फला फूला, अतः भारतीय इतिहास के निर्माण में जब तक जैन ग्रन्थों का भली भांति उपयोग नहीं किया जायगा, वह पूर्ण हो ही नहीं सकता। पर जैनेतर विद्वानों का ध्यान अभी जैन ऐतिहासिक साधनों पर कम ही गया है, फलतः बहुत-सी बातें अज्ञात एवं संदिग्ध अवस्था में पड़ी हैं। जैन समाज का भी कर्त्तव्य है कि अपने सरस्वती मंदिरों—ज्ञानभंडारों में जो कुछ सामग्री भरी पड़ी है उसे शीघ्रातिशीघ्र खोज कर प्रकाश में लावे जिससे जैन विद्वानों की अनमोल सेवा एवं जैन रचना का वास्तविक महत्व विश्व में प्रकाशित हो।

जैन विद्वानों ने कोई भी विषय अछूता नहीं छोड़ा। सभी विषयों के प्रचुर परिमाण में जैनग्रन्थ पाये जाते हैं, विशेषतः ऐतिहासिक साधनों की तो बहुत ही मूल्यवान सामग्री जैन-ग्रन्थों एवं फुटकर पत्रों में सुरक्षित है। भारतीय ग्राम नगरों के इतिहास के सम्बन्ध में तो जैनग्रन्थ जितनी सहायता कर सकते हैं, दूसरे नहीं। कारण जैन मुनि पैदल विहारी होते हैं ग्राम-ग्राम में घूमते रहे हैं, अतः उनकी जीवनी में (ऐतिहासिक काव्य, चरित ग्रन्थ, पट्टावलियें आदि, तीर्थ यात्री संघ के वर्णन में बने हुए ग्रन्थों के मार्ग में आते हुए छोटे २ ग्रामों का उल्लेख रहता है। प्रस्तुत लेख में भारत की प्राचीन एवं वर्तमान राजधानी दिल्ली के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा रहा है। प्रसंगवश वहाँ के तोमर शासकों की वंशावलि पर भी कुछ चर्चा कर दी गई है। अनेकान्त वर्ष ८ अंक ७ में पं० परमानन्द जी शास्त्री का "दिल्ली और दिल्ली का राजावलि" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। भारतीय इतिहास में इसके द्वारा एक नई समस्या उपस्थित होती है। साधारणतया सभी इतिहासकार तोमर अनंगपाल को इस वंश का अन्तिम दिल्लीपति मानते हैं। अनेकान्त में प्रकाशित वंशावलि में उसके पश्चात् पाँच नाम और पाये गये हैं।

"१६ रावल तेजपाल, १७ रावलु मदनपाल, १८ रावलु कृतपालु, १९ रावल लखणपालु और २० रावल पृथ्वीपालु" (सं० १५ दि० वंशावलि)

अनंगपाल के पश्चात् भी दिल्ली के कई शासक तोमरवंश के हुए हैं इसकी पुष्टि हमारे संग्रह की एक अन्य, तंवर वंशावलि, से भी होती है। उसमें अनंगपाल के पश्चात् तेजपाल, माहणपाल (माहणपाल जो मदनपाल का अपभ्रंश पाठ है)। लकखपाल (ऊपर निर्दिष्ट

कुलपाल या लखणपाल होना संभव[1] है) पृथ्वीराज (पृथ्वीपाल ही संभव है) के नाम पाये जाते हैं। इनमें मदनपाल की अवस्थिति तो प्राचीन खरतरगच्छ गुर्वावली से भी हो जाती है। जिसके प्रथम अंश की रचना जिनपाल उपाध्याय ने सं० १३०५ में आषाढ़ सुदी १० को दिल्ली के सेठ साहुली के पुत्र हेमचन्द्र की अभ्यर्थना से की थी। इस अद्वितीय ऐतिहासिक ग्रन्थ[2] के अनुसार मदनपाल का समय संवत् १२२३ तक तो निश्चित होता है। इस संवत में यु० श्रीजिनदत्तसूरि के शिष्य श्री जिनचन्द्रसूरि दिल्ली के निकटवर्ती ग्राम में पधारे थे। उन्हें वन्दना करने को श्रावक समुदाय को जाते देख —महाराजा मदनपाल के ये कहाँ जाते हैं? पूछने पर मन्त्रियों से यु० प्र० श्रीजिनचन्द्रसूरि का आगमन ज्ञात हुआ। तब राजा मदनपाल भी समस्त राज्याधिकारियों के साथ सैनिक समारोह सहित सूरि जी के पास गया। उनके धर्मोपदेश को श्रवण कर महाराजा अत्यन्त प्रमुदित हुआ और उनको अपने नगर दिल्ली में पधारने की आग्रह पूर्वक विनती की। उनका प्रवेशोत्सव बड़े समारोह से हुआ। महाराज मदनपाल स्वयं सूरि जी से हाथ मिलाये हुए पेशवाई में चल रहा था। नृपति के अनुरोध से सूरिजी ने चातुर्मास वहीं किया। पर दुर्भाग्यवश भाद्रवाकृष्ण १४ को वहीं उनका स्वर्गवास हो गया। आप का स्तूप आजमी कुतब के पास विद्यमान है। जिनकी सैकड़ों वर्षों से अनेक भक्त उपासना करते आ रहे हैं।[3]

अभी हमें भारतीय मुद्राशास्त्र सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण जैनग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार मदनपाल का सिक्का भी प्रचलित हुआ था। अतः मदनपाल की अवस्थिति पूर्णरूप से निश्चित होती है। पिछली पट्टावलियों के अनुसार सूरि जी के वियोग के अनुताप से महाराज मदनपाल का स्वर्गवास भी सं० १२२३ में हो गया प्रतीत होता है। ऐतिहासिक विद्वानों का कर्तव्य है कि वे वंशावलियों के पांच नामों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से अन्वेषण कर के भारतीय इतिहास की इस समस्या को सुलझाने का पूर्ण प्रयत्न करें।[4]

---

१ संभव है इन दोनों में से एक ने थोड़े ही समय राज्य किया हो इस कारण उनका नाम इसमें नहीं दिया हो।

२ देखें मेरा लेख "खरतरगच्छ गुर्वावली का ऐतिहासिक महत्व" भा० भारतीय विद्या व० १ अ० ७

३ विशेष जानने के लिये लेखक की "मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि" पुस्तक देखना चाहिये।

४ "अनंगपाल से विग्रहराज ने दिल्ली ले ली" इस समस्या पर विचार करने पर मुझे तो इसका उचित समाधान यही प्रतीत होता है कि अनंगपाल से दिल्ली से इसका कोई प्रमाण मेरे अवलोकन में नहीं आया और ओझाजी ने विग्रहराज ने सं० १२०७ में तोमरों से दिल्ली ली, लिखा है। यहाँ अनंगपाल का नाम नहीं है एवं संवत भी अनुमानिक है। मेरे अवलोकन में बिजोला के सं० १२२६ के लेख में विग्रहराज के दिल्ली राज्य का उल्लेख आया है अतः सं० १२२६ से पूर्व उसने दिल्ली ली यह तो निश्चित है। वंशावलि में सं १२१६ से चौहान राज्य का उल्लेख है संभव है वह बहुत कुछ ठीक हो। पर मेरे नम्र मतानुसार दिल्ली पर चौहानों का अधिकार

अब मैं पं० परमानंद जी के लेखगत अन्य बातों पर नवीन ज्ञातव्य उपस्थित करता हूँ। आशा है, इससे कुछ नई जानकारी प्रकाश में आयगी।

१ दिल्ली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुझे प्राप्त हिन्दी भाषा की पद्यबद्ध दिल्ली राजावलि (कवि किसनदास एवं कल्हरा रचित) में इस प्रकार का उल्लेख पाया जाता है—

"नृप अनंगपाल बतीसवौं, बतीस लक्षण तास।
संवत् जहाँ नौसइ निड्नोतर, (९०९) वर्ष मित सुप्रकास ।।४१।।
गुरुवार दशमी दिवस उत्तम तह असाढ़े मास।
दिल्ली नगर करि अगड़ (पाठा० गढो), कीली, कहै कवि किसनदास।
सो गढ़ के जब किल्ली छ(३)खेड़ी, उतपति गढ तहवेर।
सात (पा० सोव) हुइ किल्ली वहां गाडी, भई ढिल्लीफेर ।।४२।।

२ जैन साहित्य में दिल्ली के कतिपय उल्लेख इस प्रकार हैं :—

१ ढिल्ली वादली में बर्द्धमानसूरि जी (१०४० के लगभग) ने आकर उद्योतनसूरि जी से दीक्षित हुए। (दे० गणधर सार्द्ध शतक वृत्ति)

२ सं० १०८८ में विमलवसही के निर्माता विमलशाह को दिल्लीपति ने छत्र भेजा। यहाँ दिल्लीपति का नाम नहीं है। (दे० जै० सा० सं० इति पृ० २१०)

३ सं० १३२० के लगभग मांडवगढ़ के महामना पेथड़कुमार के पुत्र झांझण को दिल्ली के श्रेष्ठी भीम ने अपनी पुत्री परणाई। (वहीं पृ० ४०४)

४ पेथड़ शाह जब गिरनार की यात्रा को पधारे तब वहां दिल्ली निवासी अगरवाल पूर्ण नामक दि० श्रावक संघसह आया हुआ था।

५ श्री जिनप्रभसूरि जी ने दिल्ली सम्राट् कुतुबुद्दीन महम्मद को प्रतिबोध दिया था। जिसका विशेष वर्णन हमारे "ऐ० जै० काव्य संग्रह" और "शासन प्रभावक श्री जिनप्रभसूरि" निबन्ध में देखना चाहिये।[1]

६ सं० १३७१ के लगभग संघपति समराशाह दिल्ली के बादशाह कुतुबुद्दीन से सम्मानित हुआ था। उसके पुत्र सुलतान गयासुद्दीन से पांडुदेश के राजा वीरवल्ल को समरा ने छुड़ाया व शाही फरमान प्राप्त कर मथुरा एवं हस्तिनापुर की यात्रा संघ सहित जिनप्रभसूरि के साथ की। (देखें नाभिनन्दनोद्धार प्रबन्ध)

खरतरगच्छ गुर्व्वावली में दिल्ली सम्बन्धी और भी अनेक उल्लेख हैं। पर वह अभी पास न होने से श्रीजिनकुशलसूरि ग्रन्थ से ही थोड़े से उल्लेख नीचे दिये जाते हैं :—

होने पर भी उनकी आज्ञाधिकारी शासक तोमर ही रहे थे। अतः अनंगपाल के बाद के ५ राजा जिनका नाम वंशावलि में पाया जाता है अवश्य ही दिल्ली के शासक रहे हैं।

१ विधिप्रपा में प्रकाशित।

७ सं० १३७५ माघ सुदी १२ को फलौधी के विराट महोत्सव के प्रसंग पर दिल्ली के मन्त्रिदलीय ठक्कुर विजयसिंह ठ० सेढ़ू शाह रूदा आदि सम्मिलित हुए थे।

८ श्री जिनप्रभसूरि ने दिल्ली के संघपति देवराज देल्हिग की तीर्थ-संघ यात्रा का निम्नोक्त वर्णन किया है :—

"महिमंडलि हुय संघवइघणा दिवराय सरिस नहु जत्तजणा।
जिणि ढिल्लिय नगरिहि मज्झि सयं देवालउ कड्ढिउजत्तकयं ॥३॥
फालिहमणि ससिहर कर विमलं, जसकलसु चडावियउ जेणकुलं।
मग्गण जण तोसिय घणवरिसे, अवयरिउकंन्नु दिवराय मिसे ॥४॥

दिवराज ने संघसह शत्रुंजय की यात्रा सं० १३७६ जेठ सुदी ८ को की थी जिसका निर्देश सूरि जी के अन्य स्तोत्र में पाया जाता है।

९ सं० १३७६ में उपर्युक्त विजयसिंह ने सम्राट् कुतुबुद्दीन से तीर्थयात्रा का फरमान प्राप्त कर हस्तिनागपुर एवं मथुरा की यात्रा की एवं श्री जिनचन्द्रसूरिजी के साथ संघ दिल्ली में लौटा। सूरिजी ने सम्राट् कुतुबुद्दीन को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत कर खंडासराय में चौमासा किया।

१० सं० १३७७ में जिनकुशलसूरिजी के पदोत्सव के समय उपर्युक्त ठ० विजयसिंह श्रीजिनचन्द्रसूरि के प्रदत्त शिक्षा पत्रादि को लेकर पाटण पधारे।

११ सं० १३८० में दिल्ली के श्रीमाल ज्ञातीय सेठ रूदा के पुत्र सुश्रावक रयपति ने अपने पुत्र धर्मसिंह द्वारा (जिसे सम्राट् गयासुद्दीन से प्रतिष्ठा प्राप्त था) मन्त्री नेब साहब की सहायता से निर्बाध तीर्थयात्रा के लिये शाही फरमान प्राप्त किया। और अपने पुत्र महणसिंह, धर्मसिंह, शिवराज, अभयचन्द्र, व पौत्र, सीहा, भ्रातृ, जवणपाल आदि के साथ एवं स्थानीय मन्त्रिदलीय साह जवणपाल, श्रीमाल गोला, सा० छीतम, फेरू आदि के साथ संघ सह वैसाख वदी ७ को प्रस्थान कर शत्रुंजय एवं गिरनार की यात्रा करते हुए का० ब० ४ को दिल्ली पहुँचे। सेठजी के पुत्र धर्मसिंह ने शाही फरमान प्राप्त कर प्रवेशोत्सव किया।

१२ सं० १३८१ में भीमपल्ली से शत्रुंजयादि का यात्री-संघ निकला। उसमें भी दिल्ली के मन्त्रीदलीय ठ० जवनपाल सा० लखमण एवं श्रीमाल रुद्रपाल सा० नीमदेव सम्मिलित हुए थे।

१३ सं० १३८१ में पाटण के विराट प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर योगिनीपुर के श्रीमाल रुद्रपाल व निम्बा पधारे थे।

१४ सं० १४१५ में जिनोदयसूरि जी का महोत्सव दिल्ली के श्रीमाल सा० रतना

पुना आदि ने किया था।

१५ सं० १६७५ के लगभग कविवर बनारसीदास जी भी यहाँ पधारे थे।

१६ सं० १८८०।९० के लगभग शिव (जिन) चन्द्रसुरिजी ने यहीं चौमासा किया था। (दे० ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह)

३—दिल्ली के जैन मन्दिर :—

पं० परमानन्दजी ने आधुनिक दि० जैन मन्दिरों का उल्लेख किया है और भाई पन्नालालजी जैन ने अनेकान्त के इसी वर्ष के ६-७ वें अङ्क में दिल्ली के सभी वर्तमान मन्दिरों व संस्थाओं की सूची दी है। जिनमें सब से पुराना उर्दू मंदिर है, पर उससे प्राचीन मंदिर भी थे। अतः दिल्ली निवासी सज्जनों को वहां के श्वेताम्बर दिगम्बर सभी मन्दिरों की मूर्त्तियों के लेख प्रकाश में लाने चाहिये व यथा ज्ञात जानकारी करनी चाहिये। मैं तो यहां पर प्राचीन श्वेताम्बर मन्दिरों का परिचय ही देता हूं। जिनका उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है

१ सं० १२२१ में मणिधारी जिनचन्द्रसूरिजी यहाँ पधारे तब यहाँ पार्श्वनाथ विधि चैत्य था। उसके दक्षिण स्तम्भ में अतिबल अधिष्ठायक की स्थापना सूरि जी ने की थी।

२ विधितीर्थकल्प से स्पष्ट है कि जिनप्रभसूरिजी ने नीय महावीर प्रतिमा को शाही खजाने से सम्राट् मुहम्मद शाह से प्राप्त कर उसकी स्थापना मलिक ताजदीन सराय के जिनमन्दिर में की थी। उनके शिष्य जिनदेवसूरिजी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा से चमत्कृत कर एक मोहल्ला जैनों के लिये प्राप्त किया उसका नाम "सुलतान सराय" रखा गया। जिसमें जैन-मन्दिर औषधशाला भी बनायी गई थी। उपयुक्त महावीर बिम्ब इस मन्दिर में विराजमान किया गया। यह प्रतिमा बड़ी चमत्कारी थी। श्वेताम्बर दिगम्बर एवं अन्य धर्मावलम्बी भी इसकी पूजा व भक्ति किया करते थे।

उपर्युक्त सराय राजसभा से दूर थी। अतः सूरिजी के आने जाने के कष्ट का अनुभव कर सम्राट के महल के निकट सुन्दर भवनों वाली एक नवीन सराय समर्पित की। श्रावक-संघ को वहाँ रहने की आज्ञा दे, बादशाह ने उसका नाम "भट्टारक सराय" प्रसिद्ध किया। यहाँ वीरप्रभु का मन्दिर व औषधशाला भी बनवाई। सं० १३८९ के मिती आषाढ़ कृष्ण सप्तमी को उत्सव पूर्वक सूरिजी ने औषधशाला में प्रवेश किया।

हस्तिनापुर की यात्रा का वैशाख सुदी १० के दिन श्रीकन्यानयन के महावीर बिम्ब को सम्राट के बनवाये हुए जैन-मन्दिर में महोत्सव पूर्वक स्थापित किया।

३ पन्द्रहवीं शताब्दी की खरतरगच्छीय तीर्थमाला में दिल्ली के ४ मन्दिरों का उल्लेख इस प्रकार है :—

"आसियनयर निवासिप्पपास पणमऊ परमेसर । कन्नाणयसिरिवीरनाहभव तिमिर दिणेसर ।
सन्तीवीरसिरिपास नेमि ढीलीजिनचन्दो । हथिणाउरसिरि संति कुंथुअरमल्लि जिणिन्दो ।"
अर्थात् दिल्ली में उस समय शांति, वीर, पार्श्व एवं नेमिनाथ के मन्दिर थे ।

४ सं० १४१० के लगभग विनयप्रभमहोपाध्याय रचित तीर्थयात्रा स्तवन में भी महावीर प्रभु के मन्दिरों के स्मरण में योगिनीपुर में वीर भगवान का स्मरण-उल्लेख किया है ।

स० १७४६ में शीलविजय रचित तीर्थमाला में यहाँ के महावीर मन्दिर का उल्लेख है । "दिल्ली मंडण वीर जिणंद"

४ दिल्ली में रचित साहित्य :—

दिगम्बर विद्वानों ने तो यहाँ बहुत से ग्रन्थ बनाये होंगे । यहाँ केवल श्वेताम्बर रचनाओं का ही निर्देश करता हूँ ।

१ सं १३५२ में जिनप्रभसूरि जी ने कायस्थ खेतल की अभ्यर्थना से कातंत्र विभ्रम टीका बनाई ।

२ सं० १३७२ में अलाउद्दीन के राज्य में श्रीमाल धांधिया ठ० फेरू ने रत्नपरीक्षा ग्रन्थ बनाया । ठ० फेरू संभवतः उक्त सम्राट के कोषाध्यक्ष थे ।

३ स० १३८९ में भाद्रशुक्लादशमी को जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थकल्प यहीं पूर्ण किया ।

४ सं० १६२४ के विजयदशमी को साधुकीर्त्ति जी ने आषाढ़भूति प्रबन्ध बनाया । इसकी रचना वहीं के पापड़गोत्रीय श्रीमाल शाह तेजपाल के लिये हुई थी ।

५ सं० १६९९ माघ सुदी १० को दयासागर ने चित्रलेखा चौपई की रचना की ।

५ दिल्ली में लिखित प्रतियाँ :—

१ जैन पुस्तक 'प्रशस्ति-संग्रह' के पृ० १४१ में दिल्ली के धनाढ्य एवं राजमान्य ठ०, दूदा कुरा पद्मसिंह ने अपने पिता राजदे के कल्याण के लिये सं० १४५२ में ३ ताड़पत्र पर १ कागज पर पुस्तकें लिखवाने का उल्लेख है ।

२ हमारे संग्रह में एक महत्त्वपूर्ण संग्रह प्रति है जो सं० १४९३ में योगिनीपुर में लिखी गई है । उसकी पुष्पिका इस प्रकार है ।

'सं० १४९३ वर्षे वैशाखमासे प्रथमपक्षे ८ दिने सोमे श्री बृहद्खरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरिगुरौ विजयमाने श्रीकीर्तिरत्नसूरिणां शिष्येण शिवकुंजर मुनिना निजपुण्यार्थं स्वाध्याय पुस्तिका लिखिता । चिरं नंदतात् । श्रीयोगिनीपुरे । श्री ।

दिल्ली में लिखित और भी अनेक प्रतियाँ प्राप्त हैं लेख विस्तारभय से यहाँ उनकी चर्चा नहीं की गई ।

रिष्ट समुच्चय

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न आरा]

'रिष्ट समुच्चय' निमित्तशास्त्र का एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें मृत्यु के पूर्व में प्रकट होनेवाले लक्षणों द्वारा मरणकाल का निश्चय किया गया है। इस क्षीणकाय ग्रन्थ में २६१ गाथाएँ हैं, इसकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। इस ग्रंथ की रचना दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य दुर्गदेव ने कुम्भी नगर के शान्तिनाथ चैत्यालय में की है, इसके रचनाकाल और स्थान के सम्बन्ध में स्वयं ग्रंथकर्त्ता ने लिखा है—

संवच्छरइगसहसे वोलीणे णवयसीइ संजुत्ते ।
सावणसुक्केयारसि दिअहम्मि [य] मूलरिक्खंमि ॥२६०॥
सिरिकुंभनयरए [य] ए सिरिलच्छिनिवासनिवइरज्जंमि ।
सिरिसंतिनाहभवणे मुणि-भविअ-सम्मउभे (ले) रम्मे ॥२६१॥

अर्थात् वि० सं० १०८९ श्रावण शुक्ला एकादशी को मूल नक्षत्र में श्री लक्ष्मीनिवास राजा के राज्य में कुम्भीनगर नग के श्रीशान्तिनाथ जिनालय में प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।

ग्रन्थकर्त्ता ने रिष्टों के विशाल विषय को बड़ी खूबी के साथ इस छोटे-से ग्रन्थ में रक्खा है। अपने समय के उपलब्ध सभी ग्रंथों से रिष्ट-सम्बन्धी विषय को लेकर उसे इतने सजीव और स्वच्छ रूप में उपस्थित किया है कि पाठक अपनी रुचि और धैर्य का त्याग किये बिना जो चाहता है, पा लेता है। अनेकों स्थानों पर पुरातन विचारों के विरुद्ध अपने स्वतन्त्र विचार और परिणाम इतने आत्मविश्वास के साथ रखे हैं कि हठात् यह मानना पड़ता है कि रचयिता ने केवल अनुकरण ही नहीं किया, किन्तु अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा मौलिकता का परिचय दिया है। इसी कारण उन्हें संग्रहकर्त्ता न मानकर एक मौलिक ग्रन्थकर्त्ता मानने को बाध्य होना पड़ेगा। जब कभी कोई लेखक परम्परागत नियमों तथा रीतियों का बिना किसी कारण के उल्लङ्घन करता है, तो वह सच्चे संग्रहकर्त्ता के पद से च्युत हो जाता है। लेकिन जब वही अपनी प्रतिभा के बल से उस विषय को नवीन ढंग से सजा कर रख देता है तो वह मौलिक लेखक की कोटि में आ जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम यही पाते हैं कि आचार्य ने पुरातन विषयों को नवीन ढाँचे में ढाल कर अपने ढंग से उनका सन्निवेश किया है।

प्रारम्भ में जिनेन्द्र भगवान् को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने के अनन्तर मनुष्य जीवन और जिनधर्म की उत्तमता का निरूपण कर विषय का कथन किया गया है। प्राक्कथन के रूप में अनेक रोगों और उनके भेदों का वर्णन है, यह १६ गाथाओं तक गया है। विषय में प्रवेश करने के पश्चात् लेखक ने रिष्टों के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ये तीन भेद बतलाये हैं। प्रथम श्रेणी में शारीरिक रिष्टों का वर्णन करते हुए कहा है कि जिसकी आँखें स्थिर हो जायं—पुतलियाँ इधर-उधर न चलें, शरीर कान्तिहीन काष्ठवत् हो जाय और ललाट में पसीना आवे वह केवल सात दिन जीवित रहता है। यदि बन्द मुख एकाएक खुल जाय, आँखों की पलकें न गिरें—इकटक दृष्टि हो जाय तथा नख, दाँत सड़ जायं या गिर जायँ तो वह व्यक्ति सात दिन जीवित रहता है। भोजन के समय जिस व्यक्ति को कड़वे, तीखे, कषायले, खट्टे, मीठे और खारे रसों का स्वाद न आवे उसकी आयु एक मास की होती है। बिना किसी कारण के जिसके नख, ओठ काले पड़ जायें, गर्दन झुक जाय, तथा जिसे उष्ण वस्तु शीत और शीत वस्तु उष्ण प्रतीत हो, सुगन्धित वस्तु दुर्गन्धित और दुर्गन्धित वस्तु सुगन्धित मालूम हो उस व्यक्ति का शीघ्र मरण होता है।

जिसका स्नान करने के अनन्तर वक्षःस्थल पहले सूखता है और समस्त शरीर गीला रहता है वह व्यक्ति सिर्फ पन्द्रह दिन जीवित रहता है। इसी प्रकार पिण्डस्थ रिष्ट में एक वर्ष के भीतर में प्रकट होने वाले मृत्युसूचक विभिन्न शारीरिक लक्षणों का वर्णन किया है।

द्वितीय श्रेणी में पदस्थ रिष्टों द्वारा मरण सूचक चिन्हों का वर्णन करते हुए लिखा है कि स्नान कर श्वेत वस्त्र धारण कर सुगन्धित द्रव्य तथा आभूषणों से अपने को सजाकर जिनेन्द्र भगवान की पूजा करनी चाहिये। पश्चात् "ओं ह्रीं नमो अरहताणं कमले-कमले विमले-विमले उदर देवि इटिमिटि पुलिंदिनी स्वाहा" इस मंत्र का इक्कीस बार जाप कर बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध से प्रकट होने वाले मृत्युसूचक लक्षणों का दर्शन करना चाहिये।

उपर्युक्त विधि के अनुसार जो व्यक्ति संसार में एक चन्द्रमा को नाना रूपों में तथा छिद्रों से परिपूर्ण देखता है उसका मरण एक वर्ष के भीतर होता है। यदि हाथ की हथेली को मोड़ने पर इस प्रकार न सट सके जिससे चुल्लू बन जाय और एक बार ऐसा करने पर अलग करने में देर लगे तो सात दिन की आयु समझनी चाहिये। जो व्यक्ति सूर्य, चन्द्र एवं तारागों को कान्ति स्वरूप परिवर्तन करते हुए एवं नाना प्रकार से छिद्र पूर्ण देखता है उसका मरण छः मास के भीतर होता है। यदि सात दिनों तक सूर्य, चन्द्र एवं ताराओं के बिम्बों को नाचता हुआ देखे तो निस्संदेह उसका जीवन तीन मास का समझना चाहिये। इस तरह दीपक, चन्द्रबिम्ब, सूर्यबिम्ब, तारिका, संध्याकालीन रक्तवर्ण धूम धूसित दिशाएँ, मेघाच्छन्न आकाश एवं उल्काएँ आदि के दर्शन द्वारा आयु का निश्चय किया है।

तृतीय श्रेणी में निजच्छाया, परच्छाया और छायापुरुष द्वारा मृत्युसूचक लक्षणों का बड़े सुन्दर ढंग से निरूपण किया है। प्रारम्भ में छाया दर्शन की विधि बतलाते हुए लिखा

है कि स्नान आदि से पवित्र होकर 'ॐ ह्रीं रक्ते रक्ते रक्तप्रिये सिंहमस्तकसमारूढे कूष्मांडी-देवि मम शरीरे अवतर अवतर छायां सत्यां कुरु कुरु ह्रीं स्वाहा' इस मंत्र का जाप कर छाया दर्शन करना चाहिये। यदि कोई रुग्ण व्यक्ति जहाँ खड़ा हो वहाँ अपनी छाया न देख सके या अपनी छाया को दो रूपों में देखे अथवा छाया को बैल, हाथी, कौआ, गधा, भैंसा और घोड़ा आदि नाना रूपों में देखे तो उसे अपना सात दिन के भीतर मरण समझना चाहिये। यदि कोई अपनी छाया को नीली, पीली, काली और लाल देखता है तो वह क्रमशः तीन, चार, पाँच और छः दिन जीवित रहता है। इस प्रकार अपनी छाया के रंग, आकार, लम्बाई, छेदन, भेदन आदि विभिन्न तरीकों से आयु का निश्चय किया गया है।

परच्छाया दर्शन की विधि का निरूपण करते हुए बताया है कि एक अत्यन्त सुन्दर युवक को जो न नाटा हो और न लम्बा हो स्नान कराके सुन्दर वस्त्राभूषणों से युक्त कर 'ओं ह्रीं रक्ते-रक्ते रक्तप्रिये सिंहमस्तकसमारूढे कूष्माण्डिदेवि मम शरीरे अवतर अवतर छायां सत्यां कुरु कुरु स्वाहा' मंत्र का १०८ बार जप करवाना चाहिये। पश्चात् उत्तर दिशा की ओर मुँह करके उस व्यक्ति को बैठा देना चाहिये। फिर रोगी व्यक्ति को उस युवक की छाया का दर्शन कराना चाहिये। यदि रोगी उस व्यक्ति की छाया को टेढ़ी, अधोमुखी, पराङ्मुखी, और नीले वर्ण की देखता है तो वह दो दिन जीवित रहता है। यदि छाया को हँसते, रोते, दौड़ते, बिना कान, बाल, नाक, भुजा, जंघा, कमर, सिर और हाथ-पैर के देखता है तो छः महीने के भीतर मृत्यु होती है। रक्त, चर्बी, तेल, पीव, जल और अग्नि छाया को उगलते हुए देखता है तो एक सप्ताह के भीतर मृत्यु होती है। इस प्रकार विस्तार से परच्छाया के आकार-प्रकार, रूप-रंग, लम्बाई-चौड़ाई आदि विभिन्न तरीकों से रोगी की आयु का विचार किया गया है।

छाया पुरुष का कथन करते हुए बताया है कि—

मय मयण-मायहीणो पुव्वविहाणेण जं णियच्छेइ।
मंती णियवरछायं छायापुरिसो हु सो होइ॥
समभूमियले ठिच्चा समचरणजुओपलंबभुअजुअलो।
वाहारहिए धम्मे विवजिए खुद्दजंतूहिं॥
नासग्गे थणमज्झे गुज्झे चलणंतदेस-गयणयले।
भाले छायापुरिसं भणिअं सिरिजिणवीरदेवेण॥

अर्थात्—मंत्र से मन्त्रित व्यक्ति समतल भूमि पर खड़ा होकर पैरों को समानान्तर कर हाथों को नीचे लटका कर अभिमान, छल-कपट और विषय-वासना से रहित होकर जो

अपनी छाया का दर्शन करता है वह छाया पुरुष कहलाता है। इसका सम्बन्ध नाक के अग्रभाग से, दोनों स्तन के मध्यभाग से, गुप्ताङ्गों से, पैर के कोनों से, ललाट से और आकाश से होता हैं। जो व्यक्ति इस छाया पुरुष को बिना सिर-पैर के देखता है तो जिस रोगी के लिये छाया पुरुष का दर्शन किया जा रहा है वह छः मास जीवित रहता है। यदि छाया पुरुष घुटनों के बिना दिखलाई पड़े तो अट्ठाईस महीने और कमर के बिना दिखलाई पड़े तो पन्द्रह महीने शेष जीवन समझना चाहिये। यदि छाया पुरुष बिना हृदय के दिखलाई पड़े तो आठ महीने, बिना गुप्ताङ्गों के दिखलाई पड़े तो दो दिन और बिना कन्धों के दिखलाई पड़े तो एक दिन जीवन शेष समझना चाहिये। इस प्रकार छायापुरुष के दर्शन द्वारा आयु का निश्चय किया गया है।

इसके पश्चात् स्वप्न दर्शन द्वारा मृत्यु-लक्षणों का कथन किया है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में बताया है कि जिस रात को स्वप्न देखना हो उस दिन उपवास सहित मौनव्रत धारण करे और उस दिन समस्त आरम्भ का त्याग कर विकथा एवं कषायों से रहित होकर 'ओं ह्रीं पण्हसवणे नमीं स्वाहा' इस मंत्र का १०००० बार जाप कर भूमि पर ब्रह्मचर्य पूर्वक शयन करे। स्वप्नों के दो भेद बतलाये हैं – एक देव कथित और दूसरा सहज। मन्त्रजाप पूर्वक किसी देव विशेष की आराधना से जो स्वप्न देखे जाते हैं वे देवकथित और चिन्तारहित, स्वस्थ एवं स्थिर मन से बिना मन्त्रोच्चारण के शरीर में धातुओं के सम होने पर जो स्वप्न देखे जाते हैं वे सहज कहलाते हैं। इस प्रकरण में विस्तार पूर्वक दोनों ही प्रकार के स्वप्नों का फल बताया गया है।

इसके अनन्तर प्रत्यक्षरिष्ट और लिङ्गरिष्टों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति दिशाओं को हरे रंग की देखता है वह एक सप्ताह के भीतर, जो नीले वर्ण की देखता है वह पाँच दिन के भीतर, जो श्वेतवर्ण की वस्तु को पीत और पीतवर्ण की वस्तु को श्वेत देखता है वह तीन दिन जीवित रहता है। जिसकी जीभ से जल न गिरे, जीभ रस का अनुभव न कर सके और जो अपना हाथ गुप्त स्थानों पर रखे वह सात दिन जीवित रहता है। इस प्रकरण में विभिन्न अनुमान और हेतुओं के द्वारा मृत्यु समय का प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न द्वारा रिष्टों के वर्णन के प्रकरण में प्रश्न के आठ भेद बतलाये हैं– अंगुलीप्रश्न, अलक्तप्रश्न, गोरोचन प्रश्न, अक्षर प्रश्न, शब्द प्रश्न, प्रश्नोत्तर प्रश्न, प्रश्नलग्न, और होरा प्रश्न। अङ्गुली प्रश्न का कथन करते हुए बताया है कि श्री महावीर स्वामी की प्रतिमा के सम्मुख उत्तम मालती के पुष्पों से 'ॐ ह्रीं अर्हंणमो अरहन्ताणं। ह्रीं अवतर अवतर स्वाहा' इस मन्त्र का १०८ बार जाप कर मंत्र को सिद्ध करे। फिर दाहिने हाथ की तर्जनी को सौ बार

मंत्र से मन्त्रित कर आँखों के ऊपर रख कर रोगी को भूमि देखने के लिये कहे, यदि वह सूर्य के बिम्ब को भूमि पर देखे तो छः मास जीवित रहता है। इस प्रकार अङ्गुलि प्रश्न द्वारा मृत्यु-समय के ज्ञान करने की विधि के कथन के उपरान्त अलक्त प्रश्न की विधि बतलाई है कि चौरस पृथ्वी को एक वर्ण की गाय के गोबर से लीप कर उस स्थान पर 'ओं ह्रीं अर्हं णमो अरहन्ताणं। ह्रीं अवतर-अवतर स्वाहा' इस मंत्र को १०८ बार जपना चाहिये। फिर काँसे के वर्त्तन में अलक्त को भर कर सौ बार मन्त्र से मन्त्रित कर उक्त पृथ्वी पर उस वर्त्तन को रख देना चाहिये। पश्चात् रोगी के हाथों को दूध से धोकर दोनों हाथों पर मंत्र पढ़ते हुए दिन, मास और वर्ष की कल्पना करनी चाहिये। पुनः सौ बार उक्त मंत्र को पढ़ कर अलक्त से रोगी के हाथों को धोना चाहिये। इस क्रिया के अनन्तर हाथों के सन्धिस्थान में जितने बिन्दु काले रंग के दिखलाई पड़ें उतने ही दिन, मास और वर्ष की आयु समझनी चाहिये। लगभग यही विधि गोरोचन प्रश्न की भी बतलाई है।

प्रश्नाक्षर प्रश्न की विधि का कथन करते हुए लिखा है कि जिसे रोगी के सम्बन्ध में प्रश्न करना हो वह 'ओं ह्रीं वद वद वाग्वादिनी सत्यं ह्रीं स्वाहा' इस मंत्र का जाप कर प्रश्न करे। उत्तर देनेवाला प्रश्न वाक्य के सभी व्यञ्जनों को दूना और मात्राओं को चौगुना कर जोड़ दे। इस योगफल में स्वरों की संख्या से भाग देने पर सम शेष आवे तो रोगी जीवित और विषम शेष आने पर रोगी की मृत्यु समझनी चाहिये। आक्षर प्रश्न के वर्णन में ध्वज, धूम, खर, गज, वृष, सिंह, श्वान और वायस इन आठ आयों के अक्षर क्रमानुसार आयु का निश्चय किया गया है। यह प्रकरण ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। शब्द प्रश्न में शब्दोच्चारण दर्शन आदि के शकुनों द्वारा अरिष्टों का कथन किया गया है। इस प्रकरण में शब्द श्रवण के दो भेद बतलाये हैं देवकथित शब्द और प्राकृतिक शब्द। देवकथित शब्द मन्त्राराधना द्वारा सुने जाते हैं और प्राकृतिक में पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के शब्द श्रवण द्वारा फल का कथन किया गया है। शब्द प्रश्न का वर्णन बहुत विस्तार से किया है।

होरा प्रश्न इस ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण अंश है, इसमें मन्त्राराधना के पश्चात् तीन रेखाएँ खींचने के अनन्तर आठ तिरछी और खड़ी रेखाएँ खींचकर आठ आयों को रखना चाहिये। इन आयों के बेध द्वारा शुभाशुभ फल का सुन्दर निरूपण किया है। शनिचक्र, नरचक्र इत्यादि अनेकों चक्रों द्वारा आयु का निश्चय तथा मरण समय का बोध किया गया है। विभिन्न नक्षत्रों में रोग उत्पन्न होने से कितने दिनों तक बीमारी रहती है और रोगी को कितने दिनों तक कष्ट उठाना पड़ता है, आदि का सुन्दर विवेचन है। इसके पश्चात् प्रश्नलग्न और उनमें रहनेवाले ग्रहों के सम्बन्ध से फलाफलों का अच्छा कथन किया है।

यह ग्रन्थ भारतीय विद्याभवन बम्बई से अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है। इसका हिन्दी अनुवाद विस्तृत विवेचन सहित वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा से जल्द प्रकाशित हो रहा है। परिशिष्टों में ज्योतिष के अन्य उपयोगी विषय भी दिये गये हैं जिनसे साधारण व्यक्ति व्यवहारोपयोगी जन्मपत्र बनाना, देखना, मिलाना, मुहूर्त्त निकालना, आवश्यक प्रश्नों के उत्तर देना आदि बातों को जान सकता है।

एक ऐतिहासिक पत्र

——:०:——

यह पत्र वि० सं० १८०५ में ज्येष्ठ वदी ८ शनिवार को वागीदोरा ग्राम से श्री० पं० जगन्नाथजी ने देवगढ़ नगर के पालवीय, पचोरी, दोसी आदि गोत्र के श्रावकों के पास लिखा था। इसमें वि० सं० १३०० से वि० सं० १८०५ तक वागड़ देश में जितने भट्टारक हुए हैं, उनकी पट्टावली दी गई है। इस देश के श्रावकों में आपस में जब लड़ाई-झगड़ा हुआ उस समय चौहान ठाकुर और स्थानीय राजाओं ने सहायता की, इसका जिक्र भी है। और तभी से यह प्रथा चली है कि जब भट्टारक पद पर आसीन होते हैं तो सर्व प्रथम चौहान ही कलशाभिषेक करते हैं। ऐतिहासिक विद्वानों के काम की चीज होने के कारण इसे प्रकाशित किया जा रहा है। इसका ऊपर का सिरनामा संस्कृत में और अवशेष पत्र देशी भाषा में है। यह पत्र 'भवन' की संचित रद्दी से अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में उपलब्ध हुआ है। इसके अधिकांश अक्षर कीड़ों के पेट में चले गये हैं। जिससे पढ़ने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है।

स्वस्तिश्री देवगड महानगर तत्र सदाचारचतुरान्, देवशास्त्रगुरूभक्तितत्परान्, आहार-भयभेषजशास्त्रदानविनरणैकशीलान्, बुद्ध्याभयकुमारान, दानगुणेननृपतिश्रेयांसतुल्यान्, श्रोत्र-गुणेननृपतिश्रेणिकमहशान्, श्रीजिनपूजाप्रतिष्ठादिशुभपुण्यकार्यसिद्धक्षेत्राद्यनेकोत्तमकार्यकरणे-समर्थान्, श्रीजिनप्रसादजीर्णोद्धरणकरणे तथा नवीननिर्माणकरणे समर्थान्, सूर्यवत् प्रतापवान, चन्द्रवत् शीतलान्, समुद्रवत् गम्भीरान्, निजकुलकमलविकाशनैकबालमार्तण्डा-वतारान्, राजसभाशृंगारहारान् इत्याद्यनेकोपमाविराजमानान् पाडलवीया सुन्दरजी, पाडलवीया श्रीकृष्णजी, पालवीया न्यायमुणजी, पालवीया श्रीकुंवरणजी, पालवीया श्रीरूपजी, पालवीया श्रीमहावजी, पालवीया श्रीजादवजी, पाडलवीया श्रीकोमलजी, बोवड़ा श्रीकरणजी गांधी, श्रीकरणजी साहा, श्रीरतनजी साहा, श्रीगोविन्दजी डोडीया, श्रीगोविन्दजी बेडी, श्री इन्द्रजी कृष्णजी दोसी, श्रीशंकरजी दोसी, श्रीदयालजी साहा, श्रीकेवलजी दोसी, बालजी दोसी, दयालजी सेठजी, श्री जादवजी पचोरी, श्रीवल्लभजी पचोरी, श्रीगांगजी पचोरी श्रीगोकुलजी खापरा, श्रीहरिजी साहा, श्रीधनजी दोसी, श्री शान्तिदासजी भुना, श्रीजसकरण जी दोसी, श्रीकुन्दणजी दोसी, श्री जीवण जी पचोरी, श्रीमानजी गोवाड़ाआ, श्रीमननजी इत्यादि समस्तश्रीसंघ योग्य पत्रं वागीदोरा ग्रामात् जगन्नाथ लिखितं श्रीजिनाय नामः समा-धान वंचनोजी। यदत्र श्रीजिनधर्मप्रताप थी अथवा श्रीसंघना प्रताप थी कृपसुनजरसुकुशल खेमछेजी तथा श्रीसंघना खेमकुशल कागदसदा भला घड़ी २ ना पल २ ना सदा आरोगाना लखें जेम जीवने सुख उपजेगी। अपंच श्रीसंघवाराछो, चतुरछो, विवेकी छो, हितकारीछो

प्रवीणछो, गुणगंभीरछो, सकलवातनाजाणछो, श्रीजिनधर्मनाधोरीछो श्रीजिनधर्मनास्थापकछो तथा श्रीजिनधर्मतो श्रीसंघमुजेछेजी तथा राजतो आज पंचमकाल विषे चतुर्थ ओघना श्रेष्ठी छो जीतेमारे श्रीसंघने जे उपमा लिखी है तिनकरी विराजमानछोजी जैनधर्मनो मार्गतो श्रीसंघनोराख्योरहेछेजी बीजु श्रीसंघतो पूर्वरीत सर्वजाणोछोजी । तीवारे अमेराजने सु लिखिए तो उपरान्त १ पीचान जोजो बीजु वाग्वरदेश तथा गुजरात देशमाहे संवत् १३०० माहे थी माडी ने वर्ष १०० ने आशरे वाग्वर तथा गुजरात माहे श्री जिनधर्मनी विस्मृति हुई त्यार पुठे श्रीपाटणनासाहापदारथजी धनेकरीने पूर्ण होता पणकोई बातमाहे स्त्री तथा भरतार ने बचन·········· ··तीवारे श्रीढुंढाडदेश माहे गामनेणा वेजईने भ० प्रभाचन्द्रजी त्यांहाने पाट भट्टारकजी, श्रीपद्मनन्दी पासेजई ने दीक्षा ली थी। आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २५ छ विसनी संस्थाह तथा तीवारे संयम लेई वर्ष ८ गुरु पासे रहीने व्याकरण २ तथा ४ भणया तथा काव्य ५ तथा न्याय शास्त्र तथा सिद्धान्त शास्त्र गोम्मटसार तथा त्रिलोकसार तथा पुराण सर्व तथा आगम तथा अध्यात्म इत्यादि सर्व शास्त्र पूर्वदेश माहे रहीने वर्ष ८ माहे भणीनि श्रीवाग्वरगुजरात माहे गाम पोडेणेपधारया वर्ष ३४ नी संस्थाथ ईतीवारे संवत् १४७१ ने वर्ष गामपोडेणेपधारया मो ही न उतो केणे आचार्य उलव्यान हैं पीछे साहा श्रीपौचाने गृहे आहार लीधो ते हाथ की वाग्वर देश तथा गुजरातदेशमाहे विहार कीधो। वर्ष २२ पर्यान्त स्वामी नग्नहता जुमले वर्ष ५६ छप्पन पर्यन्त आवर्दा भोगवीने धर्मप्रभावर्वाने संवत् १४९९ गामने साणे गुजरात जई ने श्रीसकलकीर्त्ति आचार्य हुआ ते श्री सागवाडानाहतात श्रीसागवाडजुने देहरे आदिनाथनो प्रसाद करावीने पीछे श्री नोगामे संघे पदस्थापन करीने पीछे सागवाडे जईनेमो तानापुत्रकने प्रतिष्टा करावी पोते सूरमंत्र दीधो ते धर्मकीर्त्तिए वर्ष २४ पाटभोग व्योपछे पगेत्त थ या पुटे पोताने दी करे जुना देहराने सन्मुख नसीयां करावी पाछे धर्मकीर्त्ति नै पाटेनोगामां ने सघे श्रीविमलेन्द्रकीर्त्तिनी स्थापना करीनेण वर्ष १२ पाटभोग व्योप्टलालगणा आचार्यनो पाटचाल्यो पाछे गाम आनरी अेसंगवी सीमजीस समम्त संघमे लीने भ० भवनकीर्त्ति स्थाप्या पाछे तेणाने पाटे ज्ञानभूषण-स्थाप्या । पाछे तेणाने पाटे ज्ञानभूषण ए सर्व विमलेन्द्रकीर्त्तिना शिष्य हता तेणे समये प्रतिष्ठा सागवाडे तथा प्रतिष्ठ १ श्रीनोगामे प्रतिष्ठ २ ग के दीवमे एकी घडी राहती तीवारे भ० विजयकीर्त्ति ज्ञानभूषण ने पाठ बड़े साजन हताने कीर्त्तिना शिष्य रत्नकीर्त्ति हता तेणे संवत् १५३५ वर्षे श्रीनोगामे दीक्षा ली थीरुताने प्रतिष्टाने समेवणहतापणात्यारे रत्नकीर्त्तिये तथा लघुसाजनानेसंघमलीने रत्नकीर्त्तिने भ० पदवी आपवानुस्थापनकरी श्रीनोगामे प्रतिष्ठा रत्नकीर्त्ति कहेकरावी तथा तेणे दीवसे श्रीसागवाडे बड़े साजन भट्टारक विजयकीर्त्ति कन्हे करावी तेणे समे लघुसाजनाने संघ नेम नावासारु भ० विजयकीर्त्ति नोगामे आव्यातेणे समय महाजन भ० रत्नकीर्त्तिपण विजयकीर्त्तिने वांदवाआ व्यात्योर रत्नकीर्त्तिये भ० विजयकीर्त्तिने गुरुभक्ति देवानो प्रारम्भ करयो त्यारे भ० वाहा साहीने रत्नकीर्त्ति सेंहासन माही बैठ्या

तेणे समे भ० नोसरल भाव दीठो त्यारे सकल महाजन माहोमहिमेलकरयो। पण महाजने एहुक हयुजे कोई पूजा प्रतिष्ठा होय तथा कोई मोटो कार्य होय तो तींहा भ० तथा आ० रत्नकीर्त्ति आगे वेहुज गामेला थईने अर्धो अर्धो कार्य करे भ० तीलक करे तो अन्नत आचार्यजी चोडे संगर्वा ने मस्तके एसी वरवेण करीने मेलावको धोजी त्यारबुठेणेकता अेक वर्ष हेतप्रीते रहयाजी, पीछे केटलाककाल जाता आ० रत्नकीर्त्ति परोक्षथया तारपुठे तेणानेकपाटे आ० यसकीर्त्ति नोगामे थाप्या तारपुठे केटलाक मोस दीवसे अनंतकीर्त्ति आदिलेईनेजण ६३ तामध्ये महाव्रती १३ ब्रह्मचारी ३२ बाईजी १५ पंडित ३ जुमलेजण ६३ दक्षिणदेशे गुरुपासे आज्ञा लेई विहार करयो ते आज दीवससुही दक्षिण देशमाही रत्नकीर्त्तिना पाटघर कहांवेहे तेणानापाट सुदीनग्नचाल्याआवेछे वनमाहेपण रहेछे। हवे ईहां आ० यसकीर्त्तिने ऑत्रगलनुं दुःखहंतुं तेणेकरीने वीहारतो का हाथ यो नहें के जती बुनी विहारकरता जिनधर्ममार्गचल्यो जातोजो। पीछे संवत् १६१२ वर्षे जसकीर्त्तिये वागड माहे गाम भीलोडे कालकरयो तेणानेपाटे गाम सावले पछोरी खाता पछोरी छा छादी समस्त संघ मीली आचार्य गुणचन्द्र स्थापना करवाने। अवसती गाम सावलाना चहुवाण भोगवत हाथी ओत सावलदासजी तथा दुरंगजीए प्रथम कलशाभिषेक चहुवाणे करयो, पाछे संघे करयोजी, पाछेतीहाथका गुणचन्द्रजी गुजरात मेरा आनेदेश में पदारथा हता तीवारे बड़े साजना भ० सुमतिकीर्त्ति तथा जती अडाथा रह्यानारेगुजरातना श्रावकने घणुहीत करूजे। आचार्यजी ने पोळा वादो रागद्वेषम करेपण जती अेमान्युं नहीं ते दीवसनो माहोमहि आंटो पडयो। पाछे संवत १६४२ आ० गुणचन्द्रजी व ताथका-नोगामे समस्त संघ मलीने लघुसाजना आ० जीनचन्द्रजी थारयारे पुठे सं० १६५३ वर्षे आ० गुणचन्द्रजी श्री सागवाडे काल करयो, त्यारे सं० १६५४ वर्षे आ० जीनचन्द्रजी नोगामे काल धाम हुवा, त्यार पुठे गामनोगामे लघु साजनामो संघमलीने आ० सकलचन्द्र पाट स्थाप्या सं० १६७० वर्षे आसोज सुदी ८ दिवसे आ० सकलचन्द्र सागवाडे समाधा-मरण करयोजी, त्यार पुठे सं० १६७० वैशाख सुदी ५ दिवसे श्रीसागवाडे समस्त संघमलीने पाट आचार्यनुं आपनाहतादेहराजु नामध्येतेणे समे बड़े साजने जती तथा श्रावके राजवट करी जे हवे आ० नो पाट आपवादेशुं नहीं अेहवों कहीने दरबार नाह वल्या नेडाल्या तथा जती सर्वे तथा श्रावक सर्वे मरणी कथईने सर्वे आयुधनो मेलकरीने जगडो माड्यो ते बात चहुवाण कृष्णदासजी अेसा भली त्यारे मनमोह वीचारयुं जे आपणी स्थापनानुपवरे। तु तथी राहवुं कहीने पोताना पुत्र २ रहासींघजी तथा अमरोजी रा वेहुनेकह्युजेतमे आपणे साथ सामान असवार ३०१ महाजनलेई जावो। अभा रूपण गरडा पणुं छेते माटे अभारानो आपणाना गुरु ने भट्टारक पदवी आपी आवो वारवार जगडो शोक करातेह बुंक हीने मोकल्या ते भाई २ सगवाडे आव्याने सा चेले तलाव जई ने सं० १६७४ रावलजी पुजाराजजी ते वारेरावलजी अेस्वरकरी आपी श्रीवासवाले रावलजी श्री

उग्रसींघ जी पासे पणसई करी श्री चहुवाण कल्याणजी प श्री रावलजी सु ं अरजी मालुम करी तथा सही करावीने श्रीवांसवांस बालानी धरती माहें तथा डुंगरकरनी धरती माहें भ० रत्नचन्द्रजीने साथई फणामहोत्सव सु बीहार कर्यो। त्यार पुठे सं० १६९९ वर्षे जेठ सुदी ५ सोमवार भ० रत्नचन्द्रजीवर्ता भ० हर्षचन्द्र थाप्या गाम परना पोरे त्यारपुठे सं० १७०७ भ० रत्नचन्द्रजी वैशाख वदी ४ ते नोगामे परोक्त थया त्यार पुठे शुभचन्द्र थाप्या, त्यार पुठे सं० १७२४ वर्षे असोज सुदी ३ मंगलवारे भ० शुभचन्द्रजी सागवाडे काल प्राप्त हुवाजी। सं० १७२३ वैशाख वदी ५ श्रीघांटोल भ० शुभचन्द्र थाप्या, त्यार पुठे सं० १७४९ वर्षे अश्विज वदी १३ गाम मे लुडे भ० शुभचन्द्र परोक्त थयातार पुठे सं० १७४८ वर्षे माहाशुदी १० सोमवारे गाम मैलुडे भ० अमरचन्द्रजी गाम घाखोल थाप्या, त्यार पुठे सं० १७८६ वर्षे माघ वदी ६ गाँम कोटे देश हाडोती माहे भ० रत्नचन्द्रजी काल प्राप्त हुवाजी। त्यारपुठे सं १७८७ वैशाख शुदी १३ भ० देवचन्द्रजी गाम भाणपुर थाप्या त्यारपुठे सं० १८०५ वर्षे गाम जाँबूचरे भ० देवचन्द्रजी माघवदी ७ दीने काल प्राप्त थयाजी। वीजुराज नो कागद १ ठाकुर हरिसाथे आव्योते वाच्यो समाचार सर्वे जाणयाजी राजे तेडवा वास्ते श्रीसंघेन ख्युतेपण जाठयुंजी पण फागुन वदी ७ माहीने अमारे शरीर असाताईजीतेणे करीने तथा वृद्धा अवस्था छे, रीतुपण ग्रीष्मछे तेणेकरीने श्रीसंघनु वचन राख्युने ढीलथई तेमाफ कीजोजी ने मारे दीपमालका पुठे श्रीसंघने मीलवामारुनी मन जोग करीने अमे आवयुंजी बीज धर्मन्टो मार्गनो श्री संघ थकी गेबीज चोर्मा महेश्वरनो पाट वर्ष ६५ तथा ७० थया जती वृती चेष्टवीना पाट ख्यालीछे पण श्रावक धर्मनी थापना दृढ़ राखी रहा छे ते माटे पंच महाजन बात वीचारो ते घोग होने वीच रजोगी। जेवीरीते पंचानी शोभ रहीने जती वृती संतोष व्रते रहतेगी रीते शोभा छे तथा एक हक हकीग गण सी छे सो हवे पंच महाजन मनमें जाणो छो जीततां थानी परंपरा लप्या यानु सुकाम हतोजी पण अमेतो पंच महाजन ने मालुम कर्युमाटेलख्युं छेजी तथा जती व्रती नोवाव हारपंच महाजन ने पूर्वे एणीरीते चलाव्यो याने हवडा लोभसंज्ञाए करीने लाको कमाहे वंदवो द्रहुई छे परी-ग्रह भागी लीदो माठेजी ते ते माटे भ० रत्न० तथा भ० हर्षचन्द्र० तथा भ० शुभ चं० तथा भ० अमरचन्द्र० मुद्धीनो संतोष व्रते मार्ग चाल्यो तेणे करी लोकीक माहे पण जसकीरती रुडी हतीने वीद्यानुबल रुडुं हतुंजो हवे तो जती व्रती पण तीस थई छे ने वीद्यानुबल पण हीन थयुं छेजी ते माटे हवडा एणा समाचार सुं कोई जती पंडीत हो अ तेने पंच महाजन कोई ब्राह्मणने कहीने भणवानुं वीचार कर जो वीद्या भणोगा तो वीद्या अ करीने सोभा छे नहेतरतो कागदमध्ये अनेक अधिक लखाए उहुण कागदेहो अ जी श्रीसंघना शरीरना घणाघणा जल कर जो जीवल तो कागद लखावजोजी संवत् १८०५ वर्ष जेठ वदी ८ शनौ शोभादीने।

प्राचीन आज्ञा पत्र (परवाने)

'भवन' की पुरानी रद्दी में तीन आज्ञा पत्र प्राप्त हुए हैं; जो सागवाडा के जैनियों को वहां के राजाओं ने प्रदान किये हैं। प्राचीन समय में राजालोग जैनधर्म की उन्नति के लिये जैनों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करते थे। इन तीनों परवानों—आज्ञापत्रों में जैनों के विशेष पर्वों के समय हिंसा करने का निषेध किया गया है। तथा राजाओं ने आदेश दिया है कि जो कोई उनकी आज्ञा का निषेध करेगा, वह दण्ड का भागी होगा।

नीचे आज्ञा-पत्रों का संक्षिप्त सारांश और नकल दी जा रही है। इतिहास के प्रेमी विद्वानों को तो लाभ होगा ही, साथ ही वर्तमान में अपने हकों की रक्षा के लिये भी इनका उपयोग किया जा सकेगा।

परवाना नं० १

इस आज्ञा पत्र में राजा जसवन्त सिंह ने सागवाड़ा के जैनों को यह शर्त मंजूर की है कि घांची लोग जो तिल व सरसों से तेल निकालते हैं, प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, द्वितीया पंचमी और एकादशी को घाणी न चलावें, क्योंकि इसमें हिंसा होती है। परवाने की नकल नीचे दी जाती है--

श्रीनाथजी

श्री महामाई प्रसादा·
नृरायारायमहावन्त
श्रीजसवंतसिंघजी
वीजय मावत मुद्रीका

श्री राज आदेशात् लखावीतं ग्राम सागवाडा ग्रामे समस्त महाजन तथा नोगामी आटेकचंद सुखचंद जोग्य अप्रंच तमे गामी आटामेदासपडवे परावीने श्रीदरबारथीमे आकरी नेहस्वर स परवाजा सुहोकम हजुरनो प्रवानगी सुरंकी सरदार मेघजीनी संवत् १८९३ माग वदी ७ पास पडवे खुंट फेरवी नहीं।

वीजय
सावत
मुद्रीका

परवाना नं० २

इस परवाने में जैनधर्म की रक्षा के लिये महाराज जसवन्त सिंह ने यह आज्ञा प्रदान की है कि सागवाड़ा में कलाल—आबकारी का काम करने वाले लोग प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन शराब की भट्टी नहीं जलावें, क्योंकि इसमें हिंसा होती है। यदि कोई कलाल इस आज्ञा का उलङ्घन करेगा तो उसे २५०) रुपये जुर्माना में देने होंगे। परवाने की नकल निम्न प्रकार है—

श्रीनाथजी

श्रीमहामाई प्रसादा- नृपयाराय महारावल श्रीजसवंतसिंघजी वीजय सावतमुद्रीका

श्रीराजा आदेशात् तखावीतं गामसागवाडा श्रीमान् नोगामी अटेकचंद सुखचंद जोग्य अपंच तमे कलारापामेरे आठेम चउदेशुदनी तथा वदनी भाटी गारवी नहीं ते हग वरम पारवी तेना रु० २५०) आँके रूपीआ अडीशे श्री दरबारे लीदाने युगा होकम हजुरनो प्रवानगी सुरंको सरदार सींघ जैनी संवत १८९३ मगशरवदी ७ घांमी आंसुदीली। दानेपारवुं ते नुखरु करी आप्युं छे।

वीजय सावत मुद्रीका

परवाना नं० ३

इस परवाने में महाराज उदयसिंह ने सागवाड़ा के जैनियों को यह सुविधा प्रदान की है कि भाद्रपदमास में पर्यूषण के दिनों में १८ दिन पर्यन्त अर्थात् भादो वदी १२ से भादो सुदी १४ तक शहर में कोई हिंसा का कार्य नहीं करे। बैल पर बोझ लादना, बैल को समय पर दाना-पानी न देना आदि भी हिंसा में सम्मिलित किये गये हैं। परवाने की नकल निम्न प्रकार है—

श्रीनाथजी

श्रीमहामाई प्रसादा- तूरायागय महारावल जी श्री उदेसींघजी वीजय सावत मुद्रीका

श्री रायारायें महाराजाधिराज महारावलजी श्री उदेसींघजी लीग्वावीनां मोजे सागवाडा मध्ये साहा माणकदासजी नोगामी आदलीचंदजी वगेगह समस्त महाजनान जोग्य अप्रंच सागवाडा में पजोसरणा के दीनो में पोठी माहाजन लोग नही लादे दीवगेगह आगाह आगेकानाक्याहे ओर ईन अरसा मेनीमा माहाजनां ने पोठी लादने सरु कीआ जिसपर तुमने हमारी हजुरमे अरज कीआ ईस वास्ते बमुजब दरखास्त तुमारेके नीमा माहाजनान कुलादने पोटी मे मने की आगाह ओरई अे परवाना दीआ जाता हे सो आयेन्दे माफके आगाह के करीना तुमारा पजोसणां का बाहाल हे। अगर ईसमे कोई महाजन दस्तुर तोडेगा तो माफके अगाह के श्री सरकार से मने कीआ जावेगा खुसी और खातर जमा रखो होकम श्री हजुरनो ता० ३१ माह अगष्ठ सन १८५४ ई० श्रावण वदी ३० संवत् १९२१ प्रवानगी साहा नीहालचंदजी की।

वीजय सावत मुद्रीका

[सं०—नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य]

रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्राचीनता पर अभिनव प्रकाश

[लेखक—श्रीयुत न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया]

उपलब्ध श्रावकाचारों में 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' सब से प्राचीन और महत्त्व का मौलिक श्रावकाचार-ग्रन्थ है। इसके कर्त्ता सुप्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र स्वामी हैं, जिन्होंने आप्तमीमांसा (देवागम), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और जिनशतक ये चार महत्वपूर्ण ग्रंथ और बनाये हैं। जैनसाहित्याकाश में इनकी सभी कृतियाँ तेजस्वी नक्षत्र मानी जाती हैं और इसलिये उनका समग्र जैनवाङ्मय में बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है तथा उन्हें बड़े आदर और चाव से पढ़ा जाता है। इसका कारण यह है कि ये सब ही मौलिक, सूत्रात्मक और अद्वितीय कृतियाँ हैं। यही वजह है कि वे उत्तरवर्ती जैन ग्रंथकारों के लिये आधार हुई हैं और पथप्रदर्शक बनी हैं।

वर्तमान में कुछ विद्वान् 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के प्राचीनत्व में शक करते हैं। अतः आज हम प्रस्तुत लेख में उसकी प्राचीनता पर प्रमाण-पूर्वक नया प्रकाश डालते हैं। इन प्रमाणों में दो प्रमाण—पहला और अन्तिम तो बिल्कुल नये हैं जो हमें ग्रन्थों का आभ्यन्तर परीक्षण और अध्ययन करते हुए प्राप्त हुए हैं। आशा है इन प्रमाणों से रत्नकरण्ड-श्रावकाचार की प्राचीनता पर समुचित प्रकाश पड़ेगा और विद्वानों को उसके निर्णय में अच्छी सहायता मिलेगी।

१. रत्नकरण्ड और यशस्तिलक की तुलना—

आचार्य सोमदेव ने अपना यशस्तिलक शक सं० ८८१ में समाप्त किया है। इन्होंने इसमें रत्नकरण्डश्रावकाचार का कितना ही उपयोग किया है। यहाँ हम दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक नमूने पेश करते हैं :—

(क) विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न हि सन्त्यसति सम्यक्त्वे वीजाभावे तरोरिव ॥

—रत्नकरण्ड श्लोक ३२

विद्याविभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः।
न हि वीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥

—यशस्ति० पृ० ३२४।

(ख) गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।

—रत्नकर० श्लो० ३३ ।

अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ।

—यशस्तिलक पृ० ३२४ ।

(ग) ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

—रत्नकर० श्लो० २५ ।

जाति-पूजा-कुल-ज्ञान-रूप-सम्पत्तपोबले ।
उत्वान्त्यहंयुत्तोद्रेकं मदमस्मयमानसाः ॥

—यशस्ति० पृ० ४१४ ।

(घ) जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥

—रत्नकर० श्लो० ४६ ।

जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मविबोधनम् ।
बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥

—यशस्ति० पृ० ४१५ ।

(ङ) भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥

—रत्नकर० श्लो० ८३ ।

यः सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः ।
भूषादिः परिभोगः स्यात्पौनः पुन्येन सेवनात् ॥

—यशस्ति० पृ० ४०२ ।

(च) नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

—रत्नकर० श्लो० ८७ ।

यमश्च नियमश्चेति द्वे त्याज्ये वस्तुनी स्मृते ।
यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥

—यशस्ति० पृ० ४०३ ।

(छ) स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

—रत्नकर० श्लो० २६ ।

यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन मोदते।
स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना॥

—यशस्ति० पृ० ४१४।

रत्नकरण्ड और यशस्तिलक की इस तुलना से प्रकट है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार यशस्तिलक (शक सं० ८८१) से पूर्व की रचना है और उसका उसमें खूब उपयोग हुआ है।

२. आचार्य वादिराज और प्रभाचन्द्र के उल्लेख—

आचार्य सोमदेव से कुछही उत्तरवर्ती वादिराज और प्रभाचन्द्र ने रत्नकरण्ड का स्पष्ट शब्दों में क्रमशः पार्श्वनाथ चरित (श्लो० १९) और रत्नकरण्डटीका में (पृ० १) नामोल्लेख किया है। प्रभाचन्द्रने तो समग्र ग्रन्थ पर अपनी टीका ही बनाई है। और इसलिए इन दो विद्वानाचार्यों के प्रमाणोल्लेखों से भी रत्नकरण्ड उनसे पूर्ववर्ती सिद्ध है।

३. सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार में रत्नकरण्ड का पद्य—

सिद्धसेन दिवाकर का समय यद्यपि एक मत से अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। कोई विद्वान् उन्हें विक्रम के नवरत्नों में 'क्षपणक' बतलाते हैं। कोई पाँचवीं शताब्दी का कहते हैं और अनेक विद्वान् उन्हें सातवीं शताब्दी का प्रकट करते हैं। जो हो, फिर भी वे विक्रम की सातवीं आठवीं शताब्दी के विद्वान् अवश्य है क्योंकि सातवीं शदी के विद्वान् धर्मकीर्ति, कुमारिल और पात्रकेशरी का उन्होंने अनुसरण किया है और सिद्धर्षि के, जिनका समय ९ वीं शताब्दी बतलाया जाता है और जिन्होंने उनके 'न्यायावतार' पर टीका लिखी है, पूर्ववर्ती हैं। इन सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' में रत्नकरण्ड का 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' आदि ९ वां पद्य ज्यों का त्यों दिया है। जो रत्नकरण्ड का मूल पद्य है और न्यायावतार में उसे वहां से उठाकर उसी प्रकार मिला लिया है जिस प्रकार अकलंक ने न्यायविनिश्चय में स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की **'सूक्ष्मान्तरितदूरार्था'** और पात्रकेशरी के त्रिलक्षणकदर्थन की 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र' इन कारिकाओं को वहाँ से उठा कर मिला लिया है और अपने ग्रंथ का उन्हें अङ्ग बना लिया है। अतः इससे भी सिद्ध है कि रत्नकरण्ड न्यायावतार से पूर्व की रचना है अर्थात् विक्रम की ७ वीं शती से पहले की वह कृति है, इसमें जरा भी सन्देह अथवा विवाद नहीं हो सकता।

४. रत्नकरण्ड में अपने समय की एक ऐतिहासिक परम्परा का समुल्लेख—

अब हम रत्नकरण्डगत उस प्राचीन परम्परा को बतलाते हैं, जो ग्रंथकार की ही दूसरी रचना स्वयम्भूस्तोत्र में उपलब्ध है। और जिससे रत्नकरण्ड की अति सुप्राचीनता स्पष्टतः

प्रमाणित हो जाती है। रत्नकरण्ड में ११ वीं प्रतिमा का स्वरूप निम्न प्रकार किया गया है :—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥श्लो० १४७॥

११ वीं प्रतिमा का ऐसा निर्विकल्प विशुद्ध स्वरूप अन्य किसी भी श्रावकाचार में उपलब्ध नहीं होता। उक्त पद्य में कहा गया है कि 'घर से मुनिवन में जाकर गुरु के पास में व्रतों को ग्रहण कर के जो भिक्षावृत्तिपूर्वक रहता है, तथा तपों को तपता है और खण्ड-वस्त्र का धारी है वह उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् ११ वीं प्रतिमावाला कहा जाता है।' यहाँ खास ध्यान देने योग्य 'मुनिवन' शब्द है जिसका अर्थ है 'मुनियों का निवास स्थान वन' और जिससे यह प्रकट है कि रत्नकरण्ड के रचयिता के समय में मुनि वनमें ही रहते थे— वे वसतिका, मन्दिर-मठादि में नहीं रहते थे। इसी लिये उत्कृष्ट प्रतिमाधारी को व्रतग्रहण के लिये वहीं जाने का विधान किया गया है। यदि उस समय वसतिका या मन्दिर-मठादि में मुनि गण रहते होते तो 'मुनिवन' में ही जाने का वे विधान न करते। मन्दिर या वसतिका में गुरु के पास व्रतों के दिये जाने का भी वे विधान करते। जैसा कि लाटी संहिताकार आचार्य कल्प पं० राजमल्ल जी ने विधान किया है—

सर्वतोऽस्य गृहत्यागो विद्यते सन्मुनेरिव।
तिष्ठेद्देवालये यद्वा वने च मुनिसन्निधौ॥
उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा।
एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात्॥

—सर्ग ७, पद्य ५४, ५५।

अब श्रावकाचार के दूसरे प्राप्त ग्रन्थों के ११ वीं प्रतिमाधारक के लक्षणों को भी देखिये। इनमें रत्नकरण्ड जैसा न संक्षिप्त विशुद्ध लक्षण है और न मुनिवन का वैकल्पिक लक्षण ही है।

(क) ११ वीं शताब्दी के विद्वान् चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार में ११ वीं प्रतिमा-धारक का निम्न प्रकार लक्षण किया है—

"उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवसनादेर्विरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेनोपविश्य भोजी रात्रिप्रतिमादितपः समुद्यत आतापनादि-योगरहितो भवति।" —पृष्ठ १९।

(ख) १२वीं शती के विद्वान् वसुनन्दि सैद्धान्तिकदेव ने अपने श्रावकाचार में इस प्रतिमाधारी का १२ गाथाओं में वर्णन किया है। उन्होंने उसके दो भेद बतलाकर आहा-रादि में उसकी प्रवृत्ति का प्रकार भी वर्णित किया है, मुनिवन में उसे व्रतों के लिये जाने

का कोई उल्लेख नहीं किया। इस ग्रन्थ की ११ वीं प्रतिमा का स्वरूप वर्णन करनेवाली पहली गाथा निम्न प्रकार है—

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेकधरो पढमो कोवीण परिग्गहो विदियो॥

—गाथा ३०१।

(ग) ईसवी सन् १०१४ (वि० सं० १०७० के) विद्वान् अमितगतिने अपने श्रावकाचार में इस प्रतिमाधारी का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम्।
उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो विभीलुकः संसृतिमातुधान्याः॥

—अमित० श्रा० ८-७७।

यहाँ भी मुनिवन में जाकर व्रतों को ग्रहण करने का इस प्रतिमाधारी के लिये कोई विधान निर्दिष्ट नहीं है।

(घ) पं० राजमल्लजी के दो पद्यों को ऊपर उद्धृत किया गया है। ऐलक के विषय में वे लिखते हैं—

तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ।
निरवद्ये तथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु॥

इस तरह इन श्रावकाचारों में कथित ११वीं प्रतिमाधारी के लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्ड में गृहत्यागी परम्परा स्वीकृत हुई है, जो उस समय पहले से प्रचलित चली आ रही थी और उसमें कोई तबदीली नहीं हुई थी। अर्थात् रत्नकरण्ड उस समय की रचना है जब मुनिगण वनमें ही रहा करते थे, मठों चैत्यालयों आदि में नहीं और इसलिये रत्नकरण्ड का रचनाकाल दूसरी-तीसरी शताब्दी है, जब शिथिलाचार मुनियों में जरा भी प्रवृत्त नहीं था और न मुनि चैत्यालयों या मठों में रहते थे। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वह तब की रचना है जब मुनियों में चैत्यवास प्रचलित नहीं हुआ था—केवल वनवास प्रचलित था।

अब यह देखना चाहिये कि मुनि अपने प्राचीन निवासस्थान वन को छोड़कर वहाँ से चैत्यालयों आदि में कब से रहने लगे?

जटासिंहनन्दि ने, जिनका समय डा० ए० एन० उपाध्ये ने ऊहापोह पूर्वक ६५० ईस्वी से ७५० ई० निर्द्धारित किया है। अपने वरांगचरित में मुनियों के निवास स्थान के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—

शून्यालये देवगृहे श्मशाने महाटवीनां गिरिगह्वरेषु।
उद्यानदेशे द्रुमकोटरे वा निवास आसीदपिसत्तमानाम्॥

रात्रिंचरा भीमरवाः शकुन्ताः शार्दूलसिंहद्विपजम्बुकर्क्षाः ।
यत्राकुला भीमभुजंगमाश्च तत्रास वासो यतिपुङ्गवानाम् ॥

—वरांग च० अ० ३०—२६, २७, २८, २९, ३० आदि पद्य।

यहाँ जटासिंहनन्दि ने मुनियों का वास वनादि के अतिरिक्त देवगृह में भी बतलाया है, इससे यह जान पड़ता है कि उनके समय में मुनि वनादि के अलावा देवगृह में भी रहने लगे थे।

अब ९ वीं शती के विद्वान् और प्रसिद्ध जिनसेनाचार्य के प्रधान शिष्य उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य अपने आत्मानुशासन में क्या कहते हैं ? सो भी देखिये, वे लिखते हैं—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥श्लो० १९७॥

यहाँ वे कहते हैं कि "जैसे रात्रि में मृग इधर से उधर डरते फिरते हैं वैसे ही इस कलिकाल में तपस्वी वन से गाँव के समीप प्रवेश कर रहे हैं, यह दुःख की बात है।" इससे जाना जाता है कि गुणभद्राचार्य के समय (९ वीं शती) में मुनियों का प्रवेश गांव के पास (वसनिकाओं-मठों) में होने लगा था और वनमें रहने की उनकी प्रवृत्ति छूट रही थी और इस स्थिति को देखकर वे अफसोस जाहिर करते हैं तथा उसे कलिकाल का प्रभाव बतलाते हैं।

इससे यह प्रकट होता है कि मुनियों में चैत्यवास की प्रथा जटासिंहनन्दी से कुछ पूर्व से चालू तो हो चुकी थी, लेकिन उस समय उनकी अपनी वनवास की प्रथा भी मौजूद थी—पहाड़ों की गुफा आदि में और भयंकर स्थानों में तथा वनों में भी वे रहते थे। पर इस स्थिति का ह्रास उत्तरोत्तर होता गया और गुणभद्राचार्य के समय में तो वनवास प्रायः छूट सा ही गया और चैत्यवास की प्रधानता हो गई। अब हमें यह देखना चाहिये कि चैत्यवास का श्री गणेश (प्रारंभ) हुआ कब से ?

जैन इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने आज से कोई २६, २७ वर्ष पूर्व सन् १९२० में 'जैनहितैषी' में 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' शीर्षक से एक विचारपूर्ण लेख लिखा था, जो अब 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक उनके प्रकाशित निबन्ध संग्रह में निबद्ध है[1]। आपने मर्करा के एक दानपत्र के जो शक सं० ३८८ (वि० सं० ५२३) का है, आधार से यह बतलाया है कि उसमें महाराजा अविनीत द्वारा चन्द्रनन्दि मुनि को जैनमन्दिर के लिये एक गाँव दिये जाने का उल्लेख है। इसका निष्कर्ष निकालते हुए आपने लिखा है कि 'इसका (चैत्यवास का) प्रारम्भ सम्भवतः विक्रम,

१ देखिये इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३४७।

की छठी शताब्दी के लगभग हो गया था।" वहाँ आपने यह भी बतलाया है कि द्राविड़ संघ के स्थापक वज्रनन्दि, जो पूज्यपाद के शिष्य थे, उनको आदि लेकर पुराने चैत्यवासी थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि चैत्यवास लगभग विक्रम की पाँचवीं, छटी शताब्दी से अवश्य प्रारम्भ हो गया था, यद्यपि गुणभद्राचार्य के समय तक अथवा उनके कुछ पूर्व तक बनवास भी चैत्यवास के साथ चलता रहा। जो हो, यह निश्चित है कि विक्रम की दूसरी तीसरी शती में चैत्यवास का नाम मात्र भी नहीं था—उस समय एकमात्र मुनियों में बनवास था, जैसा कि प्रेमी जी के उपरोक्त लेख से प्रकट है।

स्वयम्भूस्तोत्र का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पद्य।

यों तो स्वयम्भूस्तोत्र में अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पद्य और पद, वाक्यादि भरे पड़े हैं, जिनमें ग्रंथकार ने बड़ा इतिहास भर दिया है और जो इतिहास के विद्वानों के लिये जैन इतिहास में बड़े उपयोगी हो सकते हैं। पर यहाँ प्रकृत से सम्बन्ध रखने वाले एक ही पद्य को उपस्थित करते हैं। स्वयम्भू स्तोत्र का वह पद्य इस प्रकार है :—

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च।
प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्ज्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः॥

—स्वयम्भू० १२८, अरिष्टनेमि०।

यहाँ स्वयम्भूस्तोत्रकार ने २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का स्तवन करते हुए उनके तपोगिरि 'ऊर्ज्जयन्त' पर्वत (गिरनार) का ऐतिहासिक चित्रण किया है। वे कहते हैं कि 'जो लोक में प्रसिद्ध उर्ज्जयन्त (तीर्थंकर का तपोगिरि होने से) 'तीर्थ' संज्ञा को वहन करता है अर्थात् 'तीर्थ' कहा जाता है और जो चारों ओर से बहुत तादाद में प्रीतिपूर्ण विशाल हृदय ऋषियों से निरन्तर आसेवित रहता है और आज भी है।' यह पद्य उस समय के मुनियों के आचार, प्रवृत्ति और तपस्वी जीवन पर बड़ा भारी प्रकाश डालता है। इस पद्य के प्रायः सभी पद ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। 'अद्य' पद तो खास तौर से बड़े महत्व का ऐतिहासिक पद है, जिसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि उनके (स्वयम्भू स्तोत्रकार स्वामी समन्तभद्र के) समय में ऋषिगण बड़ी भारी तादाद में ऊर्ज्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) को सतत सेवे हुए थे। और वह भी स्वेच्छापूर्वक विशाल हृदय को लेकर। वहाँ रहने में उन्हें किसी प्रकार के भय, त्रास या कष्ट का अनुभव नहीं होता था। गांव के समीप अथवा वसनिकाओं, मठों या देवग्रहों में रहना तो दूर रहा उनमें रहने की उनकी न इच्छा होती थी और न प्रवृत्ति ही—वे ऊर्ज्जयन्त जैसे गिरिपर्वतों—बनों में ही रहने की अपनी प्राचीन परम्परा के प्रिय थे और उसे हृदय से पालन किये हुए थे।

अब रत्नकरण्ड के, 'मुनिवनमित्वा' और स्वयम्भूस्तोत्र के 'ऋषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च' इन दोनों पद्यों की तुलना कीजिये और अत्यन्त बारीकी से निरीक्षण कीजिये। उससे मालूम हो जायगा कि स्वयम्भूस्तोत्र जिस काल की रचना है उसी काल की रत्नकरण्ड-श्रावकाचार भी। अर्थात् ये दोनों ग्रंथ उस समय के हैं जब मुनियों में चैत्यवास का नाममात्र भी न था—वनवास ही उनमें प्रचलित था। यदि रत्नकरण्ड विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक और गुणभद्राचार्य के आत्मानुशासन के बाद लिखा गया होता तो उसमें ११ वीं प्रतिमावाले के लिये 'गृहतो मुनिवनमित्वा'—घर से मुनि वन में जाने का उल्लेख कदापि न आता; क्योंकि उस समय चैत्यवास होने लगा था और वनवास प्रायः छूट चुका था और इसलिये ११ वीं प्रतिमा धारण करने वाले को व्रतों के ग्रहण करने के लिये मुनियों का सान्निध्य गांव के पास वसतिकाओं में, चैत्यालयों में और मठों में मिल सकता था और वहीं जाने का उसे रत्नकरण्डककार आदेश करते—वन में निवास करने वाले मुनियों के पास नहीं अथवा कुछ भी न कहते या चैत्यवास को भी साथ में कहते।

अतएव इस विवेचन से यह प्रामाणिक निष्कर्ष निकलता है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उतना अर्वाचीन नहीं है और न विद्यानन्द या गुणभद्राचार्य के बाद की रचना है जितना और जैसा एक-दो विद्वान् समझते हैं। अतः इन ग्रंथों के मर्मज्ञ विद्वानों से नम्र अनुरोध है कि वे सारी ऐतिहासिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए 'रत्नकरण्ड के 'गृहतो मुनिवनमित्वा' और स्वयम्भूस्तोत्र के 'ऋषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च। प्रीति-वन-हृदयः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः।' इन समस्त पदों पर सूक्ष्मता से विचार करें और बड़ी गम्भीरता से सोचें। उनकी चलती कलम से उपेक्षा न करें।

उपसंहार

ऊपर जो प्रमाण दिये गये हैं उन पर से रत्नकरण्ड श्रावकाचार की अति प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। वह मुनियों के वनवास के समय की प्रौढ़ रचना है, चैत्यवास के समय की नहीं, जिसका प्रारम्भ विक्रम की पाँचवीं, छठवीं शती माना जाता है और इसलिये रत्नकरण्ड में वनवास का ही विधान होने से वह विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से बहुत पहले अर्थात् २री ३री शती की रचना है, इसमें अब कोई सन्देह नहीं रहता। ११ वीं प्रतिमा के स्वरूप में उत्कृष्ट श्रावक को तीन बातें अथवा शर्तें बतलाई गई हैं—पहली शर्त यह कि वह वन में जाकर मुनियों के समीप में व्रतों को ग्रहण कर भिक्षावृत्ति पूर्वक आहार ले, दूसरी शर्त यह कि तपों को तपे, तीसरी यह कि खण्डवस्त्र (एकवस्त्र) को धारण करे, यह उसकी चर्या है। यहाँ उसे वन में जाने मात्र का आदेश है वह वहीं रहे या न रहे, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया जैसा कि उत्तरवर्ती श्रावकाचारकारों ने उसके लिये शून्य मठ, चैत्यालय आदि में रहने का विशेष तौर से उल्लेख किया है, इसलिये वह तो मुनि

वन के अलावा दूसरी जगह भी रह सकता है। पर मुनियों के लिये वहाँ दो मार्ग नहीं हैं—उनके लिये तो एक ही मार्ग का निर्देश है और वह है 'वन में रहना'—वनमें ही उन्हें 'ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी' होने चाहिये। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस ग्रंथ में 'रत्नमाला' आदि ग्रन्थों जैसी शिथिलाचार प्रवर्त्तक या पोषक मान्यता भी कोई नहीं है। अतः रत्नकरण्ड श्रावकाचार स्वयम्भूस्तोत्र की रचनाकाल का जो दूसरी, तीसरी शती माना जाता है, ग्रन्थ है; यह स्पष्ट है।

२८ जनवरी १९४६ }
सरसावा।

नोट—कुछ दिनों से समाज में रत्नकरण्ड की प्राचीनता के सम्बन्ध में विवाद चल रहा है। विद्वान् लेखक का उपर्युक्त अन्वेषणात्मक निबन्ध उक्त विवादास्पद विषय के निर्णय में पर्याप्त सहायक होगा। लेखक की अन्तिम दलील बहुत सबल है, आशा है रत्नकरण्ड की प्राचीनता में सन्देह करनेवाले महानुभावों का समाधान हो जायगा।

—नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य

कारंजा के कतिपय मूर्तिलेख

दि० जैन सेनगण मन्दिर—

१ नन्दीश्वर प्रतिमा—धातुमयी, पीत वर्ण, १ फुट ऊंची—लेखः—शके १५०० सर्वजीत संवत्सरे माघमासे शुक्लपक्षे १३ दिने श्री श्रीमूलसंघ सेनगणे पुष्करगच्छे वृषभसेनान्वये भट्टारक श्रमणभद्रे तत्पट्टे श्री लक्ष्मीसेनोपदेशात् बघेरवाल ज्ञातीय श्रोसवाल गोत्रे सिंघई श्री संवदरा तद्भार्या पुनाई नन्दीश्वरबावनजिनचैत्यालय प्रतिष्ठापित शुभं भवतु।

२ संभवनाथ—पाषाणमयी, श्वेतवर्ण, १। फुट ऊंची, लेख—शके १५८७ मार्गशीर्ष शुक्ला १३ दिने मूलसंघे पुष्करगच्छे सेनगणे वृषभसेनान्वये बघेरवालज्ञातीय विट्ठल सोनसा।

३ पार्श्वनाथ—पाषाणमयी, श्वेतवर्ण, २ फुट ऊंची, लेख—शके १५८० विलंब संवत्सरे मार्गशीर्ष व० ४ मू० सं० पु० ग० सेनगणे वृषभसेनान्वये भट्टारक सोमसेन तत्पट्टे श्रीजिनसेनगुरूपदेशात् एलचपुर वास्तव्ये खण्डेरवालज्ञातीये कटारिया गोत्रे सोनसा तद्भार्या लिंबाइ तयोः पुत्रास्त्रयः प्रथम पुत्र महाजन श्रीगणासाह तस्य भार्या बमटाइ प्रपौत्र महाजन श्री भाऊसा इत्यनेन प्रतिष्ठापितं।

४—चन्द्रप्रभु—पाषाणमयी, श्वेतवर्ण, ६ इञ्च ऊंची, लेख—शके १६७३ फाल्गुन वदी १२ रविवारे सेनगणे वृषभसेनान्वये भट्टारक शान्तिसेनोपदेशात् कारंजा महानगरे प्रतिष्ठापितम्।

५ वृषभनाथ—पाषाणमयी श्वेतवर्ण, ९ इञ्च ऊंची, लेख—शके १६७३ फाल्गुन वदी १२ रविवार सेनगणे वृषभसेनान्वये भट्टारक श्री शान्तिसेनोपदेशात् कारंजा महानगरे प्रतिष्ठापितम्।

६ शीतलनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, ९ इंच ऊंची, लेख—शके १५८० मार्गशीर्ष व० सं० सेनगणे वृषभसेनान्वये श्री सोमसेन तत्पट्टे जिनसेनोपदेशात कारंजा वास्तव्ये बघेरवाल सावलिया गोत्रे वीरसाह तद्भार्या गोनाइ तयोः पुत्रौ द्वौ नवनामा तस्य भार्या दाइ भ्राता शीतलसा एते प्रणमंति।

७ सुपार्श्वनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, ६ इंच ऊंची, लेख—सं० १६६० माघे शुक्लपक्षे ५ गुरुवारे मू० सं० सेनगणे श्री सोमसेन तत्पट्टे श्री गुणभद्रोपदेशात् श्री बाह चारित्रमती।

८ चतुर्विंशतिका—धातुमयी, पीतवर्ण, ९ इंच ऊंची, लेख—सं० १५७७ ज्येष्ठ शुक्ला १० बुधे मू० सं० सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री सकलकीर्त्ति तत्पट्टे श्री भुवनकीर्त्ति तत्पट्टे श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे विजयकीर्ति .... संघई नरसिंगसा नेभासा श्रीसंभवनाथं नमति।

९ संभवनाथ—पाषाणमयी, कृष्ण वर्ण, ९ इंच ऊंची, लेख—सं० १५६१ प्रमादि संवत्सरे फाल्गुन शु० ५ भट्टारक श्री सोमसेनेन प्रतिष्ठापितं।

१० नमिनाथ—पाषाणमयी, कृष्णवर्ण, १ फुट ऊंची, लेख—सं० १६७६ वैशाख शुक्ला ६ भट्टारक श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे श्री पद्मनन्दी गुरूपदेशात् समस्त श्रीसंघाः प्रणमन्ति।

११ चन्द्रनाथ—पाषाणमयी, कृष्णवर्ण, १½ फुट ऊंची, लेख—सं० १६४६ वै० शु० १३ समस्तसंघ सेनगणेन प्रतिष्ठापितं।

श्री दि० जैन मन्दिर काष्ठासंघ—

१ महावीरस्वामी—पाषाणमयी, बादामीरंग २½ फुट ऊंची।

२ शान्तिनाथ—पाषाणमयी, बादामी रंग, ३ फुट ऊंची।

३ शीतलनाथ—पाषाणमयी, बादामी रंग ३ फुट ऊंची।

लेख—काष्ठासंघे नंदीतटगच्छे भ० चन्द्रकीर्त्तिस्तत्पट्टे लक्ष्मीसेनस्तत्पट्टे भ० इन्द्र भूषण प्रतिष्ठितं।

संवत १७१५ शके १५८० वर्षे विलंबिनाम संवत्सरे माघमासे शुक्लपक्षे पंचमीदिने सोमे कारंजानगरे चन्द्रप्रभचैत्यालये काष्ठासंघे लाडवागडगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भट्टारक श्री प्रतापकीर्त्याम्नाये बघेरवालज्ञातीय गोवालगोत्रे संघवी बापु भार्या यमुनाइ तयोः पुत्रौ सं० भोज सं० पदाजी सं० भोजसभा पदमाई तयोः पुत्र संघवी पदाजीतस्य प्रथम भार्या एमाई तयोः पुत्र सं० बापु भा० कमला पुत्र नाभा भा० गंगा सं० आदुसा भा० गोमाई सं० अर्जुन भा० शकु तयोः भार्या कमलजा तयोः पुत्र समोबा भार्या चांदा सं० बापुकस्य भा०...सं० नवना सं० मानल भार्या हांस तयोः पुत्र सं० सोभते प्रणमंति।

४ शीतलनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, ८ इंच ऊँची, लेख—(सामने का भाग) संमत १६८७ वर्षे फाल्गुन सुदि १० गुरौदिने काष्ठासंघे नंदितटगच्छे विद्यागणे भ० श्रीरामसेनान्वये भट्टारक श्रीविश्वसेन तत्पट्टे भ० विद्याभूषण तत्पट्टे भ० श्री श्रीभूषण तत्पट्टे श्री चन्द्रकीर्त्ति तत्पट्टे भ० श्री रामकीर्त्ति तत्पट्टे भ० श्रीलक्ष्मीसेन प्रतिष्ठितमिदं बिंबं॥

(पीछे का भाग)—संमत १६८६ वर्षे फाल्गुन सुदि १० गुरौ श्रीकाष्ठासंघे लाडवागड गच्छे पुष्करगणे श्रीलोहाचार्यान्वये भ० नरेन्द्रकीर्त्ति तत्पट्टे भ० प्रतापकीर्त्ति तदाम्नाये बघेरवाल जातीय पीतलियागोत्रे सा० रतन भा० हीलाई तयोः पुत्रः सा० रामा भा० नेमाई तयोः पुत्रस्त्रय प्रथम पुत्र सा० रतन भा० वागाई तयोः पुत्र सा० माणिक रामाख्यास्य द्वितीय पुत्र हिरा भा० राजाई तयोः पुत्र लाखा भा० गोदाई रामाख्यास्य तृतीय पुत्र सा० तवना भा० चांगाई तयोः पुत्र सा० अंतु एते सर्वे नित्यं प्रणमंति।

५ महावीर स्वामी—स्फटिकमयी, श्वेतवर्ण, ११ इञ्च ऊँची, लेख—संमत १७३२ वर्षे वैशाख सुदि ७ सोमे बुहीणपुरे वास्तव्य सा० वासुदेव जगजीवनदास कारितं श्रीमहावीर जिन बिंबं वासुपूज्य जिनबिंबं च।

६ शीतलनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, ९ इंच ऊँची लेख—(सामने का भाग) संमत १६९६ फाल्गुन सुदि १० गुरौ श्रीकाष्ठासंघे नंदितटगच्छे विद्यागणे भ० श्रीरामसेनान्वये भट्टारक श्रीविश्वसेन तत्पट्टे भ० विद्याभूषण तत्पट्टे भ० श्री श्रीभूषण तत्पट्टे भ० चन्द्रकीर्त्ति तत्पट्टे भ० श्रीराजकीर्त्ति तत्पट्टे भ० लक्ष्मीसेन प्रतिष्ठितमिदं बिंबं ॥

(पीछे का भाग) संमत १६९६ वर्षे फाल्गुन सुदि १० गुरौ श्रीकाष्ठासंघे लाडवागड गच्छे पुष्करगणे श्रीलोहाचार्यान्वये भ० नरेन्द्रकीर्त्ति तत्पट्टे भ० प्रतापकीर्त्ति तदाम्नाये बघेरवाल ज्ञातीय पीतल्यागोत्रे सा० रतन भा० पीलाई तयोः पुत्र सा० रामा भा० नेमाई तयोः पुत्रत्रय प्रथम पुत्र सा० रतन भा० बागाई तयोः पुत्र सा० माणिक रामास्यस्य द्वितीय पुत्र हिरा भा० राजाई तयोः पुत्र सा० लाखा भा० गोपाई रामास्यस्य तृतीय पुत्र सा० तवना भा० चांगाई तयोः पुत्र सा० अंतु एते सर्वे नित्यं प्रणमन्ति।

७ आदिनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, १½ फुट ऊँची, लेख—संवत १७०३ वर्षे ज्येष्ठ बदी १० शुक्रे दक्षिणदेशे कारंजकपुरे चन्द्रनाथचैत्यालये श्रीकाष्ठासंघे नंदीतटगच्छे विद्यागणे श्रीरामसेनान्वये भ० श्रीविश्वसेन तत्पट्टे भ० श्री विद्याभूषण तत्पट्टे भ० श्रीश्रीभूषण तत्पट्टे चन्द्रकीर्त्ति तत्पट्टे श्रीराजकीर्त्ति तत्पट्टे भ० लक्ष्मीसेन प्रतिष्ठितमिदं।

८ पद्मप्रभ—पाषाणमयी, श्वेतवर्ण, १½ फुट ऊँची, लेख—(सामने का भाग) संमत १६७० वर्षे फाल्गुन वदी ५ शुक्रे श्रीमूलसंघे भ० श्रीवादीभभूषणास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीरामकीर्त्ति गुरूपदेशात् अग्रवालज्ञातीय सं० नाऊ भार्या रंगाई सुत सं० रूपचंद भा० कमला भ्राता सं० लंगा भा० करयाती ... (पीछे का भाग) वसंवेद भा० राईमती पुत्र पाट खान रतउ-रामन कृष्णदास सुन्दरदासएते श्रीपद्मप्रभनित्यं प्रणमंति।

९ पार्श्वनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, ४ इंच ऊँचाई लेख संमत १६४५ वर्षे वैशाख शुक्ला ७ सोमे श्रीकाष्ठासंघे लाडवागडगच्छे पुष्करगणे भ० श्री प्रतापकीर्त्ति तस्याम्नाये बघेरवाल ज्ञातीय नाटल गोत्रे सं० रामा भार्या रजाई सं० नेमाजी भा० गंगाई सं० साकुजी भा० सोनाई सं० सोनवा चातासणी प्रणमंती आ० गुणचन्द्र प्रतिष्ठितं।

शके १५४१ माघवदी ८ श्रीकाष्ठासंघे लाडवागड गच्छे भ० श्री प्रतापकीर्त्तिस्तदाम्नाये बघेरवालज्ञातीय गोवालगोत्रे अंतु संघनी भार्या नंदाई तयोः पुत्र सं० जसु भार्या गोजाई महासु भार्या जवाई श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथं प्रणमंति नंदितटगच्छे श्री श्रीभूषण प्रतिष्ठितं।

१० पार्श्वनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, १० इंच ऊँची लेख—संमत १६३९ वर्षे वैशाख सुदी ५ गुरौ श्रीमूलसंघे भ० सकलकीर्त्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीभुवनकीर्त्तिस्तत्पट्टे भ० विजयकीर्त्तिस्तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रस्तत्पट्टे भ० शुभकीर्त्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीगुणकीर्त्ति तदाम्नाये ब्र० जिनदासस्तत्पट्टे ब्र० शान्तिदास तत्पट्टे श्रीहंसराजस्तत्पट्टे ब्र० राजपालस्तत्पट्टे ब्र० सामीदासगुरूपदेशात् श्रीजिनपुरवास्तव्य श्रीसंघ श्रीपार्श्व नाथं प्रति प्रणमन्ति शुभं भवतु।

११ समवशरणसभा—धातुमयी प्रतिमा, पीतवर्ण, २½ फुट ऊँची, लेख—संवत् १६४२ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १३ सोमे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे ब्र० श्रीजिनदास तत्प ब्र० शान्तीदासोपदेशात् मयूर गेरे हुंवड ज्ञातीय वृद्ध गोत्रेस । साउजि । भा० लिघाइ । सु० । सा नरसिंग । भा० जिवाइ । सुतर । प्रथम । साधम भी । भा० २। प्र० । हासबाई ; गांगबाई । पुत्री वीलबाई । वीजानाम सं० । अभयराज । भा० मदजलदे । सुत २। साद्र उजि । आल्हजि । भोजाई । स । गोजाई । सुत ३ । विमगग । विद्याधर । राजधर । श्रीवीरजिणसमोसरणं प्रणमंति ।।

१२ पार्श्वनाथ—पाषाणमयी, श्वेतवर्ण, १½ फुट ऊँची, लेख—संवत १६६० शाके १५३५ माघ शुक्ले ५ बुधे श्रीकाष्ठासंघे माथुर गच्छे भ० श्रीकुमारसेनस्तत्पट्टे भ० श्रीशुभकीर्त्तिस्तदाम्नाये अग्रवाल ज्ञातौ गोत्रे सा० श्रीअजयचंद तस्य पुत्र सा० मथुरादास बंधपुरे प्रतिष्ठितं ।

१३ आदिनाथ—पाषाणमयी, श्वेतवर्ण, १⅓ फुट ऊँची, लेख—संवत १६७६ वर्षे माघवदी ८ श्रीकाष्ठासंघे लाडवागड गच्छे भ० प्रतापकीर्त्त्याम्नाये बघेरवाल ज्ञातीय बोर खरडया गोत्रे राजपाल भार्या वोपाई पुत्र नाथु सा० भार्या चन्दाई द्वितीय पुत्र हिरमा भार्या हंसाई तृतीय पुत्र पुनासा भार्या हंसाई सर्वत्र परिवार श्रीआदिनाथं श्रीपार्श्वनाथं नित्यं प्रणमंति । श्रीकाष्ठासंघे नंदितटगच्छे भ० श्रीरामसेनान्वये भ० विद्याभूषण तत्पट्टे श्री श्रीभूषण प्रतिष्ठितं बहादुरपुरे ।

१४ शान्तिनाथ—धातुमयी, पीतवर्ण, ७½ इंच ऊँचाई, लेख—संवत १७३२ वर्षे जेष्ठ सुदी १० सोमे श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भ० श्रीकुमारसेनदेवास्तत्पट्टे भ० श्री शुभकीर्त्ति तत्पट्टे भ० श्रीमेघकीर्त्ति तत्पट्टे भ० श्रीगुणभद्रोपदेशात् जैसवाल उपरौतीया ज्ञातीय नायकगोत्रे संघपती श्री कल्याण तस्य भार्या श्रीराहमती तयोः पुत्र बासुदेव भार्या सश्री आसमती तयोः पुत्र सं० श्री जगजीवनदास भार्या दमयंती मानमती ।

—क्रमशः

विविध-विषय

१—चन्दवाड़ या चन्द्रपाठ।

'भास्कर' के गताङ्क (भा० १३ किरण १ पृ० ७-८) में श्रीयुत पं० जगन्नाथजी तिवारी ने चन्दवार के इतिहास पर फीरोजाबाद एवं वहाँ के मूर्तिलेखों से प्रकाश डाला है, इसके लिये हम उनके आभारी हैं। उनका इतिहास-प्रेम प्रशंसनीय है; किन्तु उन्होंने मूर्तिलेखों से जो निष्कर्ष निकाले हैं वह ठीक नहीं जंचते! फिरोजाबाद-छिपैठी से उन्होंने निम्नलिखित मूर्तिलेख उपस्थित कर के महाराज गश्रो, हीतम आदि को वहाँ का शासक बताया है :—

"सिद्धि संवत् १४२८ वर्षेज्येष्ठ सुदी १५ शुक्रे काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्कर-गणे प्रतिष्ठाचार्य श्री अनन्तकीर्त्तिदेवा इन्द्र (?) रामचन्द्रानन्दे (?) कंचुकान्वये श्री चन्द्रपाठ दुर्ग निवासिनः राउत गश्रो पुत्र महाराजा तत्पुत्र राउत हीतमी ... इत्यादि।"

यह मूर्तिलेख शुद्ध रूप में पढ़ा नहीं गया है। मालूम होता है कि 'कंचुकान्वये' के पहले 'लंब' शब्द होगा—यदि नहीं तो वह छूट गया है। राउत गश्रो और उनके पुत्र महाराज और महाराज का पुत्र राउत हीतमी आदि लम्बकंचुक (लमेचू) चंदवार के निवासी थे। मूल लेखमें 'महाराज' शब्द विशेषण नहीं, बल्कि व्यक्तिवाचक संज्ञा और एक व्यक्ति का नाम है, जो राउत गश्रो का पुत्र है। महाराज के साथ राउत विशेषण नहीं है, जिससे प्रकट होता है कि वह अपने पिता की भांति राजकर्मचारी नहीं थे। उनके पिता और पुत्र राउत थे। बटेश्वर से प्राप्त एक पट्टावली में भी चन्द्रवार के राजाओं के राजकर्मचारी जैनी थे; ऐसा उल्लेख है। उसमें लिखा है कि "चन्द्रपाल चन्दवार के राजा हुए और श्यामसहाय चन्दवरिया चन्दवार के दीवान हुये।" (लँबेचू समाज का संक्षिप्त परिचय, पृ० ३३) अतः उक्त लेख के आधार से यह नहीं कहा जा सकता कि राउत गश्रो व उनकी संतान चन्दवार के शासक थे—वह राज कर्मचारी प्रतीत होते हैं।

लेखक ने एक किम्वदन्ती के आधार से चन्द्रवार का प्राचीन नाम असाइखेरा लिखा है किन्तु यह किम्वदन्ती निराधार प्रतीत होती है। असाई खेरा जिला इटावा में है। वह इटावा से नौ मील दूर है—वह भी जैनियों का प्राचीन केन्द्र है। वहाँ से प्राप्त संवत १०१८ से १२३० तक की जिनमूर्तियां लखनऊ अजायबघर में मौजूद हैं। 'हिन्दी-विश्वकोष' में यह नहीं लिखा है कि चन्द्रवार और असाईखेरा दोनों एक हैं।

जैनकवि लक्ष्मण ने अपने 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' में चंदवाड़ का उल्लेख किया है, जिसको उन्होंने सं० १३१३ (सन् १२५७ ई०) में रचा था। उस समय चंदवाड़ में चौहानवंश के राजाओं का राज्य था। राजा भरतपाल, अभयपाल, जाहड़, श्रीबल्लाल और आहवमल्ल वहाँ के शासनाधिकारी थे। वहीं पर कवि के आश्रयदाता लंबकंचुक (लंबेचू) कुल के नगरसेठ हल्लण के वंशज कण्ह (कृष्णादित्य) रहते थे। कण्ह राजा आहवमल्ल के राजमंत्री भी थे।[1] (आहवमल्लणरिंदहु मणासाणंदहु मंतत्तण पहभायउ) चंदवाड़ उस समय एक समृद्धिशाली नगर था। कवि लक्ष्मण ने लिखा है :—

इह चंदवाडु जमुणा-तडत्थु, दंसिय-विसेस गुण-विविह-वत्थु।
चउहट्ट-हट्ट-घर-सिरि-समिद्धु, चउवण्णासिय-जण-रिद्धि-रिद्धु॥

अर्थ—'यहाँ जमुना के तटपर स्थित चंदवाड़ है, जहाँ उत्तम प्रकार की विविध वस्तुयें दिखाई देती हैं। वह चौहट्टों, हाटों, और घरों की शोभा से समृद्ध है तथा चारों वर्णों के आश्रित जनों की रिद्धि से समृद्ध है।" चंदवाड में उस समय बड़े २ जिनमंदिर बने हुए थे। राजमंत्री सेठ अमृतपाल ने भी वहाँ एक जिनमंदिर बनवाया था। यह चन्द्रवाड आज फिरोजाबाद से तीन-चार मील के फासले पर खंडहरों में पड़ा अपने गत वैभव पर आंसू बहा रहा है।[1]

संवत् १४५४ में चंदवाड़ में कविवर धनपाल ने 'बाहुबलि चरित्र' की रचना की थी। कविवर धनपाल गुजरात देश में पल्हणपुर (पालनपुर) के निवासी और पुरवाड़ वंशीय राजश्रेष्ठि सुहड़प्रभ के पुत्र थे। उनके गुरु प्रभाचन्द्रजी थे। कविवर धनपाल गुरु-आज्ञा से सौरिपुर की वंदना करने गये थे। मार्ग में उन्होंने यह चन्द्रवाड़ नगर देखा था, जो जन-धन से परिपूर्ण और उत्तुंग जिनालयों से अलंकृत था। कवि ने अपना उक्त ग्रंथ यहाँ के साहु वासाधर के लिये रचा था। साहु वासाधर का बनवाया हुआ जिनालय भी उन्होंने देखा था। साहु वासाधर जायसवाल वंश के भूषण थे। उनके पूर्वज जसधर गोकर्ण, सोमदेव, और वह स्वयं चंद्रवाड़ के राजाओं के मंत्री पद पर सुशोभित थे। कवि ने संभरिराय (कर्णदेव) सारंग नरेन्द्र, अभयपाल, जयचंद और रामचन्द्र नामक राजाओं का उल्लेख किया है। यह भी संभवतः चौहानवंश के थे।[2]

संवत् १५३० में कविवर श्रीधर ने 'भविष्यदत्तचरित्र' की रचना चंद्रवाड़ नगर के माथुरकुल के नारायण के पुत्र और वासुदेव के ज्येष्ठ भ्राता यतिवर सुपट्ट साहु की प्रेरणा से की थी। उनके समय में भी चंदवाड़ समृद्धि पर था।[1]

---

१ इनके पूर्वज अमृतपाल भी अभयपाल राजा के राजमंत्री थे और आहव नरेन्द्र के मंत्री भी सोढु साहु थे।

१ विशेष के लिये "जैन-सिद्धान्त-भास्कर" भा० १ किरण ३ पृ० १२३—१०७ देखो।

२ "अनेकांत" वर्ष ७ किरण ७-८ पृ० ८४-८९ देखो।

श्रीभगत का मंदिर मैनपुरी में एक यंत्र सम्यग्ज्ञान विषयक सं० १७३४ का है, उसे चंदबार (चन्द्रवाड़) दुर्ग के निवासी रावत शिरोमणि लमेचू ने प्रतिष्ठित कराया था। उस समय तक वहाँ जैनी रहते थे।

श्वेताम्बरीय तीर्थमालाओं में संवत् १७५० की एक तीर्थमाला है—उसमें चन्द्रवाड़ का उल्लेख एक ग्राम रूप में है—'गांउ एक भूमि सुखकारी।' इससे स्पष्ट है कि चन्द्रवाड़ का पूर्व वैभव इस समय खतम हो गया था!

मुस्लिम राज्यकाल में चंदवाड़ का किला मशहूर था और यहां के राजाओं से कई मुसलमान बादशाहों की मुठभेड़ हुई थी। सब से पहले महमूद गज़नवी ने चंद्रवाड़ पर आक्रमण किया था[1]; किन्तु यह स्पष्ट है कि उसके आक्रमण से क्षत्रियों का शासन समाप्त हो गया था। अलबत्ता सुल्तान फीरोजशाह ने जब हतिकांत पर धावा किया तो उस समय हसनखाँ नामक एक लोदी अफगान रपरी का शासनाधिकारी बन बैठा। वहां चंद्रवाड़ का जागीरदार बराय नाम कहलाने लगा था—इसका अर्थ यह हो सकता है कि वह चंदवाड़ के हिन्दू राजा से कर लेता हो। जब सुल्तान बहलोल का युद्ध जौनपुर के नवाब से हुआ तो उस गड़बड़ में कुत्ब खाँ रपरी के जागीरदार नियुक्त किये गये। चंद्रवाड़ और इटावा भी उनके अधिकार में रहे। बहलोल ने रपरी में जौनपुर के बादशाह हुसैन को हराया था। यह सन १४८७ की बात है। उपरान्त सिकन्दर लोदी ने अपने भाई अलम खाँ को इटावा व चंदावर (चंदवाड़) का शासक नियत किया था। आलम खाँ अपने भाई के विरुद्ध हो गया और उसने बाबर को बुला भेजा। चंदवाड़ पर इस तरह आये दिन मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। मालूम होता है, हिन्दू नरेश सांगा को यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने मुसलमानों पर आक्रमण किया, किन्तु होनी के सिर सांगा को चंदावर (चंदवाड़) में हुमायूं ने हरा दिया! मुगलों का अधिकार रपरी और चंदवाड़ पर हुआ अवश्य, परंतु वह क्षणिक था। शेरशाह ने हुमायूं को हराकर अपना अधिकार जमाया था! इस समय प्रजा में कुछ जोश आया और अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये उसने विद्रोह किया, किन्तु शेरशाह १२००० घुड़सवार सिरहिंद सरकार से लाकर हथिकांत में रहा और अपना अधिकार अक्षुण्ण रक्खा। उसने इस प्रदेश में सड़कें और सराय बनाई थीं। उपरान्त अकबर के समय में इटावा-रपरी-चंदवाड़ का प्रदेश सूबा आगरा में मिला दिया गया था।[2]

इस प्रकार चंदवाड़ १४ वीं-१५ वीं शताब्दि तक समृद्धिशाली रहा—उपरान्त मुसलमानों के आक्रमणों में वह नष्टभ्रष्ट हो गया! आज मीलों तक उसके खंडहर पड़े हुए

१ "भूगोल" का संयुक्त प्रान्त—अंक पृ० १२७।

२ Atkinson, "Statistical, Descriptive & Historical Account of the N. W. Ps. of India"—Vol. IV. Pt. I. PP. 373—375.

हैं—अनेकानेक मूर्त्तियाँ बिखरी पड़ी हैं वहाँ! मध्यकाल में जैनों का चंद्वाड़ और रपरी केन्द्र रहे! वही आज भूमिशायी हैं।

२. आसईखेड़ा

आसईखेड़ा नामक ग्राम इटावा से नौ मील दूर है। स्व० पूज्य ब्र० शीतल प्रसाद जी के साथ हमें इस प्राचीन स्थान के खंडहरों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। निस्सन्देह यह जैनियों का प्राचीन स्थान है। इटावा के जैनी अब भी वहाँ जाकर अपने लड़कों का मुंडन कराते हैं। आसई गाँव एक ऊँचे खेड़े पर बसा हुआ है, जिसकी पश्चिमी ओर विशाल खंडहर पड़े हुए हैं। जमुना के किनारे से सटा हुआ खंडहर संभवतः किसी प्राचीन जैन मंदिर का अवशेष है। उस पर बहुत-सी दिगम्बर जैन प्रतिमायें बिखरी हुई मिलती हैं। इनमें से १२ वीं शताब्दि की दो मूर्तियों को जसवन्तनगर के मंदिर में लाकर रक्खा गया था। एक चौबीसीपट था, जिसमें प्रत्येक तीर्थंकर का नाम भी अंकित था। यह आसई ग्राम अपने दुर्ग के लिये प्रसिद्ध था। कहते हैं कि आसई के दुर्ग को चन्द्रपालु ने बनवाया था।

मुनि कनकामर ने एक 'आसाइय' नगरी में आकर अपना 'करकंडुचरित्' रचा था, जहाँ के नरेश विजयपाल, भूपाल और कर्ण थे। हो सकता है कि यह आसाइय नगरी वर्तमान आसईखेड़ा ही हो! आसई दुर्ग के प्रतिष्ठापक के नाम चन्द्रपाल का सादृश्य विजयपाल व भूपाल से है। संभव है कि वहाँ चौहानों की किसी शाखा के राजा लोग राज्य करते हों! चंद्रवाड़ और आसई दुर्गों के संस्थापक चन्द्रपाल शायद एक ही हैं। चन्द्रवाड़ के शासकों के भी नाम भरतपाल और अभयपाल मिलते हैं।

मालूम होता है कि चन्द्रपाल आदि क्षत्रियों के शासनाधिकारी होने के पहले आसई पर भारजातीय लोगों का अधिकार था। 'तारीख-इ-यामिनी' से जाहिर है कि मुहम्मद तुगलक ने सन् ४०९ हिज्री (सन् १०१७ ई०) में कन्नौज से मथुरा तक आक्रमण किया था। इटावा के पास मुंज के किले में हिन्दुओं ने उसका जबरदस्त विरोध किया था। प्रायः सभी हिन्दू उस संघर्ष में खेत रहे थे। वहाँ से सुल्तान ने आसई के दुर्ग पर आक्रमण किया। उस समय आसई का शासक चंडाल भोर था। वह एक बड़ा विजयी योद्धा था। उसने कन्नौज के राय से भी मोर्चा लिया था। उसके दुर्ग के चहुँओर सर्प और जंगली जानवरों से भरा गहन जंगल था—आज भी यह जंगल दिखाई देता है। मुसलमान लेखकों ने लिखा है कि सुलतान के आक्रमण की खबर पाकर चंडाल भोर घबड़ा गया और अपना दुर्ग छोड़ सुरक्षित स्थान को भाग गया। सुल्तान ने उसके पाँचों किलों (दुर्गों) को गिरवाकर मिट्टी में मिला दिया! दुर्ग के योद्धाओं को मारकर खूब लूट मार की। आसई-विजय के उपरान्त सुल्तान ने कन्नौज के राय पर चढ़ाई की थी। विद्वानों

का अनुमान है कि चंडाल भोर भारत के मूल निवासी भार जाति का कोई राजा था। भार जाति के लोग चंडाल समझे जाते थे।[१] किन्तु इन भार जाति के अधिकांश लोगों को जैनाचार्य्यों ने जैनधर्म में दीक्षित किया था। कलिङ्ग की ओर बौद्ध और जैन चंडाल कहे जाते थे। अतः संभव है कि यह राजा भोर जैनधर्मानुयायी हो और उसने आसई में अनेक जिनमंदिर बनने दिये हों। उसके उपरान्त क्षत्रिय चन्द्रपाल का अधिकार आसई पर हुआ था। भार जाति के लोग उस समय अर्थात् १२ वीं शताब्दी में एटा, कानपुर, फतेहपुर व इलाहाबाद जिलों में बसते थे - बल और दल उनके वीर योद्धा थे। कहा जाता है कि जब भार राज्याधिकारी हुये तो कायस्थ की समकोटि में गिने गये। आसई में क्षत्रियों से पहले दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दि की भी जिनमूर्त्तियाँ मिली हैं; जिससे स्पष्ट है कि वहाँ जैनधर्म का अस्तित्व चन्द्रपालादि क्षत्रियों से पुराना है। मुहम्मद द्वारा नष्ट किये गये दुर्ग को चन्द्रपाल ने पुनः बनवाया होगा। उनका दुर्ग मुगलों के आक्रमण में नष्ट हुआ प्रतीत होता है! लम्बेचू जैनियों के गोत्रों में एक गोत्र 'चन्दवरिया' नाम का है, जिसकी सात सत्ताओं में (१) कुंअर भरये और (२) असैया भी हैं। हमारा अनुमान है कि कुंअर भरये राजा भोर के उत्तराधिकारी हों और असैया सत्ता वाले जैनी मूलतः आसई के निवासी हो सकते हैं। सारांशतः मध्यकाल में आसई नगर भी जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र था।

३. चित्तौड़ का कीर्त्तिस्तम्भ दि० जैनियों की कृति है।

उदयपुर मेवाड़ राज्य की प्राचीन राजधानी चित्तौड़ के दुर्ग में एक सुन्दर कीर्तिस्तम्भ जैनियों का है। स्व० ब्र० शीतल प्रसाद जी ने उसको देख कर लिखा था कि प्रसिद्ध जैन कीर्तिस्तम्भ या मानस्तंभ सात खन का है। चारों तरफ खड्गासन और पद्मासन दिगम्बर जैन मूर्तियाँ अंकित हैं। भीतर चढ़ने को ६७ सीढ़ी हैं। ऊपर छत तोरण द्वार सहित हैं।······ इस मानस्तंभ में पाषाण की कारीगरी देखने योग्य है। यह दि० जैनों का मुख्य स्मारक है। इसके नीचे एक तरफ जैन मंदिर है—द्वार व आलों पर पद्मासन मूर्त्तियाँ हैं।···इसको एक बघेरवाल महाजन जीजा ने बनवाया था।* किन्तु किन्हीं विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि इस कीर्तिस्तंभ को सम्राट् कुमारपाल ने बनवाया था*। उनका यह अनुमान कुछ ठीक नहीं जँचता—संभव है, कुमारपाल ने इसका जीर्णोद्धार कराया हो, जिसके कारण लोग इसे उनके द्वारा बना हुआ प्रसिद्ध करने लगे। सं० २२०५

१ Atkinson, Loc. cited., pp. 362—364.

२ Jaina Antiquary. Vol XII. No. I. pp. 35—36.

'भार जैनी हुये थे'—यह बात आर्किओलॉजिकल इनहैबिटेंट्स ऑफ इंडिया में मिलती है।

३ लंबेचू समाज का संक्षिप्त परिचय, पृ० १७—१८।

* प्राचीन जैन स्मारक मध्यप्रांत व राजपूताना, पृ० १४०

से २३०१ के शिलालेखों में जो आर्के० पा० रिपोर्ट ऑव वेस्टर्न इंडिया (१९०६) में छपे थे, इसे बघेरवाल जाति के जीजा या जीजक नाम के श्रावक द्वारा निर्मित कहा गया है' । हाल में श्वे० मुनि कांतिसागर जी ने 'विशालभारत' के सितम्बर १९४६ के अंक में नांदगांव ग्राम के दि० जैन मंदिर में स्थित धातु प्रतिमा का लेख प्रकाशित किया है, जो निम्न प्रकार है :—

"स्वति श्री संवत् १५४१ वर्षे शाके १४९१ (१४०६) प्रवर्तमाने कोधीना संवत्सरे उत्तरगणे ··मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वाति नक्षत्रे ··योगे २ करणे मि० लग्ने श्री बराट (ड) देशे कारजा नगरे श्री श्री सुपार्श्वनाथ चैत्यालये श्री म (मू) ल संघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत् वृषसेन—गणधराचार्य पारंपर्यान्वित श्रीदेववीर भट्टाचार्याः ॥ तेषां पट्टे श्रीमद्राय राजगुरु वसुन्धराचार्य महावादवादीश्वर रायवादिपिता महासकलविद्वज्जन सार्ध (र्व) भौम साभिमान वादीभसिंहाभिनयत्रै ··विश्वसोमसेन भट्टारकाणामुपदेशात् श्री बघेरवाल जाति खड़वाड़ गोत्रे अष्टोत्तरशत महोत्तुंग शिखरबद्ध प्रासाद समुद्धरण धीर त्रिलोक श्री जिन महाबिम्बोद्धारक अष्टोत्तरशत श्री जिनमहाप्रतिष्ठाकारक अष्टादशस्थाने अष्टादश कोटि श्रुत भण्डार संस्थापक, सवा लक्ष बन्दी मोक्षकारक, मेदपाट देशे चित्रकूट नगरे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र चैत्यालय स्थाने निजभुजोपार्जित वित्तबलेन श्री कीर्तिस्तम्भ आरोपक सा० हजिजा सुत सा० पुन सिंहस्य ···साह देउ तस्य भार्या पुइ तुकाइ तयोः पुत्राश्चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र साह लखमण ························चैत्यालयोद्धरण धीरेण निज भुजोपार्जित-वित्तानुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थक्षेत्र ·· ॥"

उपरोक्त मूर्तिलेख से यह स्पष्ट है कि इस मूर्ति के प्रतिष्ठापक चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ के निर्मापक साह जीजा के वंशज थे। यह बात लेख में उस अंश से स्पष्ट है जो मोटे टाइप में छपा है। मुनि जी ने लेख में 'सा० हजिजा' पढ़ा है, परंतु इसका शुद्ध रूप 'साह जीजा' जंचता है। अतः यह स्पष्ट है कि दिगम्बर जैन धर्मानुयायी साह जीजा ने चित्तौड़ में श्रीचन्द्रप्रभ चैत्यालय के पास कीर्तिस्तम्भ की स्थापना की थी। वह उस समय जैनधर्म के महान् उद्धारक थे। मुसलमानों के आक्रमणों से जिनमंदिरों और मूर्तियों का विध्वंश हुआ था। धर्मवीर साह जीजा, जो बघेरवाल वंश के भूषण थे, उनको धर्म का यह ह्रास असह्य हुआ। लेख में कहा गया है कि साह जीजा ने सोमसेन भट्टारक के उपदेश से अष्टोत्तर (१०८) ऊँचे शिखिर बद्ध जिनमंदिरों और इतनेही जिनबिम्बों का उद्धार किया था। अठारह स्थानों पर उन्होंने अठारह करोड़ श्रुत (ग्रंथ) भंडारों में स्थापन किये थे और सवा लाख बन्दियों को उन्होंने मुक्त कराया था। धर्मोद्योत के ये महती कार्य कर चुकने पर उन्होंने चित्रकूट (चित्तौड़) में यह कीर्तिस्तम्भ बनवाया था! निस्सन्देह साह जीजा का यह कीर्तिस्तम्भ बनवाना सर्वथा उचित था! उनका यह हक था! दिगम्बर जैनों को चाहिये कि वे धर्म के महान् उद्धारक साह जीजा के इस स्तम्भ का जीर्णोद्धार करावें और वहाँ पर साह जीजा की स्मृति में हरसाल उत्सव मनाया करें! —कामता प्रसाद जैन, अलीगंज

साहित्य-समीक्षा

संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खंड ४ (दक्षिण भारत का मध्यकालीन अन्तिम पादका इतिहास)—लेखक: बाबू कामता प्रसाद जैन डी० एल०, एम० आर० ए० एस०; प्रकाशक: मूलचन्द किसनदास कापड़िया, मालिक दि० जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत; पृष्ट संख्या: १५२: मूल्य: सवा रुपया।

जैन इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् बा० कामता प्रसाद जी से समाज सुपरिचित है, आपने जैन इतिहास के कई भाग लिखे हैं। प्रस्तुत इतिहास में कलचुरी, और होयसल नरेशों और उनके समय में होने वाली जैन धर्म की उन्नति के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में चालुक्य राज्य में जैनधर्म की उन्नति और ११ वीं सदी में दक्षिण भारत में होने वाले आचार्यों और श्रावकों की कार्यवाइयों का वर्णन किया गया है। पश्चात् कलचुरी राजवंश की उत्पत्ति, उसके सामन्त एवं राजमंत्रियों के कार्यों का प्रतिपादन किया है, आगे चलकर होयसल वंश की उत्पत्ति और उसके द्वारा होने वाली जैन धर्म की सेवाओं का वर्णन किया गया है। होयसल वंश में होने वाले कई दण्डनायकों और सामन्तों के जैन धर्म सम्बन्धी कार्यों का दिग्दर्शन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। महारानी शान्तल देवी और उसकी मातेश्वरी माचिकब्बे के समाधि मरण का भी सुन्दर निरूपण किया गया है।

लेखक की भाषा सरल और मुहावरेदार है। विषय प्रतिपादन की प्रणाली आकर्षक है। उसने ऐतिहासिक तथ्यों का कलात्मक ढंग से सृजन किया है। छपाई सफाई अच्छी है, प्रूफ की गलतियाँ दो चार जगह रह गई हैं। प्रत्येक विद्याप्रेमी को पुस्तक मंगाकर अपनी पूर्व गाथा अवगत करनी चाहिये।

—नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य

अनित्यभावना, हिन्दीपद्यानुवाद और भावार्थ सहित-लेखक:-श्रीमद्पद्मनंद्याचार्य; अनुवादक, पं० जुगलकिशोर मुख्तार युगवीर; प्रकाशक: वीर सेवा-मन्दिर सरसावा, जिला सहारनपुर; तृतीय संस्करण; मूल्य चार आना।

पुस्तक के नाम से प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान हो जाता है यह शान्तरस से भरी हुई एक सुन्दर और सरस रचना है, संस्कृत के पद्य जितने ललित हैं उनसे कहीं अधिक हिन्दी पद्य भी ललित बन पड़े हैं और मूलग्रन्थ के आशय को पद्यानुवाद बिलकुल स्पष्ट कर रहा है; जिसे पढ़कर संसार, शरीर और भोगों की लालसा से संतप्त मानव भी थोड़े समय को शान्तिलाभ कर सकता है। संसार के दुःखों से दुःखित प्राणियों को शान्ति का मार्ग दिखाने वाली यह अलौकिक दीपिका है, जिसके प्रकाश में भव्यजीव अपनी आत्मज्योति जगाकर-ऐहिक दुःखों से छूटकर परमानन्द को लाभ कर सकते हैं। मुख्तार सा० जैन समाज के मजे हुए लेखक हैं जैसे इतिहास आदि विषयों के लिखने में उनकी लेखनी अनुपम है उसी प्रकार पद्यानुवाद

करने में भी आप कुशल कलाकार हैं। आपकी लेखनी से लिखित मेरी भावना जितनी लोकप्रिय हो रही है शायद जैन समाज में उतनी और कोई रचना ढूंढ़ने पर भी न मिले। इतने से ही प्रकृत पुस्तक की सरसता और लोकप्रियता ज्ञात हो जाती है कि थोड़े ही समय में इसका तृतीय संस्करण निकल चुका है।

पुस्तक उपादेय है प्रत्येक शान्तिप्रिय पाठक को इसे मंगाकर पढ़ना चाहिये। इसकी छपाई-सफाई आदि सभी चीजें सुन्दरतम हैं।

सुशीला उपन्यास—लेखकः श्रीमान् स्व० स्याद्वादविद्यावारिधि वादीभगजकेशरी न्यायवाचस्पति पं० गोपालदास जी बरैया मुरैना; प्रकाशक: दि० जैन पुस्तकालय सूरत; तृतीयसंस्करण; पृष्ठ संख्या १४ + २३४; मूल्यः दो रुपये।

आज के प्रगतिशील नवीन युग में उपन्यास साहित्य की रचना बड़ी तेजी से हो रही है तथा भारतीय भाषाओं में बंगला, हिन्दी, गुजराती एवं मराठी में चतुर कलाकार अपनी २ लेखनी से नये २ उपन्यास लिखकर अपनी २ मातृ भाषाओं के भंडार को भर रहे हैं। अपनी २ अनूठी लेखनी से समाज का चित्रण कर लोक में साहित्य के प्रति अनुराग कर रहे हैं। हिन्दी भाषा में दर्जनों उपन्यास लिखकर उपन्यास सम्राट् पदवी को पाने वाले प्रेमचन्द जी हुये हैं तथा भांति बङ्गला उपन्यास लिखने में शरच्चन्द्र प्रसिद्ध हैं।

जहां प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में गरीब एवं देहातियों का चित्रण कर अपनी कला को सफल किया है वहाँ शरत् बाबू ने मध्यमवर्ग के पात्रों का चित्रण करने में कुशलता दिखलाई है पर ये विषय इतने कठिन नहीं, गुरु गोपालदास जी ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा के बल से धर्म जैसे नीरस विषय को उपन्यास की सुन्दर ओढ़नी पहनाकर उसको भी सर्व-साधारण के पढ़ने योग्य बना दिया है। जैन समाज में उपन्यास लेखकों की अत्यन्त कमी है। गुरु जी ने अपनी लेखनी द्वारा उपन्यास लिखकर जैन लेखकों को पुकारा था, पर उनके बाद आज बहुत वर्ष हो जाने पर भी कोई सफल उपन्यासक जैन समाज में नहीं जन्मा जो अपनी कुशल लेखनी के द्वारा अपनी संस्कृति के रंग से रंगे पात्रों का चित्रणकर जैन संस्कृति एवं चरित्र का धरातल ऊँचा करता। यह उपन्यास सामाजिक और धार्मिक है इसमें जैन संस्कृति के अनुसार पात्रों का चित्रण हुआ है जो जैन धर्म की शिक्षा के पथप्रदर्शक का काम कर रहा है। यह पुस्तक पाठशालाओं और विद्यालयों के पाठकों को अवश्य पढ़नी चाहिये और अपनी धार्मिक पिपासा बुझानी चाहिये तथा नवीन उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। यह उपन्यास सुन्दर और सरस है और इसके पढ़ने से मनुष्य का जीवन उन्नत हो सकता है प्रत्येक व्यक्ति को इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

—परमानन्द जैन, साहित्याचार्य

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १३—वि० सं० २००३, वी० सं० २४७३

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४७

वार्षिक विषय-सूची।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XII JAN., 1947 No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Bau Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
ARRAH BIHAR. INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS

Om

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol. XII No. II | ARRAH (INDIA) | January, 1947.

" VARĀNNA ", AN ARTICLE OF DIET MENTIONED IN THE VARĀṄGACARITA OF THE 7 TH CENTURY A. D. AND ITS SUBSEQUENT HISTORY IN SANSKRIT AND MARATHI SOURCES UP TO A. D. 1800.

By
P. K Gode, M. A.
Curator
Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 4.

In the *Varāṅga Carita*, a Sanskrit Purāṇic Kāvya of 7th Century A. D. by Jaṭāsiṁhanandi (edited by Dr. A. N. Upadhye, Bombay. 1938) I find the word *varānna* (वरान्न) used in the following stanzas :— *Page 114* (XIII, 66)—

" प्रहृष्य भूयः कटकादिभूषणा—
न्विचित्रवस्त्राणि च संप्रदायते ।
वरान्नमेतत्तव योग्यमिष्यतां
श्रमं व्यपोह्य क्रमतः प्रयास्यसि ॥६६॥"

(In क MS the reading वराङ्गम् occurs for वरान्नम् but it does not suit the context)

Ordinarily वरान्न (=वर+अन्न) would mean *best or choicest food* but as the term is repeated by the author in another stanza I am inclined to suggest that वरान्न means *some dietetic preparation.* The other stanza in which this word occurs is as follows :—

Page 118 (XIII, 88)—

"वयःसंप्रयुक्तो वणिक्श्रेणिनाथः
शालात्मभृत्यं लघुस्नापयेति ।
यथेष्टं वरान्नं चतुर्भिस्त्वहोभि—
रभुङ्क्तामतः श्रेष्ठिनः संनिविष्टः ॥८८॥

In this stanza the term वरान्न appears to have some specific significance but in the absence of any commentary we cannot say how this वरान्न was prepared. Let us now record some more usages of the word वरान्न in other texts early or late and see if they can help us to understand the specific meaning of the term वरान्न[1] used by the author of the *Varāṅga-Carita.*

In the *Aṣṭāṅga-Saṅgraha* of Vāghbaṭa I (ed. by R. D. Kinjawadekar, Chitrashālā Press, Poona 1940) Chapter 10 of *Sūtrasthāna* dealing with अन्नपानविधि refers to the term "अवरान्न" as follows :—

Page 119—"धान्याम्लं मस्तु तक्रं वा शाकावरान्नेषु" ॥६१॥

The Commentator *Indu* explains अवरान्न as follows :—

"अवरान्नं विदल[2]-सस्य-अन्नम्"

Page 121— "शाकावरान्नकट्वम्लकषायलवणोत्कटम् ।
त्यजेदेकरसासात्म्यं गुरु शुष्कं च भोजनम् ॥८८॥"

---

1. I am thankful to Dr. A. P. Karmarkar for the following reference to "वरान्न" in the भविष्य पुराण (ब्राह्मपर्व) अ० १२ :—

"क्रियापाकविशेषास्ते वृद्धिरेवोपदिश्यते ।
निमित्तस्य वरान्नस्य तत्र द्विद्विगुणा भवेत् ॥७॥"

As we cannot determine the chronology of the text from which this verse has been taken, it cannot be used with advantage in our study. However, this reference to वरान्न in a Purāṇic text shows that the term was current in the country when the text under reference was composed. The verse, however, does not give us any idea about the materials of which the वरान्न was prepared

2. Dallaṇa explains "विदल" in सुश्रुत (सूत्रस्थान, Chap. 46, verse 348) as "शमीधान्यात्मकः"

Having already explained the term " अवरान्न " *Indu* does not explain it in his commentary on this verse.

From the usage of the term " अवरान्न " in the *Aṣṭāṅgasaṁgraha* of Vāgbhaṭa I, which is assigned by Hoernle to *C. A. D. 625* we pass on to the *Aṣṭāṅgahṛdaya* of Vāgbhaṭa II, which is assigned by Hoernle to about *8 th or 9 th Cent. A. D.* In this medical work the reference to " अवरान्न " is found in the following verse of *Sūtrasthāna* (Vide p. 157 of Harishastri Paradkar's Edition of the अष्टांगहृदय, N. S. Press, Bombay, 1939) :—

" भोजनं तृणकेशादिजुष्टमुष्णीकृतं पुनः ।
शाकावरान्न भूयिष्ठमत्युष्णं लवणं त्यजेत् ॥३९॥ " [1]

Aruṇadatta (C. A. D. 1220) explains the term " अवरान्न " in the above verse as follows :—

" अवरान्नं-माषादि, तद्भूयिष्ठम् ...... त्यजेत् । "

We have seen above that the Commentator Indu (between A. D. 700 and 1000) explains " अवरान्न " as " विदल सस्य-अन्न ", while Aruṇadatta explain it as ' माषादि ". Can we suppose that माष is " विदल सस्य " in any sense ? Hemādri in his commentary observes " इष्ट ग्रहणात् शाकसूपबहुलस्य "........(प्राप्तिः). Some Mss. read " शाकबहुलस्य सूपबहुलस्य च " for the expression "शाकसूपबहुलस्य" in Hemādri's comment. It appears that the expression "शाकसूपबहुल" in Hemādri's comment is an explanation of the expression "शाक-अवरान्न-भूयिष्ठ" used in the अष्टांगहृदय. If this supposition is correct the term सूप used by Hemādri corresponds to "अवरान्न" in the अष्टांगहृदय. According to Apte's Dictionary, सूप=Broth, Soup; Sauce, condiment. Hence the expression "शाक-अवरान्न भूयिष्ठ" may be taken to mean "(food) in which there a preponderence of vegetables and soup." We may suppose that सूप refers to a preparation of "विदल-सस्य". i e. "grain which is विदल (split or broken)". According to Apte's Dictionary the *verb* विदल्=To break, Split, Crack, and the *adjective* "विदल=Split, rent asunder". If these meanings are correct we get the following equation from what we have explained above :—

अवरान्न = विदलसस्य-अन्न (according to Indu) like माष (according to अरुणदत्त

1 This Stanza is found in the परिशिष्ट to the edition of अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान ed. by V. R. Kinjawadekar, Poona, 1940, p. 182.

=सूप (according to Hemādri)

=a preparation of split grain like माष (a kind of pulse) which is called in Marathi "उडीद" (*Phaseolus Radiatus*) (See p. 444 of अष्टांगहृदयकोष by K.M. Vaidya, Trichur, 1936)

We have now before us two terms :—

(1) वरान्न—mentioned in the Jaina Kāvya (वराङ्ग चरित्र) of the 7 th Century A. D

(2) अवरान्न—mentioned in the medical treatises :

(a) अष्टाङ्गसंग्रह (*about A. D. 625*) and

(b) अष्टाङ्गहृदय (*8 th or 9 th Century A. D.*)

Here a question arises : Is अवरान्न the opposite of वरान्न? Ordinarily वरान्न may mean "Superior food" and अवरान्न, "inferior food" but curiously enough in Apte's Dictionary, among the meanings of the term अवर he records the following meaning :—

"अवर......9. Most excellent (अत्यन्त श्रेष्ठ)"

"अवरव्रत :—[अवरं अत्यन्तश्रेष्ठं व्रतमस्य] 1. the Sun; 2. a kind tree (*arka*)."

If we read the above meaning in the term "अवर-अन्न" used by the two medical treatises, we have reason to believe that वरान्न = अवरान्न = a preparation of Split grain or pulse like that of माष.

Unfortunately Apte's Dictionary does not record the terms "वरान्न" or 'अवरान्न" discussed above.

Molesworth in his *Marathi—English Dictionary* (1857) p. 733, derives the Marathi word "वरण" from the Sanskrit "वरान्न" as follows :-

"वरण n (वरान्न S) A highly tasteful dish of pulse."

He further explains the "वरणा" as the name of पावटा (Phaseolus radiatus) drived from "वरण" as it is much used in this dish.

The Marathi Dictionary, *Sabdakośa* (by Date and Karve) records the term "वरान्न" as follows :—

Page 2748—वरान्न=पक्वान्न or a kind of rich dish. The usages of this term recorded in this dictionary are as follows :—

(1) "अन्न वरिष्ठ वरान्न"

—एकनाथ in his रुक्मिणी स्वयंवर (१४. १२५)

Ekanātha flourished between *A. D. 1533 and 1599* (See p. 171 of मध्ययुगीन चरित्रकोश by Chitrava Shastri, Poona, 1937)

(2) वरान्न=वरण (or a dish of pulse)

(a) "अवचावरी वाढिलें जाण।
वरी <u>वरान्न</u> स्वादिष्ठ॥"

—एकनाथ in his रुक्मिणी स्वयंवर (१४. १२५)

(This reference describes the mode of serving वरान्न or वरण, which is served at present at the beginning of dinner on boiled rice. At all formal dinner parties, the dinner begins with a course of वरण (liquid preparation of boiled pulse), भात (boiled rice) and लिंबू (lemon juice) and तूप or ghee. This course is very popular in the Maharashtra).

(b) "सोलीव डाळीचें वरान्न"

—मुक्तेश्वर in his महाभारत (वनपर्व)

This reference is very explicit as it states that the "वरान्न" was prepared from pulse (डाळ) after removing the husk of each grain.

The poet *Muktesvara* flourished *between A. D. 1599 and 1649* (See p. 642 of मध्ययुगीन चरित्रकोश)

On p. 2752, the *Śabdakośa* records the term वरण as follows :—

"वरण = डाळीचें कालवण (a sauce made of pulse)

(Sanskrit वर + अन्न)

No usages of the term "वरण" are recorded in the *Śabdakośa*.

Saint Rāmadāsa of Mahārāṣṭra (A. D. 1608—1682) refers to the term "वरान्न" in his work युद्धकांड as follows :—

"बहु वाढिला ओदन् तो सुवासें।
<u>वरान्नें</u> सिती शर्करा पंच भक्ष्यें।

(See p. 583 of समग्र रामदास, Poona, 1906)

It would appear from the above references that the term "वरान्न" in the sense of some preparation of pulse or other materials was popular in the Deccan *between A. D. 1500 and 1700*, as the celebrated Marathi poets, Ekanātha, Mukteśvara and Rāmadāsa mention this Sanskrit term in their Marathi poems.

The derivation of the Marathi term "वरण" from "वरान्न" appears to be correct, but the Sanskrit term originally meant some rich dish and later came to be applied to the specific pulse preparation, which we call "वरण" today. Perhaps in the *7 th Century A. D.* the term "वरान्न" used in the वराङ्ग-चरित of Jaṭāsiṁhanandi might have been current in the sense of some rich dish, the constituents of which cannot be determined at present for want of descriptive evidence.

As the *Śabdakośa* does not record the usages of the term "वरण" I propose to record them on the strength of my own casual study of old Marathi texts. These usages are as follows :—

(1) In a Marathi work called the "लीळा चरित्र" (*C. A. D. 1250*) edited by H. N. Nene, Nagpur, 1937 Part IV, Pūrvārdha, Khaṇḍa 3, pages 14-15) we get a reference to वरण and other articles of diet in the following extract :—

"मग त्यासि मिळेसि लाडु:पोळि:घीडरी:वीवसी:
वरण: भात: खीरि: शाकवतीया ऐसें आवघे आलें"

This extract gives us practically many of the articles of diet which are current in the Deccan to day viz. लाडु, पोळि, घीडरी, वरण, भात, खीर etc.

(2) In V. B. Kolte's "*Bhāskarabhaṭ Boṛīkar*" (1935) p. 154, I find the following extract containing a reference to वरण :—

"रजकाचें हातवसी सूवलें:
गजमांसाचें वरण रांधिलें
तोडौनि मांडे घांतले:
चाणौर मुष्टिकाचे (४३७)"

The work from which this extract is quoted here belongs to *A. D. 1308* according to the Editor.

(3) The Marathi poet Moropant (*A. D. 1729—1794*) refers to वरण in the following extract :—

"तुज लाविलं स्वतेजं म्याच कढ भात वरण वाढाया ।
वाढाया प्राज्य पुरया, पापड, पोळया प्रभृत लाडाया ! ॥१६॥
(श्र. अ. २)

(4) In a Marathi work called स्मृतिस्थळ (ed. by V.N. Deshpande, Nagpur, 1939) belonging to about the *middle of the 15 th Century* I find a reference to वरण in the following extract :—

Page 35—"मग भटोबासांची पंकि भिक्षा घेति:
पंकि पोळी: वरणा: कढी: भातु: कांहीं पत्रशाक"

In the Deccan today पोळी, वरण, कढी, भात and शाक are the common articles of daily food.

The foregoing testimony of Marathi texts proves the antiquity of the term वरण for about 750 years. Secondly the expression "वरण-भात" which is current today is as old as about A. D. 1250, if not earlier.

The present trio of the Deccani diet viz वरण, भात and लिंबू (i. e. boiled pulse, boiled rice and lemon juice from fresh lemon) has in it only one late addition viz. लिंबू or lemon (*Citrus medica*)[1], the small variety of which is called कागदी लिंबू or "paper lime" on account of its thin skin. When this "*paper-lime*" entered the Deccani diet cannot be exactly determined at present but the remarks on it in the *Hobson-Jobson* are historically important and hence may be reproduced below for ready reference :—

Page 516—"*LIME*, S. The fruit of the small *Citrus medica*, var. *acida*, Hooker, is that generally called *lime* in India, approaching as it does very nearly to the fruit of the West India Lime. It is often not much bigger than a pigeon's egg, and one well-known miniature lime of this kind is called by the natives from its thin skin *Kāgazī nīmbū* or 'paper lime'. This seems to bear much the same relation to the lemon that the miniature thin-skinned orange, which in London shops is called *Tangerine*, bears to the "China orange". But lime is also used with the characteristic adjective for the *Citrus medica*, var. *Limetta*, Hooker, or Sweet Lime, an insipid fruit.

The word no doubt comes from the Spanish and Portuguese *lima* which is from Ar. *līma*; Fr. *lime*; Pers. *līmū*, *līmūn* (See *LEMON*). But probably it came into English from the Portuguese in India. It is not in Minsheu (2nd ed. 1727)"—The usages of *LIME* recorded here are briefly as follows :—

1. See article on *LEMON* in *Hobson-Johson* (Yule and Burnell, London, 1903, pp. 513—514 :—

"*LEMON*, S. *Citrus medica*, var. *Limonum*, Hooker. This is of course not an Anglo-Indian word. But it has come into European languages through the Ar. *leimūn* and is according to Hehn *of Indian origin*. In Hind. we have both *līmū* and *nīmbū*, which last at least seems to be an indegenous form. The Skt. dictionaries give *nimbū-ka*. In England we get the word through Romance languages. Fr. *limon*, It. *limone*, Sp. *limon* etc. perhaps both from the Crusades and from the Moors of Spain. [Mr Skeat writes :—"The Malay form is *limau*, 'a lime, lemon, or orange.' The Port. *limão* may possibly come from this Malay form. I feel sure that *limau*, which in some dialects is *limar*, is an indigenous word which was transferred to Europe (See *LIME*)."

Usages :—C. A. D. 1200 (*limones*); C. 1328 (*lemons*); 1331 (limonem); 1333 (al- *leimun*)"

A. D. 1404—"Citrons and *limes* and oranges"—*Clavijo*, LXXXVI.
" 1526—"lime (limū)"—*Baber*, 328
" 1563—"lemons" "limes" } —*Garcia*, fol. 133.
" 1630—"Lemons, Lymes"—Sir T. Herbert, 28
" 1673—"Limes"—*Fryer*, 110
" 1690—"Potatoes, Oranges, *Lemons*, *Limes*, Pine—apples etc (in Johanna island)—*Ovington*, 109.

The foregoing notes on "*Varānna*" and its subsequent usages will, I hope, be found useful not only to the students of historical linguistics but also to the general reader, interested in the history of Indian dietetics, forming part of the history of Indian culture, which is at present very vague.* The study of Indian Material Culture from the historical point of view is as important as that of the Indian Spiritual Culture and hence the history of every aspect of the Indian Material Culture needs to be reconstructed on the strength of all sources of history. The Jaina sources contain ample data for such reconstruction. It is curious that in my paper on the history of "*Jalebī*" [1] the earliest reference to this popular dish was found in a Jaina source. In the present study also the earliest reference to "*Varānna*" is from a Jaina poem of the 7 th Century A. D.

1. Vide pages 169-181 of *New Indian Antiquary* Vol. VI (1943)

SOME JAINA KINGS AND MINISTERS.

(Medieval Period)

By

Syt. Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S.

Although the onslaughts of Brahmaṇa Sectarian Preachers like Appar and Rāmānuja and the invades of the Muslim aggressors like Muhammad Ghazani caused the glory and power of Jainism to fade immensily, yet its hold on the leading mercantile class and the petty Rājpūt chiefs was remarkable during the medieval period. It was due to this hold of Jainism on these important factors of the Indian nation that it survives to this day in its motherland and had produced many prominent ruling chiefs and ministers. It is desirable that some enthusiastic Jain Research Scholar should devote his precious time and energy to compile a reliable history of these great personages and their great deeds. Herein I give narrations of a few Jaina Kings and ministers, about whom much is required to be investigated and compiled.

1. *Minister Kṛṣṇāditya* and others (1257 A. D.) During the medieval period a branch of Chauhāna Rājputs migrated from Rajputana to the districts of Agra, Mainpuri and Etah and found its seats at many important towns in these districts! One of these seats of Chauhāna Rājpūts was at the flourishing town of Chandāwar or Chandawāḍa in the district of Agra, which was founded by Chandrapāla, the Chauhāna chief. The town of Chandāwar is now roling in its ruins, just close to the town of Firozabad in Agra district. During thirteenth century Chandāwar was in its full bloom, with big bazars, great mansions and beautiful temples. At that time King Bharatpāla was ruling there. He was succeeded by his son Abhayapāla and after him three Kings by name Jāhaḍa, Śrī Ballāla and Āhavamalla appeared in this line of Chauhāna Kings. The members of an house of Lambakanchuka Jainas of Chandawāra held the office of minister of these Kings. Minister Kṛṣṇāditya belonged to this very house of Lamechu Jainas. During the reign of King Bharatpāla, Nagarseṭha (mayor) Hallaṇa flourished. His

son Amṛtapāla was the illustrious minister of King Abhayapāla. He caused to be built a beautiful temple of the Lord Jinendra at Chandawāra. Amṛtapāla was succeeded by his son Soḍu, as minister. Soḍu was fortunate to carry on the work of administration of Kingdom during the reign of both the Kings Jāhaḍa and Śrī Ballāla successfully. Malhādevî was his wife and he had two sons by her namely (1) Ratnapāla and (2) Kṛṣnāditya. Ratnapāla was installed in the office of Nagarseṭha (mayor) at Chandawāra. His son Śivadeva was an accomplished scholar and artist. King Āhavamalla himself proclaimed him as Nagarseṭha (mayor) and performed its *Tilak* ceremony with his own hands. His uncle Kṛṣnāditya was appointed the minister of the same King Āhavamalla. Kṛṣnāditya was not only a successful administrator and statesman, but he was a brave warrior also. King Ahavamalla fought out victorious battles against the Muhammadan invaders with the aid of his minister Kṛṣnāditya. His father Sodu was also a great soldier. But at the same time, they closely observed the vows of a Jaina layman. Kṛṣnāditya was a living pillar for the cause of Jainism and he got many a Jinālaya re-innovated. His endeavours to propogate the tenets of the Religion of Jinas were laudable. Once while he was meditating in the Jain Temple, he came across Poet Lakṣamaṇa and finding him a talented scholar he extended his hand of help to him. Uunder the patronage of Minister Kṛṣnāditya and at his request, Kavi Lakṣamaṇa composed a treatise on the rules of conduct for a Jaina layman and he is responsible to give us so much information about this house of Lamechū Jaina Ministers[1].

Minister Subhaṭa (1277 A. D.) In the country of Kāthiāwāḍa there was once a great city of Śrimāla, which although now is in ruins, but at one time it was a great stronghold of Jainism. It was here that a Jaina pontiff preached so efficiently that the King and its whole population gladly, became the adherents of the Jaina religion. From the town of Śrîmāla, Mahā Rāwal Śrî Chachiga issued orders and grants. He was the ruler of the whole territory of Śrîmāla country during the thirteenth century. Subhaṭa was his

1 Jaina-Siddhānta-Bhāskara, Vol. VI, pp. 155-175.

minister, rather a provincial ruler. King Chachiga appointed him the officer of Śrī Satyapura, Ratnapura and Lāṭahṛada. He was the chief set over the Vāhikas (Kṣatriyas) of the Śrīmāla country. Subhaṭa proved a worthy ruler and under his regime the country prospered. He was a leading Kāyastha of the illustrious Naigama family. His preceptor was Chaṇḍahari, the best of the learned. Subhaṭa was a devout Jaina, who observed the vows of a Śrāvaka with zeal and fervor. In the year 1333 of the Vikrama era on monday the 14 th. of the light half of Aśvina, he with Karmasiha made a donation for the worship and Rathayātrā ceremonies of Lord Jinendra at Śrīmāla. Chandahari composed this *praśasti* and it was engraved on copperplate by the wise carpenter Bhimsiha[1].

Minister Vāsādhara (1398 A. D.). It seems probable that any how the descendants of minister Kṛṣṇāditya lost the patronage of the Kings of Chandāwara and they were replaced as ministers by another house of Jaiswāla Jainas of that town. Four members of these Jaiswāla Jainas, namely (1) Jasadhara, (2) Gokarṇa, (3) Somadeva and (4) Vāsādhara held the office of minister under the Kings (1) Sambharirāi, (2) Sāranga-narendra, (3) Abhayapāla, (4) Jaichandra and (5) Rāmachandra consecutively. All these ministers were the followers of the Jaina religion. Vāsādhara was renowned for his pity and devotion to Lord Jinendra! He observed the vows of a layman and was benevolent towards one and all. His fame as a competent statesman spread far and wide. Udayaśrī was his wife, who was a pious and accomplished lady. She always entertained and honoured the Chaturvidha Saṃgha consisting of monks, nuns, laymen and women householders. She was fortunate to have eight sons, by name Jasapāla, Jaipāla, Ratipāla, Chandapāla, Biharāja, Puṇyapāla, Bāhada, and Rūpadeva; who were wise like their father Vāsādhara. Living with such a big family and holding the responsible post of an administrator, yet Vāsādhara was alert to his religious duties and observances. He caused his money to be spent in the work of reinnovation of old Jaina temples and in getting the sacred works of Jinavāṇī copied and distributed. He also got built a Jaina temple at Chandāwara. Once a poet by name Dhanapāla

1. The Gazetteer of the Bombay Presidency Vol. I, Pt. I (1896) pp. 480 ff.

coming from Gujarāt on a religious pilgrimage to Śauripura, happened to reach Chandawara. Vāsādhara saw in him a talented poet and requested him to compose a beautiful and instructive romance of bravery and piety. Upon this, Kavi Dhanapāla composed "Vāhubali-Charit" in Apabhraṁṣa-Prākṛta and he is the man who has given us the narration of Sāhu Vāsādhara and his family[1].

Minister Punja. (1505 A. D.). The hill fort of Māndu or Maṇḍapadurga played a prominent role in the medieval history of India. This hill fort is situated about 23 miles south of Dhār in Central India and formerly it was a stronghold of Hindu Kings. It is said to date from 313 A. D., but nothing particular is known about this early Hindu hill fort. However Ferishtāh informs us that Mandapdurga (Māṇḍū) was built by Ānandadeva of the Bais tribe, who was a contemporary of Khusrū Parwez (A. D. 591-626). In 1234 A. D. Sultan Śamsudd na Altamaśa subdued the Hindū ruler of Maṇḍapadurga and since then, it came under the sway of Muslim rulers. Dilāwarkhan was the founder of Musalmān Māṇḍu. He got constructed many Mnslim buildings at the cost of many Hindu and Jaina Shrines and buildings. The lion-faced pillars in the Shrine of Hoshangashāh were taken from the Jaina temple of Maṇḍapadurga[2]. The Jaina Order was prominent during the early period of Maṇḍapadurga's history, but it declined in the latter times of the Muslim occupation. However the Jaina monks tried their best to influence the Muslim rulers and it was through their laudable efforts that the Jainas held high posts under them. Minister Punja flourished at Māndū in such precarious days. He was the son of one Sonārāi of Śrimāla family. King Nāsiruddin was ruling at that time at Māṇḍu and Mallik Māfar was his minister. Punja was wellversed in administration work and was a clever statesman. However he managed to succeed Malik Māfar in the office of minister. He was upheld by the Hindus and Musalmans alike and was styled as "Hinduā Rāi Wazīra" (हिन्दुआ राय वज़ीर). It seems, he wielded great power and got many a Jaina temples re-innovated; for he was a

1. Anekānta, Vol. VI, pp. 84-85.

2. The Gazetteer of the Bombay Presidency, Vol. I, Pt. I (1896) pp. 352—357.

devout follower of Jainism. He patronised the learned and Iśvara-Sûri composed his "Lalitānga Charitra" at his request[1].

Rājā Bhārāmalla (1605 A. D.) was the ruling chief of Kaççha. He was a learned ruler and scholars used to visit his Darbār. Once Vivekaharṣa, the learned Śwetāmbara Jaina Sādhu while on a preaching tour in the country of Kaççha, reached in the court of King Bhārāmalla and vanquished in a religious debate the professors of other creeds. King Bhārāmalla was much impressed and he adopted the vows of a Jaina layman. He proclaimed general amity by Amāri-ghoṣa in his Kingdom and caused a Jaina temple to be built at the city of Bhuja. King Bhārāmalla always took interest in religious matters and participated in religious gatherings. A temple of Lord Jinendra was built at Bhadreśwara and its consecration ceremony was performed with great joy and eclat. King Bhārāmalla was present at this auspicious occasion[2]. Nothing more than this is known about this King.

Rājā Bhārāmalla of Nagaura was a contemporary of the Mughal Emperor Akbar. He seems to be a feudatory of the Mughals. Bhārāmalla was the son of Rankārāu Devadatta and belonged to the Śrimāla sect of Rākyāṇi gotra. His ancestor Rankārāu was ruling from Śripurpaṭṭana over the Abū country; where he was converted to Jainism. From his wife Śrimālā, Bhārāmalla had two sons by name Indrarāja and Ajayarāja. His daily income was of more than one lakh of *Takās*; as he owned the Sāmbhara lake and many hill tracts, containing quarries of precious stones. He had his own coinage and carried on business in gold and gems. He paid about fifty thousands *Takās* daily to the Imperial treasury of Akbar and spent an equal amount over his servants and labourers. He had his own army and was duly honoured by the Mughal Emperor. It is said that Akbar's son, the crown prince, used to pay visit to him at his Darbār at Nāgaur. King Bhārāmalla was a devout Jaina and belonged to Tapāgaççha of Nāgaura. His philanthrophy knew no bounds and he spent lacs and lacs in religious and meritorious

1. Hindi-Jaina-Sāhitya-Kā Itihāsa, p. 34.
2. Vide colophon—praśasti in Anjanā-Sundari-Rāsa (Jaina Siddhānta Bhavan Arrah) Ms. No. 27.

deeds. He honoured the learned. Kavi Rājamalla found a patron in his noble personality and it was at his request that he composed a "Pingala" treatise in Apabhraṃsa and old Hindi[1].

Dīwāna Tārāchanda (1672 A. D.) Sardāra Alaphakhāna was ruling at Fatehpur. He seems to be a provincial ruler. He appointed Tārāchanda his minister, who did the administration work befittingly. He was wellversed in the tenets of Jainism and keenly observed the rules and vows of a Jaina layman. He honoured Pandita Labdhi Vimala Gaṇi who translated in Hindi poetry the Sanskrit work "Jñānārṇava."[2] His father was Śrī Vastupāla of Badaliyā-gotra.

Rāghava and Raghunātha (1778 A. D) Deogarh was a great city in the Mālava country during the medieval period and it had been a stronghold and centre of the Jaina religion. In the latter part of the 18 th. century A. D. King Sāwanta Singh was ruling at Deogarh. Rāghava and Raghunātha were his ministers, who were jointly responsible for the administration of the Kingdom. They were living pillars of Jainism and scion of the Hūmaḍa Jainas of Deogarh. Once they asked Kavi Śewārāma to compose a *Purāṇa* treatise of Tīrthaṃkara Śāntinātha, who acceded to their request. A copy of this "Śāntinātha-purāṇa" manuscript is available at the Jaina Siddhānta Bhawan, Arrah. (ग ४३[3]

1. Anekānta. Vol. IV, pp. 245-247.

२ "नगर फतेपुर में क्यामखानी कायम है, सिरदार साहिब अलिफखां दीवान है।
ताहि राजकाज भार ताराचंद जू को दीनौ, देशको दीवान कीनौ जासु परधान है॥
ताकै जैनवानी कौ श्रद्धान प्रमान ज्ञान दरशनवान दयावान प्रतीतवान सवधान है।
इन्हीं के कारनतैं भाषा भयौ ज्ञानसिंधु आगमको अंग यामैं ध्यान को बिधान है॥"

—ज्ञानार्णव भाषा।

३ "देस महा मालव सुभग, काठल सहित सुढार।
तामै नगर नरेशजुत, देवदुर्ग अविकार॥"......
अति अपार सुख सौ वसै, नगर देवगढ सार।
श्रावक बसै महाधनी, दान पूज्य मति धार॥५५॥
ता नगरी में भूपती, सूरवीर रवि भेस। करै राज पुर पुन्य सौं, सावंत सिंह नरेश॥५६॥
ता सावंत नर राय के, हैं श्रावक मुख्यार। एक राघव रघुनाथ फुनि, धर्मधुरंधर सार॥५८॥
अद्भुत ये द्वय थंभ हैं, राजसदनमें दोय। चार थंभको भार यह, युग निरवहत विलोय॥५९॥

× × × ×

राघव अरू रघुनाथ ये, जुगुल वीर नयवान। ते मो सेवा राम को चहत जथा जिय प्रान॥
अति सुश्रूषा मो तनी, करत जुगुल मतिमान। हूमड वंस वियत मनी अहिनिसि धर्म विज्ञान॥"

—इत्यादि।

—शांतिनाथ पुराण प्रशस्तिः।

TĀRAN SWĀMĪ AND HIS SECT.

Syt. Gyanchandra Jain B. A., LL. B., Nagpur.

Historians of Medieval India have ignored a very important Panth of India which is known by the name of Tāran Panth. The founder of this Panth was Taran Swami, the philospher reformer who flourished in India in the 15 th century and was contemporary to Sant Kabir, Guru Nanak and other cosmopolitan reformers of Medieval India. Tāran Swāmi was born in the year 1448 at Ruhupawati which is near Delhi. The name of his father was Garhāsāo who was on officer in the court of the Bahlol Khan Lodhi, the then ruling emperor at Delhi. From his childhood he showed signs of a contemplative turn of mind and completed his religious and spiritual education at the feet of Shree Shrutsāgar Muni. He used to practise meditation in the woods of Semerkhedi which are pre-eminently fitted for austerities and self mortification and showed indifference towards all wordly affairs. At the age of twenty one, he left home and began to preach the true principles of Jainism. He was the first man to start the revivalist movement among the Jains and condemned all forms of Sham, and hypocrisy which were passed for true religion in his day. He preached against idolatry and said that the barriers of caste and creed must give way for true faith, sincerity and purity of life. Of what use is the worship of stone if the heart is not pure? Love is the supreme regulating thing in the universe and all human beings are equal. There is no need to depend on things from outside for one's happiness because if this is done it will simply increase discontentment and pain. Real happiness lies in conquering one's desires and passions, The feelings of attachment and hatred should be checked.

Tāran Swami travelled over the whole of India and was respected by both Hindus and Muslims. He converted lakhs of people to his faith and abolished all distinctions of caste and creed. It is said that Swamiji had several disciples namely Laxman Pande, Chidānanda Choudhari, Parmānand Vilāsi, Sulpashāh Teli and even a

Mohammadan named Lukkmān Shāh, Two kings of Central India named Shāh Kumār and Sheokumār too accepted his Panth.

To-day the followers of Tāran Swāmi are found all over the country specially in the Central Provinces and Berar, Central India, United Provinces, Bengal and Bombay and are about forty thousand in number. They are divided into six sects namely the Charnāgars, the Samaiyas, the Asaithis, the Ayodhyāwasis, the Golāpūrabs and the Dosakes. In the Central Provinces and Berar they are chiefly found in the Saugor, Jubbulpore, Hoshangabad, Chhindwara, Nagpur, Akola and Wardha districts and have their temples where they worship the scriptures of their Gurū. In the book entitled "Castes and Tribes of the Central Provinces" by Mr. R. V. Russel I. C.S., Superintendent of Ethnology Central Provinces, assisted by Rai Bahadur Hiralal there is a description of the Asaithi, Charnāgar and Samaiyā sects of the Tāran Panth and a reference about Tāran Swāmi who lived about five centuries ago. In the District Gazetters of the Chhindwara, Damoh and Seoni Districts edited by Mr. R. V. Russel I. C.S, Charnāgars have been shown to be a dissenting sect of the Jains and the followers of Tāran Swāmi who started a separate Panth and exercised a considerable influence over the people of the 15 th Century.

WORKS OF TĀRAN SWĀMI.

Tāran Swāmi has written 14 books in the Apabhrnsha language. They are worshipped by the followers of Tāran Swāmi known all over India as Tāran Panthis. For a long time the books remained in manuscript form but afterwards the attention of scholars was drawn towards them. Commentaries in simple Hindi have now been written on nine of the books and they have been published from Surat. Commentaries are also being written on the remaining five books and they will shortly be published. All the books deal with religion and spiritualism and the true path which all those desirous of salvation should follow :—

The following are the works of Tāran Swāmi :— 1. Shrawakāchār, 2. Malajee, 3. Pandit Pūjā, 4. Kamal Battisi, 5. Nyāya Samuchchya Sār, 6. Updesh Sudhdhe Sār. 7. Tribhangi Sār, 8. Choubis Thānā, 9. Mamala Pāhuda, 10. Sunna Swabhāva, 11. Sidhdha Swabhāva, 12. Khatka Vishesh, 13. Chadmasta Vāni. 14. Nāmamalā.

SECRED PLACES CONNECTED WITH THE NAME OF TĀRAN SWĀMĪ.

Shree Nisaijee :—This place of Pilgrimage of the Tāran Panthis is situated on the bank of the river Betwa near the fort of Malhargarh in the Gwalior State. It is at a distance of six miles from the Mungwali Station on the Bina-Kota line in Central India. The place is visited every year by thousands of pilgrims of the Tāran Panth Community. Big temples have been constructed there and a fair is held every year in the month of Falgun (March). All the 14 works of Tāran Swāmi are enshrined there and pilgrims read them in great veneration. It is said that Tāran Swāmi passed the last days of his life at this place and died in the year 1515 A.D.

Shree Semerkhedi :—It is situated in the Sironj Tahsil of the Tonk state in the Central India. Big temples have been constructed at this place. At this place Tāran Swāmi had taken the vow of a Muni at the age of sixty. Pilgrims visit this place and here too a fair is held in the month of Falgun (March). It is said that Swāmiji used to practise meditation in the woods of the place.

Shree Sukhajee :—This is situated in the Damoh subdivision of the Central Provinces and Berar and is seven miles from the Patharia Rly. Station. A garden with a large well said to be four hundred years old and having the name of Tāran Swāmi inscribed on is still there. Swāmiji in the course of the tour used to stay at the place and preach his teachings to the people.

Submitted to the 13 th All India Oriental Conference, Nagpur.

THE RIDDLE OF THE UNIVERSE.*

(Pandit Ajit Prasad, M. A., LL. B., Ajitashram Lucknow.)

Various Philosophers, in various countries, at various periods of history, have from the earliest times, known to mankind, after deep thought and concentrated meditation, made genuine efforts to find out the First Cause, the origin, the beginning of things we see, we hear, we cognise through our senses, and through our thinking faculty, the mind; and have arrived at varying hypotheses.

The majority have however agreed in the conclusion that there must be a creator, an originator, a maker of all things,—nothing is or can be self-created,—and have postulated as the first cause, a Being whom they have themselves created, a creature of their imagination. They say that He is unthinkable, undefinable, intangible, without shape or form, without any definite qualities, and yet a combination, a grouping together of all imaginable qualities, possessed of infinite knowledge, unlimited might, ever-existing, ever-happy, omniscient, omnipotent and omni-present. They have called him God, Allah, Al-rahman, Al-raheem, Khuda, Isvara, Parmeshwar, Tri-murti—Brahma, Vishnu, Shankar. They have given him human qualities and human frailties also. He is pleased with adulation, worship and devotion. He helps and rewards his admirers, worshippers and devotees He chastises and punishes those who rebel against his authority and refuse to recognise or worship him. Some have called him the Father, who sent his Son, to redeem mankind, because the First Man Adam and the first woman Eve disobeyed his orders, and succumbed to the temptation, offered by a Rebel called Satan, the leader of a armvo f rebels God's son offered himself as a sacrifice, suffered in human form which he assumed to show the right way, and thus set an example of patient suffering, exemplary forgiveness, and ideal compassion. After submitting meekly to a cruel crucifixion, when His hands and feet were fixed toa wooden cross by nails driven through, and He bled for three days, He was resurrected by the grace of God, and joined His Father in Heaven, who is all-merciful all-forgiving and yet stern and relentless.

---

* Submitted to the 13th All-India Oriental Conference Nagpur.

Others have pinned their faith to a person, who was sent down by God to this world with messages for the guidance of his creatures, mankind, His messages are enterned in a Holy Book, and constitute rules for conduct of civic, political, social and religious life of the people among whom he lived. Others again have evolved a doctrine, wherein God, is the Creator, Preserver, and Destroyer also; God has created the universe out of himself, and the complete manifestation of living and non-living substances arise out of and merges, in the one Central Being. He also appears in human form from time to time, to correct, reform, punish, and guide his creatures.

Such is the diversity of opinions that a Persian poet felt constrained to say :—

" Hndees az mutrib-o-mai go,
Wa raz-e dahr kamtar jo,
Ke kas na kashud o na kushayad,
Ba-hikmat een muamma rā."

Seek guidance in music and wine. Do not pry into the secret of the world. Because no one has solved, or shall ever solve this enigmā, by virtue of philosophy.

In the same strain sang a sage in ancient India

"Vedah vibhinnah, Smrtayoh vibhinnah,
"Na-asau munir yasya matam na bhinnam.
'Dharmasya tattvam nihitam guhayam,
Mahajano yena gatah sa panthah"

Vedas differ from each other, so do the Smrities. There is no scholar who has not a different opinion. The essential reality of Dharma is hidden in a cave. The path (to be followed) is that by which great men have travelled."

In short the attempt to solve the impossible has rightly been a failure. The assumption of a First Cause is open to serious objections. The First Cause, the Creator, is assumed to be an Omnipotent, Omniscient, and Omnipresent Being, all-merciful, all-forgiving. He is beleived to be self-created, and ever-happy and all-achieved, perfect and pure, above any want, above any desire Why then should he desire to create anything at all. Why should he hanker after self-praise, after his own laudations, worship and praises. Why should he

help and reward his devotees and followers. Why should he feel angry with those who refuse submission to him and turn rebels; why should he have created such traits in his creatures, and why should he then punish them for doing what he could have *easily prevented them from doing; why should there be birth,decay,* old age, death, disease, *sorrow,* any evil at all in the world.

If there must be a Self-created Creator, a First cause, why not assume the more reasonable hypothesis that the world is self-created, The Universe is eternal, without a beginning and without an end. The kaleidoscopic phenomena of the universe are all due to change in form and shape; and to the interplay and reactions between the living and non-living substances, comprising the universe.

This is the simple solution of the riddle of the universe by Jain Acharyas, men of wisdom, and perfect knowledge, who have evolved their own perfect nature by self-exertion, without the help, assistance, support of any redeemer or mediator, messenger, or incarnation of the perfect spirit.

The Doctrine that the universe comprises two main substances— the living and the non-living is a simple article of Faith, which will be self-evident after concentrated thought, and pointed meditation. The two substances, the living and the non-living are eternal, uncreated, self-existing. They have ever been, shall ever remain. They are continually, every moment of time, changing in form and appearance; but in substance they are unchangeable.

Living beings met with in the world are 'embodied souls', life combined with non-life, the body closely enveloping the soul. The combination of soul and non-soul, of soul and body is without a beginning; but soul is capable of throwing off the covering which confines it within limits and deminishes its pristrine attributes of ommiscience, ommipotence etc The number of embodied souls is infinite and shall everremain Infinite. It is an axiom of the science of mathematics thatif any quantity is subtracted from an infinite quantity, the balance remains infinite. An infinity is an inexhaustible quantity. Embodied souls shall continue to evolve *themselves into Perfect* souls, shall become Paramatmas; but the universe shall continue. The force, the subtle force which keeps

the soul confined, and embodied, from eternity, from time without beginning, is called Karma. It is a non-living substance.

The Doctrine of Karma is a special and distinguishing feature of Jain Philosophy. Karma, in itself, is dead, inert, life-less matter. This matter is so very fine that it can not be perceived, cognised, felt, apprehended, or otherwise known cr ascertained by any of the senses, or by any scentific instrument howsoever delicate or fine-measuring. It has however the innate capacity of assuming any one of the innumerable forms which vary with the thoughts, words or actions, which a living being entertains, utters or performs. It exists every where in space, even in empty spaces, inside our bodies, and all around and about us. It assumes Karmic form when influenced by the vibrations set therein through thoughts, words or actions of our embodied soul. This assumption of form is called Inflow or Asrava; and when in such close proximity, it combines with the embodied soul moved by passion. The combination is called Bondage. The stoppage of the inflow of Karma by control of mind, speech, and body is called Samvara. The shedding of combined Karmas is called Nirjara; and riddance from Karmic contact is called Moksha.

Karmas are, broadly speaking, divided into eight classess and subdivided again into 148 sub classes; and further subdivisions are countless. They vary with each thought, each sound that is uttered, each movement of the body.

The bondage is again of four kinds—quality or class of Karma that is bound, its quantity, its duration, and the intensity of the bondage.

The shedding off is effected in two ways. One is automatic, due to expiration of the period or duration of bondage. The other is pre-mature, by efforts of ascetic practices.

Jain masters of wisdom have discoursed upon Karma Philosophy in minute details, and analysed the nature, the effect, the power the intensity, the quantity of every kind of Karma, to brain-racking and mind-bewildering extent for an-ordinary intellect. Volumes have been written upon the subject. Gommat-Sarā, (Jivā-kand, and Karma Kanda) published in bulky books as Volumes V, VI and X of the *Sacred Books of the Jainas Series from Ajitashram Lucknow* by the

Central Jain Publishing House, and Shat-Khanda-agam of which 7 weighty volumes comprising a commentary called Dhavalā edited by Professor Dr Hira Lal Jain, M. A., D. Litt. of the Morris College Nagpur are only samples available in English and Hindi. Other Volumes are to follow, and it is difficult to make a definite statement as to when the whole of the Shat-Khand Agam will be finished

Dr. A N. Singh, Professor of the Lucknow University is the author of a monograph with the caption "The Mathematics of Dhavala."

Jain Savants have declared that man is the master of his destiny, He makes or mars his life here and hereafter He needs no redeemer, no mediator. The Jain prayer or worship is no flattery, no praise of any person, or of any impersonal Being with power to grant prayers, confer benefits or inflict punishment. It is a concentrated endeavour, a closely directed effort, a retiring unto oneself, a renunciation of all that is shadowy, fleeting, seemingly pleasent, but in essence external and in result baneful, and painful.

The path is clear, straight, and short. It is open to every living being, howso-ever situated, without distinction of caste in which one is born, regardless of age, infirmity or disease, rich or poor Jainism recognises no bar of colour, caste or country, It has no reservations, no priesthood. The Jains are not idol-worshipers, A Jain image does not represent any particular person with any special features of body, dress, or external things, such as a bow and a sheaf of arrows, a musical reed, a discuss, or a crown. It is only a representation of a human being, unclad, undraped, unadorned, in a attitude of deep meditation, absorbed in Self, and obliviuos of all that is outside and beside the Self. He is called Jina, the Victor, and Jain Dharma is the Conquest of pain, misery, disease, birth and death, and the attainment of Immortality, Life Everlasting.

The Jain Doctrine of Syadvad has again reconciled, and synthesized the apparently contradictory and differing theories of all religious teachers. Jainism is remarkably liberal and tolerant. It acknowledges all systems as right and true; but only partially true, from a certain point of view, from a certain angle of vision. Any one system of Philosophy does not contain the whole truth, because

it ignores other points of view and takes a one-sided stand. Philosophers quarrel with and denounce each other, and wrangle over matters which complement and supplemnt each other to form a harmonious whole, The story of the blind men who stumbled against an elephant, and each formed an idea of the animal from the part which he happened to come in contact with, or of travellers from different countries who called the same fruit by different names, and disputed among themselves as to the supreme excellence of the same fruit, are apt illustrations of the wrangles among disputant sages; because they refuse to see, or become incapable of seeing by habit cr incapacity, the other sides of the same object.

The basis principle of Ahimsa has been recognised by all religions; but every one has taken a limited, view, and stopped short at a certain stage, and did not proceed to the furthest logical conclusion. Jain scholars alone have gone to the full length, and included all living beings from the lowest one-sensed amoeba, who are born and who die in millions every moment of time, to man the fully developed of all living, beings; and have declared Ahinsa as abstention from causing the slightest injury to any of the fuculties of any living being, through indifference, inattention, carelessness, without due care and caution. It is practised to a limited extent, varying with the circumstances in which one happens to be placed, by every house-holder or laity, and in its completeness by every Sadhu, Saint, houseless hermit.

Jainism is a panacea against all ills. It brings peace and plenty. It secures happiness to each and all. It solves all difficulties and unravels the riddle of the universe.

The Jaina Chronology.

By

(Syt. Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S.)

(*Continued from Vol. XII, No. I, p. 29*)

No.	Period & Date.	Events.
165	375—413 A. D.	Chandragupta Vikrmâditya of the Gupta dynasty ruled over India. According to Jaina tradition, Chandragupta Vikrmâditya came into contact with the celeberated Jainâchârya Siddhasena Divâkara. Siddhasena was the Kṣapaṇaka, who was one of the nine gems of Chandragupta's court It is said that Siddhasena influenced the Gupta Emperor by showing a miracle in the Mahâkâla temple at Ujjain and converted him to Jainism. [SJI. II, 2. 92—93; Allahabad University Studies, Vol. II—'The Date of Kâlidas';
166	400 *Circa.*	Fa-Hian, the Chinese traveller visited India. He found Nirgranthas (Jainas) scattered all over India, mostly at Sankâśya, Śrâvasti, Râjagraha and other places. —(Fa-Hian, Indian Press Ltd.,—pp. 35 36 and 40-45.)
167	400 *Circa.*	The two princes of the Gupta dynasty, namely Harigupta and Devagupta adopted the vows of a Jain Śramaṇa. —Kuvalayamâlâ; Jainism in North India, pp. 210—213.

No.	Period & Date.	Events.
168	400—435 A. D.	Mādhava II (Kiriya) Konguṇivarmā flourished, who besides being a competent ruler, was a great scholar. He composed a book namely "Dattakasūtra." (The Gangas of Talkād, p. 26. and SJI, III, 2, 41).
169	401 A. D.	Sarvanandi Āchārya composed "Lokavibhāga"—a geographical treatise in Vikrama Saṁvat 458. (IHQ. II, 451.)
170	400 *Circa*	Guhaśiva, King of Kalinga was converted to Buddhism from Jainism. Upon this all the Nirgrantha (naked) Jains, who were nick named as 'Ahirikā', left Kalinga and went to Pātaliputra, where King Pandu was ruling. The Nirgranthas complained to him against the Kalinga King. (Datha-Vaṃso, II, 72—91.)
171	307—474 A. D.	The following Āchāryas flourished in the Digambara Jaina Saṃgha of Bhaddalpur (Visanagar): (1) Vajranandi 307 A. D., (2) Kumāranandi 329 A. D., (3) Lokachandra I, 360 A. D., (4) Prabhāchandra I, 396 A. D., (5) Nemichandra I, 421 A. D., (6) Bhanu Nandi, 430 A. D., (7) Jayanandi, 451 A. D., (8) Vasunandi, 468 A. D., (9) (Vīranandi 474 A. D. —JH. VI, 29-30 and IA. XX, 351—352.
172	411 A. D.	Amarkaradeva, son of Udāna, who was a military officer uder Chandragupta Vikrmāditya, made a gift of one village & 25 Dinārs

No.	Period & Date.	Events.
		for Kākanāvoṭa Jaina Vihāra in 468 A. Vik. — Bhārat ke Prāchina Rājavaṁśa, II, 263.
173	420—445 A. D.	Mṛagcśavarmā son of Śāntivarmā ascended the throne of Kadamba Kings, who was a great ruler. He with his chief queen was an ardent follower of Jainism. In the third year of his reign he endowed some land for the worship of Lord Jinendra. Later on he also made a gift of the village Kālavanga for the Arhatpūjā to the ascetics of the sects of Śvetapṭa and Nirgrantha Śramaṇas (naked Jain ascetics) —JH., XIY, 226.
174	425 A. D.	Udayagiri Jaina Inscription is of 106 Gupta era. —Gupta Inscrips: p 258.
175	432 A. D.	Gupta era 113, Mathura Jaina image inscription of the reign of Kumāragupta. —Ep. Ind., II, 210.
176	430—482 or 520—540 A. D.	Avanita, the Ganga King flourished. Jainacharya Vijay-Kirti was his preceptor. He made gifts for the Jaina temples of Uranūr, Perūr and Punnada. —The Gangas of Talked pp. 33—34 and Mysore and Corg pr. Inscp: p. 35.
177	450 A. D. or 600 circa.	Devanandi *alias* Pūjyapāda-svāmi, whose disciple being the Ganga King Duravaniti (482—517 or 540-600 A.) wrote "Jainendra-Vyākaraṇ" — "Śabdāvatāra-Kārikā-vritti on Pāṇini" and "Surasasaṃgraha." —JM., XV, No. 5, p. 8.

No.	Period & Date.	Events.
		Pūjyapāda's birth place is said to be the village of Kole in the country of Karṇāṭaka. His parents were Brāhmaṇas by name Mādhavabhaṭṭa and Śridevi. Śridevi was of the Jaina pursuasion and she was instrumental in making her husband to believe in Jainism. Pūjyapāda was a disciple of Āchārya Vadananandi. He was also known as Jinendra buddhi and was renowned for his piety, penance and miraculous powers. His following works have so far been traced: (1) Sarvārthasiddhi ṭikā. (2) Samādhi-tantra, (3) Iṣṭopadeśa. (4) Nyā Kumuda-chandrodaya, (5) Śabdāvatara-Nyāsa; (6) Śākaṭayana-Sūtra-Nyāsa; (7) Vaidyaśāstra, (8) Chhanda-śāstra and (9) Jainābhiṣeka. —SJI, III, 2, 106—112.
178	450—500 A. D.	Ravivarmā, the son of King Mṛageśa flourished in the Kadamba dynasty. He was a successful ruler and a great warrior. He was also a devout follower of Jainism like his father. It is said in his Palāsika (Halsi) grant that "The lord Ravi established the ordinance at the mighty city of Palāsika that the glory of Jinendra (the festival of) which lasts for eight days, should be celeberated regularly every year on the full-moon of (the month) Kārtika from the revenues of that (village); that ascetics should be supported during the four months of the rainy season; that the learned men, the chief of whom was Kumāradatta, whose intellects had been wearied by (excessive study of) many

No.	Period & Date.	Events.
		scriptures and collection of precepts; who were renowned in the world; who abounded in good penances and whose sect was his authority for what he did;—should according to justice enjoy all the material substance of that greatness and that the worship of Jinendra should be perpetually performed by the pious conntry men and citizens. Wheresoever the worship of Jinendra is kept up there is increase of the country and the cities are free from fear and the lords of those countries acquire strength. Reverence! —Ind. Aut. VI, 30.
179	450—500 A. D.	Ravivarma's brother Bhânuvarma helped him in the administration work of the Kingdom and being a devout Jain, he made gifts for the worship of the Lord Jinendra. —SJI, III, 2, 27—28.
180	460 A. D.	Gupta Saṃ: 141 is the date of the erection of the Kahâuṃ pillar, a Jaina monument in the east of the Gorakhapur district. —Fleets Gupta Inscrips: No. 15 and IA,, Vol. XVII, p. 296.
181	478—479 A. D.	Pahârpur copper-plate inscription of the Gupta year 159 (478—79 A. D.) proves existence of the Nirgrantha Saṃgha in Bengal which was supervised by Achârya Guhanandi; who seems to belong to the line of the ascetics of Nandi-Saṃgha. In it are recorded the facts that "Nâtha-Śarmmâ a Brâhmaṇa and Râmî, his wife, approached the District

No.	Period & Date.	Events.
		Officer (āyuktaka) and the city council headed by the Mayor (Nagar-śresṭi) at Pundravardhana with the requast that in accordance with the procedure prevalent in the locality, they might be allowed to deposit three dinaras in return for one and a half Kulyavāpas of land distributed among four different villages to be endowed in perpetuity for the maintenance of requisites of the Arhats such as sandal, incense, flower, laps, etc. and for the construction of a resting-place at the Vihāra of the Jaina preceptor Guhanandi at Vaṭa-Gohāli. Their prayer was granted and land was sold for the aforesaid purpose." —Ep. Ind., XX 63—64 and B. C. Law —Volume pp. 252—253.
182	488 A. D.	The Bādami inscription of Śaka sam: 411 of the Western Chālukya Mahārājādhirāja Pulakesin I, Satyāśrya, the son of Raṇaranga, who was the son of Jayasiṁha I and of his feudatory Saniyara, the son of Śivara, who was the son of the Rājā Gonde of the Rudrānila—Saindaraka family (12, April A. C. 488) records the builing of a Jaina temple and the allotment of certain grants to it and gives line of Jaina teachers Siddnandin, Chitakāchārya Nāgadeva and Jinanandin. —IA., Vol. VII p. 211.
183	500 circa.	A stone image of a Jaina Tirthankara of this period has been unearthed from the mounds in Mainamati village (Bengal). It is

No.	Period & Date.	Events.
		likely that subsequent excavations near mound 2 may reveal Jaina Vestiges. —B. C. Law Volume, pp. 218—219.
184	500 circa.	Harivarma succeeded Ravivarma in Kadamba line of Kings. He was a devout Jain in his early life, but was converted to Śaiva cult later on. However he made grants for the Kūrchaka Saṁgha's Jaināchārya Vīrasena, and āchārya Chandra & Dharmanandi
185	"	Siṇha, General of the Kadambas and his son Mragṣā flourished, who built a temple of the Lord Arhat. —JSI., pp. 50—51.
186	"	Ilangko-Adigal's grand father observed the Jaina Vow of Sallekhnā, as he received a fatal wound on his back in a battle. He and three Chera Kings of Konga in the first and second centuries had a Jaina *Gurū* and the Jainas were *Gurūs* to the same line of Kings down to the fifth century A. D. Their capital was Vengi. —*Rice*, Mysore & Coorg, I, 370.
187	"	The Kalabhras occupied the Kingdom of Madura and ruled over Chola Pāndya and Chera countries continuously for three centuries. The Kalabhras embraced Jainism and "influenced by the Jainas, who were innumerable, began to persecute the Śaiva Saints. It was during this period that the famous '*Nāladiyār*' was composed by the Jains." —Studies in South Indian Jainism.

No.	Period & Date.	Events.
188	504—585 A. D.	The following āchāryas flourished the Digambara Jaina Saṃgha at Bhaddalpur (1) Ratnanandi, 504 A. D., (2) Māṇikyanandi, 528 A. D., (3) Meghachandra, 544 A. D., (4) Śāntikirti I, 560 A. D., (5) Merukirti 585 A. D. After Merukirti, the centre of this Dig. Jaina Saṁgha was shifted to Ujjain from Bhaddalpura. —IA., XX. 352. *To be contd.*

THE PURAṆIC AND HISTORICAL REFERENCES IN THE APABHRAṂŚA STANZAS OF HEMACANDRA.

By
Sibendra Nath Ghosal M. A.
Prof. Bangabāsi College. Calcutta.

(HISTORICAL.)

In the Apabhraṃśa stanzas of Hemacandra we find that there is only one historical character called Munja, regarding whose identity there is much dispute among scholars. He has been mentioned in the following two verses the first of which seems to be obscure to a certain extent.

एक्कहिं सा विसहारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ ।[1]
पउबिम्बिअ मुंजालुजल जेहिं अडोहिउ पीउ ॥439.2

["The water-carrying girl preserves her life by kissing both hards that have drunk water with the reflection of Munja (as well as grass) without plunging into it"]

बाह-बिछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवइ को दोसु ।
हिअअट्ठिउ जइ नीसरइ जाणउँ मुञ्ज सरोसु ॥439 3

["O मुञ्ज, you may so[2] throwing off my arms; let it be so: what harm is there? I shall consider मुञ्ज to be angry if you go out from my heart."]

Here the annotator of the Bombay edition observes. "The references into मुञ्ज in the two verses above are regarded by some to the famous King of Malwa; by others to the minister मुञ्ज of a King of the Cāluky dynasty." Prakrit Grammar, Bom. edition P 709. By a single reference in a verse or two, it is very difficult to come to any

1. The intened. meaning of the verse, as it has been suggested to me by Dr. P. L. Vaidya, who came to Calcutta to attend the centenary of Sir William Johnes in the Royal Asiatic Society is—'The poisnous girl preserves her life by kissing both hands, full of water, in which Munja is reflected and which was drunk by her."

2. It seems to refer to Munja's design of escape through the secret tunnel which was dug by his ministers and which he disclosed to Mṛṇālavati, Sister of Tailapa II with a view to bring her in his own kingdom.

definite conclusion as to the identity of the character. But the contents of the 2nd. Stanza quoted above, go more in favour of Muñja, the great King of Malwa, whose life-history has been excellently depicted by the Sanskrit poet Merutunga. As the verse points to, beyond all doubts, a love-affair in which Munja is involved, and as the great King of the Paramāra dynasty is believed to have been entangled in such a love-intrigue, for which he paid dearly, we think that the poet of the Apabhraṃśa Stanza has referred here to Munja—the king of Malwa and not to any minister of a King or any other person. It will not be irrelevant if we go into the details of the life history of this Malwa King and see how far this love affair has stood the trial of impartial criticism of the historians.

Munja, who is more known as Vākpatiraja is the son of Siṃhadanta-bhaṭa i.e. Śiyaka, who is the founder of the Paramāra dynasty and is the first imperial ruler of his family. Śiyaka, after his Southern expedition, abdicated his throne in favour of his son Vakpatirāja sometime between the years 970 and 973. Vakpati bore the appellations of Sriballabha and Pṛthiviballabna after his ascension to the throne. His other names were Amoghavarśa, Utpala and Munja. In the Nagpur Prasasti he is described as Muñja while in the rest of the inscriptions of his dynasty he is mentioned as Vakpati. There should not be any doubt as to the assertion that Vakpatiraja and Munja are the names of one person, Since King Arjunavarman in his commentary on Amaruçataka, called Sanjivanī states that Vakpatirāja, otherwise known as Munja, was one of his predecessors. (if "अस्मत्पूर्वजस्य वाक्पतिराजापरनाम्नो मुञ्जदेवस्य"). The followig story on which no verdict has been passed by the historians, explains why Vakpati is called Munja. "Merutunga tells an interesting story in connection with the birth and early life of Vakpati. Siṃhadantabhaṭa (i. e Śiyaka) was for a long time without any child. Munja was not as a matter-of-fact, his own son. Once while the King was on his royal circiut, he came across a new born child in the thicket of Munja grass, whom he picked up lovingly in his arms. He brought him up and intended to make him his successor. The child was given the name of Munja, in memory of his discovery in the grass of that name" P. 47. The dynastic history of the Paramāras.

Apart from his heroism and supremacy in Political conflicts, which we shall discuss later, Vakpati was noted for his scholarship and a genuine love of wisdom. He not only patronised the poets of eminence and sharp intellects, but also himself cultivated the art of versification It is due to his liberal patronage, unvarying devotion to the goddess of learning and rich contributions, that a renaissance of Sanskrit literature took place in Malwa. Padmagupta, Dhanañjaya, Bhaṭṭahalāyudha. Dhanika, Dhanapāla and others flourished under his beneficient patronage He reminds one of the classical King Vikramāditya, who surrounded by his court-poets, among whom Kalidas was the fore-most, remained engaged in the discussions of poetry and other fine arts. But, while he was devoted to the peaceful pursuit of literature he did not remain idle and indifferent to the affairs of the state; on the contrary, he spent more energies to the formation of a powerful military organisation, which was necessary for his vigorous expeditions. After his ascension to the throne he defeated Yuvarāja II, of the Kalacuri dynasty who ruled over the northern part of the central provinces during the years between 975 to 1000 A. D. He then rushed towards the Guhilas of Medapaṭa or Mewar. He attacked Śaktikumāra the son of Naravāhana (977. A.D), who was soon defeated Śaktikumara fled away and took shelter under the Rastrakuṭa Dhavala of Hastikundi. Vakpati's next move was towards the South. He wrestled from Balirāja, the King of Cāhamānas, the mount Abu and the Southern part of his dominions, as far as Keraḍa He attempted to conquer the capital of the Cāhamānas, but was defeated there. The most wonderful achievement of Vakpati was his victory over the Hunas, who were most indomitable and powerful. After his conquest of the Southern Marwar he was involved in a war with the Cauļukyas of Gujerart He defeated Caulukva Mularāja I, who was his contemporary and who ruled from 941 to 997. A. D. Then he made an expedition against Lata (the land between the rivers Mahi and Tapti) and conquered Bārappa, who as a member of the Caulukya race and general of the Karnaṭa King Tailapa II, was at that time its ruler. By so many successive victories Vakpati built a vast empire, but he could not keep it in control for a long period as the subjugated states, soon gained power and became again independent.

While Vakpati was on the pinnacle of his glory and supremacy, there was the final overthrow of the Rastrakuṭa empire; both the Paramāras and the Cālukyas rushed for it. This gave rise to a perpetual rivalry between Munja and Tailapa II, who came into conflicts several times. Basing on the accounts of Merutunga, the author of "the dynastic history of the Paramāras" offers the following descriptions of their feuds and the death of Vakpati. "In one of his early attempts Vakpati was routed by the armies of Tailapa. Besides this particular invasion he seems to have launched several more compaigns against the Deccan, and in most cases to have achieved successful results. Before the final termination Munja defeated Tailapa 6 times. In the last battle Munja fell a captive in the hands of Tailapa and suffered execution in the hands of his enemy. Munja was tied, confined in a wooden cage, and thrown into the prison of Karṇāṭaka. His ministers managed to get him free, dug a secret tunnel, but due to his foolishness and indiscretion, their efforts failed. He fell in love with Mṛālavati, to whom he discloesd the arrangements and he requested her to follow him. She betrayed the trust confided in her and reported it to the King. This made the King more revengeful and heartless. He was led from door to doorfor begging his daily meal. He was afterwards brought to the place of execution. They severed his head from his body, moistened it with thick sour milk, and fixed it on a stake in the courtyard of the royal place."

But Munja's victory over Tailapa for 6 times and his love-affair with Mṛṇālavati—both the facts, accepted on the authority of Merutunga have been doubted by some. The opinions of the adverse critics are well expressed in the following words of C. V. Vaidya "But Merutunga's story that he conquered Tailappa 16 (recently corrected to 6) times, each time releasing him and then was defeated and taken prisoner himself by Tailapa is probably a myth of the same type as the story of Pṛthvirāja conquering Shabuddin six times and each time releasing him and himself being finally defeated, taken prisoner and beheaded. Such stories are the natural suggestions of poets' brains and they gain cadence within a couple of centuries may even earlier. But the Story of Munja is further embellished by poets who borrowing details from the Story of

Udayana and Vasavdattā state that Munja was in his regal confinement attended by the Sister of Tailapa (this is on the face of it absurd among Rajputs), who eventually fell in love with him and who was asked to enter into a conspiracy to run away with him. This plot being disclosed by her to her brother, Munja was ill treated and finally beheaded by Tailapa. This legend is too, poetical to be true and not being supported by any statement in any contemporary or epigraphic record may be discarded." History of Medieval Hindu India. P. 120—21.

As the fact that Munja defeated Tailapa 6 times before his final humiliation is accepted to be true by great historians like V. Smith and others, we need not doubt the statement of Merutunga or the author of the dynastie history. But as regards his love-intrigue we are inclined to believe that inspite of pros and cons, arguments both favourable and adverse, the statement of Merutunga is possibly true though there are evidently many exaggerations, and it is probably one of the main reasons for which Tailapa took such a malicious revenge upon his most formidable enemy. Basing upon this fact, the cardinal point, we assume that Munja referred to in the Apabhraṃśa Stanza is possibly the great King Vakpati, who yielded to the passion of love though dragged by untoward events to such a critical situation of life. The verse बाह वोछोडवि etc, already quoted above, possibly gives vent to the feelings of Mṛnālavati who breaks out in a passionate exclamation to assert her faithfulness and lovel but her treachery and later conduct proved all her words to be ful, of pretensions. Thus we come to such a conclusion from a very insufficient source. So we frankly confess that our assertion based solely on internal evidence is problematic and it lacks strength due to want of support from other sources. We could have asserted it with more emphasis had there been any external proof to substantiate our assumption.

After the death of Harshavardhan and before the invasion of India by the mahomedans in 1001 A. D., the whole of Rajasthan was divided into a number of small states ruled by the chiefs of the different families. These families known as Canhāns. Parihāre, Tomaras, Pawārs. Chandels, Kalachuris, Haihayas, Gaharwārs, Rāstrakuṭas and others, go by the common name of Rajput. As

the vast empire of the great King of Thaneswara disappeared, there were scrambles among some of these families for supremacy and power. So there were mutual warfares among them which continued for a pretty long time and made them gradually weaker. As a result, when there were foreign invasions by the mahomedans those families could not combine themselves and resist unitedly the vehemance of their attacks. They yielded individually inspite of their best resistance to the foreigners and their successive defeats enabled the mahomedans to conquer India and build a big empire in the later period. These Rajputs who occupy a most exalted position in the history of medieval India, are noted for their heroism, self-sacrifice and love of freedom. Even the European scholars, who are the most fastidious crities of Indian history, have admitted their noble sacrifices for the independence of their country and honour of their women. In the Apabhraṃśa Stanzas of Hemacandra, we find a clear glimpse of the social life of the Rajput warriors. Of-course, it must be clarified in the very beginning that the warriors, whose sentiments, thoughts and ideas sparkle in these Apabhraṃśa verses were not certainly the people of a very higher stratum of society and were distinct from the aristrocrats, the rich who lived certainly a far better life. Rather, they were the common soldiers, who served under those chiefs and standing by them fought with equal bravery and enthusiasm for the honour of their land Though they are presumed to be of a lower rank, they had not certainly very lower rooms or ideals of life. On the contrary, they were highly cultured, being imbibed with the spirit of Indian moral thinkings and her philosophical wisdom of diverse interests. A more detailed study will make them familiar to us and will certainly help us to form a right judgement about them.

The Rajput heroes, whose social life is clearly reflected in the Apabhraṃśa verses used to live a very simple life. They lived mostly in huts and expected from their masters food and clothing besides courtesy, which they valued much. तरुहुँ वि वक्कलु फलु मुणी वि परिहणु असणु लहन्ति । सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउँ आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥ 341-2. ["Even ascetics get barks from trees to wear and fruits to eat, the servants get from their masters only courtesy (or have to show courtesy or respect to their masters) over and above these (clothing

and food)]". In most part of the year they kept themselves busy with warfares, but during the rains they returned home to be united with their near and dear ones. Wc can know from the verses the weapons they used in the battles. These were mostly arrows, swords and spears. In the words of the poets these are Khaḍga (पइति निसिमा खग्गा 330.4). Karavāla (जिवं करि करवालु मिअस्सु 354.1) (कुहिं तुहुं करवालु। 389.3.)+Śara, (जहि कप्पिज्जइ सरिंग सरु 357.1) etc there were possibly other kinds of weapons, not definitely mentioned. But often in close fight, the strength of the arms also counted much, as we find such a verse as "कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइ रूसइ जासु। अत्थिहिँ सत्थिहिँ हत्थिहिँ वि ठाउ वि फेडइ तासु॥" 358.1. ["My lover, when angry with some one, O friend, certainly breaks even the place, the enemy occupies by means of weapons, missiles or even by hands"] Possibly drums were beaten to keep the soldiers excited, when the battles grew furious by the sheddings of blood,cries of the falling heroes and the shouts of the conquering warriors.

As we have already mentioned, we need not emphasise much the fact that bravery was uppermost in these warriors who cared for very little for their lives. A large number of verses bear testimony to this feature of their character. Since it is not possible to quote all of them we quote only a few, which will show that a combined effort of all the heroes of this nature, could have easily thwarted the foreign invasions however powerful and organised, had there been unity among the different families. भग्गउँ देक्खिवि निअयबलु बलु पसरिअउ परस्सु। उम्मिल्लइ ससिरेह जिवं करि करवालु पियस्सु। 354.1" [On seeing his own army routed, and the enemies army spreading, the sword in the hand of my lover flashes like the veseant moon."] पइँ मइँ बेहिँ वि रण-गयहिं को जयसिरि तक्केइ। केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को तक्केइ॥ 370.3. ["When you and I both are on the battle field, who else would expect to gain victory. Say who would be at ease by pulling Yama's wife in her hair."] तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउ दिट्ठउँ बहुअ जणेण। तं तेवड्डु समरभरु निज्जिउ एक्क खणेण॥ 371.1. ["What yourselves and ourselves had done has been witnessed by many people, for we have won (निर्जित) so great a battle in a moment."] हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहुं। अम्हाहिं बे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं॥439.1. ["O heart if clouds are our enemies are we to scale heavens to kill them? We have two arms if we are to die we shall die after

killing them."] They were highly adventurous and not to be easily daunted by any untoward circumstance of life. विहि विणडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ। संपइ कड्ढउँ वेस जिँव छुडु अग्घइ ववसाउ। 385.1. ["Let my luck be unfavourable; let the stars trouble me; O fair one, donot be depressed, I shall drag money like my dress if only I value work.] They hated inactivity which damps the spirit of zealous enterprise and begets lethergy 'खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं। रण-दुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं॥ 386 I ["We shall go to that country where we shall get some work for our sword; destitute as we are by the famine of fight, we cannot live (in happiness) without it."] They were generous and very liberal in gifts. महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु। देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु। 379.1. ["My lover has only two flows, my friend, donot conceal the charge (आलु). When he makes gifts, I alone am left; and when he fights, the sword alone is left."] They were virtuous, noble, and guided by higher altruistic motives. सबधु करेप्पिणु कधिदु मइँ तसु पर सभलउ जम्मु। जासु न चाउ न चारहडि न य पम्हट्ठउ धम्मु॥ 396.3. "On oath I tell you his life alone is fruitful who does not lose generosity, nor valour nor piety."] They were self-sacrificing as we have already mentioned, and did not hesitate to put their life at stake for redd-ressing the miseries of the distressed. जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ। विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ॥ 364.1. ["If you inquire about big houses, then there they are; but behold my lover in the hut here who helps people in distress."] But the most prominent feature of their character is their keen sense of prestige and self-respect. They are ready to die in the battlefield with swords in hand than to be humiliated by others, and see their own honour trampled by foot. माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज। मा दुज्जणकर पल्लवेहिं दंसिज्जन्तु भमिज्ज। 418.4. [When your honour is lost, you should abandon the country, if not the body. Do not move in that country being pointed out by the fingers of wicked persons."]

The Rajput heroes often remind us of the chivalrous knight-errants of the meadieval ages of Europe. But though from the standpoint of grandeuor and aristrocracy, which the latter maintained, there cannot be any comparison between the Rajput warriors and the European knight-errants, from the view point of sacrifice, bravery and faithfulness to their masters, such a comparison will

however stand immune from any sort of adverse criticism. In one point, however, the comparison is far more appriopriate. The knights of Europe used to place women to a considerable height of superiority and looked at them with an eye of honour, dignity and wonder. The Indian heroes, who seem to be rightly compared, treated them also in the same manner; but they evinced one speciality, however, in this respect that they did not keep women in the distance, in a region far from their own world approaching with a spirit of worship; on the contrary, they dragged them to the dust, just beside them as partners of their own weal and woe, joys and sorrow, pleasure and pain.

Now let us study the sentiments of the Rajput women and see how they fared as consorts of their noble husbands. These heroines of Rajasthan, who were born and brought up in an atmosphere surcharged with a spirit of fearlessness were equally brave like their own heroes They felt pride in the glorious activities of their husbands, and there are inumerable verses, which reveal this very highly commendable sentiment of their hearts. संगरसएं हिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु। अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गय कुम्भइं दारन्तु॥ 345.1. ["Behold my lover who is mentioned in hundreds of battles (as) breaking open temples of elephants who are excessively maddened and ungovernable by goads."] कन्तु महारउ हलि सहिए etc. 358.1. (Trans. see before.) महु कन्तहो बे दोसडा 379.1 (Trans. see before.) जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण। अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण॥ 379.2. ['If the enemies are defeated, then my friend, they must have been so by my lover; if our men are defeated then it must have been so by his being killed."] आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु। गयमत्तहं चत्तङ्कुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु॥ 383.3. ['O Gauri, may you give me in this life and also in another such husband who smilingly meets maddened elephants unmanagable even by goads."] महु कन्तहो गुट्ठट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति। अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति॥ 416.1. ["How are huts on fire when my lover is at home (गोष्ठ)? "He will certainly extinguish them either by the blood of his enemy or by his own."] कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु। सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख समाणु॥ 418.2. ["It puts down my prade (I am ashamed to see) that my lover is compared to a lion,—for a lion kills elephants without watchmen, while my lover kills them along with body

guards."] These Rajput ladies were so much susceptible to a keen sense of prestige that they liked to see their husband dying in the battlefield than to encounter them humiliated and dishonoured. This feeling is well expresed in the stanza. "भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु। लज्जेजन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥ 357.1. [It is well, O sister that my husband was killed (in battle), he would have been put to shame in the presence of my friends if he had returned home defeated."] While we think of these ladies, we are sure to remember Queen Padmini. Durgāvati, Lakṣmībāi, and others of the later times, whose heroism and sacrifices have been written with golden letters in the pages of Indian history and who still remain alive in the sacred memory of the people.

Another feature of the character of these Rajput women is their genuine love for their husbands Their devotion to their lovers and self-less resignation to the desire of those, whom they regard most, exact our admiration. When the heroes used to go to the battle-fields, they counted the days of their reunion and grew emaciated. जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेण। ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण। 338.1. ["My fingers are shattered (wounded) by nails while I was (engaged in) counting the days that were given to me by lover, when he started (in journey)"] But at the same time they believed that distance could not blot out the love which was deeply instilled into the bosoms of their heroes and which was deepened by a keen appreciation of their self-less service and fidelity In the moments of union they trembled with suspense, apprehending the fast-approaching separation from their lovers, but when they actually confronted it, they wailed piteously till the whole atmosphere was filled with a note of deep pathos and their voice ringing in the far distance melted into the air "हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं देक्खउँ हय-विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्ख-सयाइं॥ 357.3. ["O heart burst with noise! why delay? I shall see at what place (other than thyself) would the ill luck keep these hundreds of miseries (that thou art experiencing at present.)"] It seems strange that the ladies who showed extreme courage by marching to the battlefields beside their husbands with swords in hand and smilingly entered into the blazing fire for the protection of their honour, could be so sensitive fragile and weak as not to be able to withstand the very slightest

injury of love. Though it is true with most of the ladies we must admit. there were of course very few who proved faithless and were probably hated by the chaste. जं दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसङ्कु। पिअ-माणुस विच्छोहगरु गिलि गिलि राहु मयङ्कु ॥ 396.1. ["When the unchaste women saw the eclipse of the moon they laughed fearlessly (and said), O Rāhu, do swallow the moon that agitates the beloved person"] Sometimes good sense dawned upon them and they grew penitent, but sometimes again they wavered between fidelity and faithlessness as it is well expressed in the stanza. एक्कसि सील-कलंकिअहं देज्जहिं पच्छित्ताइं। जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥ 428.1. ["Atonement can be prescribed for those whose character is spoiled only once; what is the use expiation for him who breaks his promise every day."] Though the verse refers mainly to the despicable conduct of the faithless lovers, it has certainly a fling at the sentiments cf those ladies. whose fickle character and strong sensuality stood in the way of their complete surrender to nobility and virtue.

Thus we have roughly surveyed the thoughts with possible judgement. We must admit here, that we cannot determine exactly whether the Rajputs, whose social life we have traced in the Apabhramsa stanzas, are of one family or of different families or whether they belonged to the northern or the southern group[3].

---

3 Here it should be mentioned that Prof V. Smith has braced the origin of the Rajputs from different sources and divided them mainly into 2 groups. According to his theory, the Northern group comprised of those Rajputs who came to India from North as Sakas, Yuiechi i.e. Kuṣāṇas, Huns, etc and were later Hinduised Such a process of naturalisation took place at a very early age and continued for a pretty long time To the Southern group belonged all those Rajputs who came from the aboriginal tribes i. e the Gonds, Bhars, Kols etc, who were better known as the Dravidians. All these Rajputs introduced themselves as Ksatriyas and claimed their origin from the famous solar or the lunar dynasties of the Purāṇic age But there was evidently a strong rivalry between the two groups and some of the Rajputs of the Northern group, who earned much distinction gaining supremacy despised even others of their own group having different origin, what to speak of those of the Southern group. The following observation of Prof Smith is to be noticed in this connection "The main points to remember are that the Ksatriya or Rajput group of castes is essentially an occupational group, composed of all clans following the Hindu ritual who actually undertook the work of government; that consequently people of most diverse races were and are lumped together as Rajputs and that most of the great clans now in existence are descended either from foreign immigrants of 5th. or 6th. century of the christian era or from indigenous races such as the Gonds and Bhars." Early History of India, P. 428-29.

Even the very word 'Rajput' or any other tribal name in substitute does not occur in the entire body of verses. But from a single reference to Munja, whom we assume to be the great Vakpati of the Paramāra dynasty, a noted Rajput clan and from the outpourings of sentiments kindred in nature with those of the later Rajputs of undisputed history we are inclined to read in them the thoughts and ideas of the ancestors of the latter. We are further of opinion that when these Rajputs lived and were engaged in petty warfares among themselves, probably there was not still any invasion by the mahomedans though the latter had stood at the frontier gate of India and were contemplating of future plunderings of her treasure. In fine, we should say that our statements are highly problematie. Basing solely on internal evidence, it should be explicitly mentioned, we have tried to throw some light on the social history of the Rajputs. The historian are yet to decide how far our statements stand the ordeal of impartial criticism and are true. Had the sources of all these Apabhraṃśa stanzas been traced, we could have known further more about the history of the Rajputs and been able to remove to some extent, the obseurity that hangs heavily over the history of Meadieval India.

N B I am indebted to the annotator of the Bombay edition whose translations of the Apabhraṃśa stanzas I have borrowed in the present article. I am also indebted to Dr. D. C. Ganguly, the auther of the "Dynestic history of the Paramāras", which I mainly consulted for tracing the history of Vākpati.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XII., 1947.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Bau Kamta Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at :
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
ARRAH BIHAR. INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1.8

CONTENTS OF THE JAINA ANTIQUARY

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in year.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4s. 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history-geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to K. P. Jain, Esq., M. R A. S., Editor, "Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A. LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M A , D Litt.

B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

Pt. NEMI CHANDRA JAIN SHASTRI, SAHITYARATNA

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं:—

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल्. एल. बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए. डी. लिट.
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पण्डित के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण
पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यरत्न

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १४ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XIII No. 1

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Inland Rs. 3. Foreign 4s 8d. Single Copy Rs. 1/8.
JULY, 1947.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १४ प्रथम श्रावण किरण १

वि० सं० २००४, वी० सं० २४७४

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४७

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ सं०

———:o:———

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १४ | जुलाई १९४७। श्रावण, वीर नि० सं० २४७३ | किरण १

नीतिवाक्यामृत और उसके कर्त्ता

[लेखक—श्रीयुत पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री, पो० महरौनी, जिला झाँसी]

संस्कृत भाषा और नीतिवाक्यामृत

संस्कृत वाङ्मय सागर के समान ही महान् है और अपने अनुपम ग्रन्थों के कारण रत्नाकर भी। संस्कृत वह भाषा है जिसके द्वारा हमें भारत के दिव्य दर्शन होते हैं और यह वह चाबी है जिसके आश्रय से हमें अपने पूर्वजों का बहुत बड़ा भारी ज्ञान का खजाना हस्तगत होता है। आर्य जाति चाहे वह जैन हो या वैदिक या चाहे बौद्ध, कभी की संसार से लुप्त हो जाती यदि वह इस भाषा से चिपटी न रहती और आज भी यह भाषा इस जाति को संजीवनबूटी का काम दे रही है। इसे अपरिचित जन चाहे भले ही 'मृतभाषा' कहें पर इसके विशेषज्ञ इसे सदैव से "अमर भाषा" कहते आये हैं और ये विशेषज्ञ आज भी स्वदेश या विदेश में सर्वत्र पाये जाते हैं। मेरा तो विश्वास है कि किसी संस्कृत के अच्छे विद्वान् से यदि यह पूछा जावे कि तुम संस्कृत चाहते हो या स्वर्ग तो वह यही कहेगा कि नहीं, मैं स्वर्ग नहीं चाहता, संस्कृत ही चाहता हूँ। संस्कृतज्ञों का विश्वास है कि संस्कृत के बिना स्वर्ग में भी क्या सुख? इसलिये वे स्वर्ग में संस्कृत भाषा की ही कल्पना करते हैं। उनकी समझ में वह स्वर्ग, स्वर्ग ही नहीं जहाँ संस्कृत भाषा न हो, वह आर्य, आर्य ही नहीं जिसे संस्कृत भाषा नहीं आती। भारत के तीन प्रधान धर्म हैं—जैन, बौद्ध और वैदिक; इन तीनों ने ही इसे समान रूप से अपनाया है। इस विशेष आदर का कारण इसकी वैज्ञानिकता ही है तथा इसके लेखक ऐसे प्रखर मेधावी हुए हैं जिनके पाण्डित्य पर संसार मुग्ध है और आज भी उनकी विद्वत्ता की विश्व भर में धूम मची हुई है। देखिये न संस्कृत के जो नाटक नाम के दृश्य काव्य अभी उपलब्ध हैं वे संख्या में २५-३० से अधिक

नहीं हैं फिर भी इन इने-गिने नाटकों के कारण उसका यह अंग भी बड़ा भरा-पूरा दिखाई देता है, उसके ये एक-एक नाटक ऐसे बेजोड़ हैं कि संसार की किसी भी भाषा का कोई भी नाटक उनके समकक्ष होने का साहस नहीं करता। यही कारण है जो उनका अध्ययन अध्यापन आज भी सहस्रों वर्षों से एक-सा चालू है। प्राचीन समय में इस भाषा में ज्ञान के सभी अङ्ग पुष्ट तथा पल्लवित थे। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त सभ्य समाजोपयोगी चौंसठ कलाओं के ऊपर भी पर्याप्त ग्रन्थ उपस्थित थे। पर वे अब लुप्त हो गये हैं और उनका नाम मात्र ही अवशेष रह गया है।

विद्याओं में राजनीति का भी अधिक महत्त्व है, क्योंकि इसके समृद्ध होने से ही अन्य ललित कलाओं का जन्म, पालन-पोषण और अभिवर्द्धन होता है अन्यथा वे निर्जीव-सी बनी रहती हैं। जिस तरह आध्यात्मिक दृष्टि से मोक्ष, मनुष्य के लिए सर्वश्रेष्ठ उपादेय है उसी प्रकार सांसारिक दृष्टि से पुरुष के लिए राज्य भी उपादेय है। दोनों ही एक समान पुरुषार्थ साध्य हैं, पुरुषार्थ बिना एक भी प्राप्त नहीं होता। जो जाति उनको भूल जाती है वह अपना पतन किये बिना नहीं रहती और पुरुषार्थ विहीन बन जाती है। "संसार में जब तक रहो स्वाधीन बन कर रहो पशुवत पराधीन जीवन व्यतीत मत करो और जब संसार छोड़ो तब परम स्वाधीन मुक्त हो परमात्मा बनो" शिक्षित नर समाज के ये ही अन्तिम आदर्श होने चाहिये। शिक्षा वही है जिससे व्यक्ति अपने जीवन का अन्तर्ज्ञान नेता बने। इन्हीं सब बातों को सोच कर हमारे पूर्वज ऋषियों ने राजनीति को बहुत महत्त्व दिया है और उसे पुरुषार्थ के अर्थ पुरुषार्थ में निहित किया है। अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी यहाँ के विद्वानों ने बहुत चर्चा की थी और लोक हित के लिये इस विषय पर भी उन्होंने अनेकानेक ग्रंथ रचे थे।

चाणक्य के अर्थशास्त्र के पढ़ने से पता लगता है कि चाणक्य के समय में भारद्वाज विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधी, बाहुदन्तीपुत्र, उसना (शुक्र), मनु और बृहस्पति आदि आचार्यों के रचित राजनीति विषयक ग्रन्थ उपस्थित थे, क्योंकि आर्य चाणक्य ने उनके मतों का जगह-जगह उल्लेख किया है, ये सब ग्रंथ[1] गद्य में सूत्र पद्धति से लिखे हुए थे पर वे सब अब नहीं मिलते। स्वयं कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी लुप्त हो गया था, दण्डी आदि कवियों के ग्रंथों में उसका उल्लेख मात्र रह गया था परन्तु सौभाग्य से यह एक राजकीय पुस्तकालय में मिल गया और २५-३० वर्ष हुए तब उसे मैसूर यूनिवर्सिटी ने प्रकाशित किया है। इसको देख कर भूमण्डल के विद्वान् स्तम्भित रह गये; बड़ा ही अद्भुत ग्रन्थ है। यह राज्य शासन का ऐसा श्रेष्ठ ग्रन्थ निकला कि जिसकी पहले किसीने कल्पना भी न की थी। इसके अध्ययन से मन में यह सहज ही धारणा हो जाती है कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में भारत राजनीति में भी कितने उच्च शिखर पर

(१) देखो कौटिलीय अर्थशास्त्र का आमात्योत्पत्ति प्रकरण।

आरूढ़ था। इस शास्त्र के मर्मज्ञों ने इस शाखा का भी बड़ी सूक्ष्म रीति से विवेचन किया है। यह एक ही ग्रंथ चाणक्य को संसार के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञों का शिरोमणि बनाने को पर्य्याप्त है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनन्तर प्राचीन शासन विज्ञान के जो दो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें एक "कामन्दकीय नीतिसार" है और दूसरा प्रस्तुत "नीतिवाक्यामृत" जिसके रचयिता श्री सोमदेव सूरि हैं।

नीतिवाक्यामृत सचमुच ही संस्कृत साहित्य का अनर्घमणि है और जैन साहित्य का शृङ्गार। यह सूत्र पद्धति से गद्य में रचा गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र का परिमाण यद्यपि विशाल है और नीतिवाक्यामृत का अल्प, पर रचना सौन्दर्य में नीतिवाक्यामृत अधिक है। राजनीति सरीखे शुष्क विषय को भी इतनी मधुरता से विवेचन करता है कि काव्य न होते हुए भी उसमें सरस काव्य जैसा आनन्द आता है। उसके एक एक वाक्य को पढ़कर तबीयत फड़क उठती है। विशाल राजनीति समुद्र को अपने बोध रूपी मन्दराचल से मथन करके विबुधों को पान कराने के लिये यह सारभूत अमृत निकाला गया है जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है। कुछ लोगों का कहना है कि वह अमृत जड़ाशय सम्भूत है पर यह अजड़ाशयसम्भूत है। श्रीसोमदेव सूरि का संस्कृत भाषा पर जैसा लोकातिशायी अधिकार था वैसा ही रचना शैली पर भी, यह बात नीतिवाक्यामृत तथा यशस्तिलकचम्पू के अध्ययन से सहज ही में जानी जा सकती है। बहुत बड़ी बात को थोड़े शब्दों में सरसता से कहना इस कला में नीतिवाक्यामृत के कर्त्ता बहुत प्रवीण थे और इसलिए उन्होंने नीतिवाक्यामृत के अध्यायों का नाम ही समुद्देश रक्खा है। संस्कृत में समुद्देश[1] का अर्थ होता है:—किसी बात को संक्षेप में कहना। यद्यपि जिस प्रकार चाणक्य ने पूर्वाचार्यों के शास्त्रों के आधार से अपने अर्थशास्त्र[2] का निर्माण किया है उसी प्रकार श्री सोमदेवसूरि ने भी पूर्व राजनीति विशारदों के मतों का आश्रय लेकर यह नीतिवाक्यामृत रचा है, पर रचना शैली में दोनों ही मौलिक हैं और यही कलाकार की कला है, क्योंकि इन विषयों के शास्त्र ऐसे ही ढंग से लिखे जाते हैं। दोनों ही ग्रन्थों में किसी खास शास्त्र का आश्रय नहीं लिया गया है और दोनों ही ग्रन्थकारों ने अपने अपने अनुभव भी निबद्ध किये हैं। 'अर्थ अमित और आखर थोरे' यह उक्ति नीतिवाक्यामृत पर पूर्ण रीति से घटित होती है। प्राचीन समय में नीतिवाक्यामृत की प्रसिद्धि और प्रभाव दोनों पर्याप्त थे। दक्षिणापथ और उत्तरापथ दोनों जगत के विद्वानों ने समान रूप से अपने अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख किया है। संस्कृत काव्यों के प्रसिद्ध दाक्षिणात्य टीकाकार बहुश्रुत

१—समानवाक्यमुद्देशः—कौटि० अर्थशास्त्र। समुद्देशः संक्षेपाभिधानम्—वा० कामसूत्र टीका।

२—पृथिव्यालाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदम् अर्थशास्त्रं कृतम्। —कौटि० अर्थशास्त्र।

पण्डित कोलाचल मल्लिनाथ सूरि अपनी किरातार्जुनीय टीका में (तदुक्तं नीतिवाक्यामृते स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चारः खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाममलोल्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वञ्चेति चार गुणाः) ऐसा कह कर उसका दो जगह तथा माघ में एक जगह प्रमाण देते हैं। धार (मालवा) के प्रसिद्ध पण्डितराज आशाधर जी के हृदय में नीतिवाक्यामृत का बड़ा महत्व था। इस बात का ज्ञान हमें उनके प्रसिद्ध सागारधर्मामृत के पढ़ने से होता है, उसमें नीतिवाक्यामृत की छाया तथा भाव स्पष्ट झलकते हैं। कहीं कहीं तो नीतिवाक्यामृत के सूत्र[1] निहित शब्द भी भाव के साथ ज्यों के त्यों लिखे गये हैं। सम्यक्त्वकौमुदी तथा आराधनासार टीका में नीतिवाक्यामृत के अंश अपनाये गये हैं तथा विषय समर्थन में इनका प्रमाण दिया गया है। इन सब बातों का यही अर्थ होता है कि नीतिवाक्यामृत की प्रतिष्ठा संस्कृत के बड़े बड़े समर्थ विद्वान् भी करते थे। इसमें कारण उसकी असाधारण मोहकता ही है। "अतः यटाकास्तुतिश्चन्द्रिकायायदब्धिमप्युत्तटलीकरोति।" अर्थात् चन्द्रिका की इससे बढ़कर और क्या प्रशंसा की जाय कि वह अपने प्रभाव से गम्भीर जलधि को भी चपल कर देती है। नीतिवाक्यामृत और उसके कर्त्ता श्रीसोमदेव सूरि के विषय में अब तक अनेक विद्वानों के अनेक ऐतिहासिक लेख प्रकट हो चुके हैं उनमें और नई शंकाएँ उठ खड़ी हुई हैं उन सब का समाधान करना तथा ज्ञात हुई नई खोजों को प्रकाशित करना आवश्यक है। ऐसा समझ कर हम अपनी लिखी हुई इस ग्रंथ की प्रस्तावना के कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं। पाठक उनमें यथार्थता का निर्णय कर सकते हैं।

ग्रंथकर्त्ता का परिचय

नीतिवाक्यामृत के अध्ययन के पश्चात् पाठकगण जान सकेंगे कि आचार्य श्रीसोमदेव सूरि किस कोटि के महान् राजनीतिज्ञ थे। वे केवल राजनीतिज्ञ ही थे यह बात नहीं, उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और अध्ययन भी उनका विशाल था। उन्होंने यशस्तिलक में ऐसे ऐसे ग्रन्थों और कवियों का उल्लेख किया है जिनका कि अब नाम भी बड़ी कठिनाई से मिलता है। द्वि० आ० में उन्होंने रोमपाद आचार्य की 'गजविद्या' का, पारीक्षक के 'गणितशास्त्र' का, रैवत के 'अर्थशास्त्र' का, अरुण की 'रथचर्या' का, शुकनाश की 'रत्नपरीक्षा' का, और दत्तक के 'कामशास्त्र का' उल्लेख किया है। दत्तक के कामशास्त्र का नाम वात्सायन कृत कामसूत्र में भी है उन्होंने गुरु राजसुख, राजपुत्र, गौतम, नारद और याज्ञवल्क्य आदि आचार्यों की स्मृतियों का भी उल्लेख किया है जो अब असली रूप में नहीं

१—प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः। —नीतिवाक्यामृत।
नियमेनान्वहं किञ्चिद् यच्छतो वा तपस्यतः।
यान्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनाश्रितः॥ —सागारधर्मामृत।

मिलती हैं। इससे सिद्ध है कि वे अन्य विषयों के भी पारंगत विद्वान् थे, वे एक माने हुए कवीश्वर थे क्योंकि उन्हें 'कविकुलराज' की जैसी मान्यपदवी थी। काव्यकलापर उनका कितना बड़ा अधिकार था इस बात को पूर्णतया प्रमाणित करने के लिये उनका एक यशस्तिलकचम्पू काव्य ही पर्याप्त है। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में वह अद्वितीय है। क्या गद्य और क्या पद्य दोनों में शब्द और अर्थ की मनोहरता उसमें विद्यमान है। ग्रन्थ परिमाण भी उसका अन्य चम्पू काव्यों से बहुत बड़ा है इसलिए आचार्य ने उसे स्वयं "महाशास्त्र" लिखा है, उसमें एक नहीं अनेक गुण विस्मयोत्पादक हैं। पहिला वैचित्र्य तो यही है कि उसके लिखने का ढंग ही निराला है जो इतर काव्यों में नहीं पाया जाता। कवि स्वयं उसके इस गुण को जानते थे इसलिए उन्होंने लिखा है कि "असहायमनादर्श-रत्नं रत्नाकरादिव। मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम् ॥"—प्रथम आश्वास। रत्नाकर अर्थात् समुद्र से जिस प्रकार सज्जनों के कण्ठ की शोभा बढ़ाने वाले सच्चे असहाय (अकृत्रिम) और बेजोड़ (अनादर्श) रत्न पैदा होते हैं। उसी प्रकार मुझसे यह असहाय (मौलिक) और अनादर्श (अद्वितीय) काव्य, जो कि सज्जनों का हृदयग्राही विभूषण है, आविर्भूत हुआ है। इस श्लोक के "रत्नकगत्" पद से यह भी सूचित होता है कि जिस प्रकार समुद्र से एक नहीं अनेकों रत्न जन्म लेते हैं क्योंकि वह रत्नों का आकर है। उसी प्रकार मुझसे भी एक नहीं, अनेक ग्रंथ रत्नों ने इसी प्रकार जन्म ग्रहण किया है। "आदर्शग्रामरचना" कैसी होनी चाहिये ? अनियंत्रित राजाओं की चर्या कैसी होती है। मिथ्यात्व वश मनुष्य कैसे कैसे क्रूर कर्म करता है आदि ऐसी सैकड़ों बातों का उसमें बड़ा मोहक तथा सजीव वर्णन है। राजनीति के सूक्ष्म तत्त्वों का भी यथा स्थान उपयोग किया गया है। दूसरी खूबी उसमें यह है कि ऐसे ऐसे शब्द जो कि समय के फेर से काल-कवलित से हो चुके थे। विस्मृतगर्त में पड़जाने के कारण जनता में जिनका व्यवहार बंद हो गया था उनको फिर पुनर्जन्म देने का पुण्यकार्य श्रीसोमदेवसूरि ने उसमें किया है। बानगी के लिए कुछ शब्दों की तालिका हम यहां देते हैं :—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
(१) पिचुमन्द ...	निम्ब।	(८) खलति ...	बन समूह खलयान।
(२) लटह ...	ललित।	(९) आजकव ...	धनुष।
(३) विचित्रसिचयोल्लोच...	पंचरंगाचदेवा।	(१०) हतवृत्ति ...	वरखास्त।
(४) घृष्ठि ...	किरण।	(११) जामि ...	जामाता।
(५) अर्गला ...	हाथी का चमौटा।	(१२) नीराजना ...	फौजी सलामी।
(६) निकाच...	हाथी के पेट की वादेया।	(१३) तमङ्ग ...	महल।
(७) मुखपटाभोग...	कृत्रिम सिंह मुख।	(१४) कूर्प ...	मस्तक तिलक।

(१५) बाहा ... भुजा बाँह । (२६) विकिर ... कबूतर ।
(१६) शिष्ट ... राजपुत्रों का शिक्षक । (२७) जुहराग ... घोड़ा, बांका ।
(१७) निर्ग .. देश । (२८) रल्लिका ... दुशाला ।
(१८) परिहार ... छूट, माफी । (२९) चाण्डातिका .. गुमची ।
(१९) किपिरी ... मणि का ऊपरी भाग । (३०) पेटक ... पेट ।
(२०) क्रीड़ाकुरकील...क्रीड़ा पर्वत । (३१) विस्तृत ... मैदान ।
(२१) वीरपरिकरविधि...फौजी देश । (३२) निरंकुराठ...अन्यायी गुण्डा ।
(२२) गिरिकलिला...गेन्द का खेल । (३३) चिल्ली ... भौंह ।
(२३) वाहिरिका ... हाथी का खूंटा । (३४) करण ... कौन्सिल ।
(२४) करटघोटक ... दुष्ट घोड़ा । (३५) कृत्य ... राजविद्रोही ।
(२५) कोण ... गेन्द खेलने का बल्ला । (३६) अनुग्रह ... तक़ावी ।

आचार्य लिखते हैं—

"अरालकालव्यालेन ये लीढाः सांप्रतं तु ते ।
शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥

पंचम आ० ।

कालरूपी कुटिल सर्प ने जिन शब्दों को निगल लिया था अर्थात विष मूर्छित थे उन शब्दों को अब मैं श्री सोमदेवसूरि उठाता हूं (जीवित करता हूं) तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । इस श्लोक में "सोमदेव" शब्द श्लिष्ट है, सोमदेव का दूसरा अर्थ चंद्रदेव होता है । चन्द्रमा अपनी अमृतमयी किरणों से विष विकार को दूर करता ही है पर कौन सा चन्द्रमा ? कि जो 'श्री' अर्थात लक्ष्मी से सम्पन्न हो । पाठक देखेंगे कि कविने किस चतुराई से यहां श्री शब्द का प्रयोग किया है । सचमुच ही यशस्तिलकचम्पू में ऐसे हजारों शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका अस्तित्व संस्कृत के बड़े बड़े कोशों में भी नहीं है । यशस्तिलकचम्पू के यशस्वी टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि के हम लोग निस्सन्देह कृतज्ञ हैं जिनके अनुग्रह से हम इन शब्दों का यथार्थ अर्थ जानने में समर्थ हुए हैं अन्यथा यशस्तिलक के ज्ञान से हमलोग वंचित ही रहते, बड़ी ही अच्छी टीका है । बनारस के प्रसिद्ध पण्डित और हमारे साहित्यिक गुरु श्री देवीप्रसादजी कवि (श्रीदुःखभञ्जन कवीन्द्र सुनुः) और हमारे द्वितीय गुरुदेव श्रीगोनोड़ झा जी यशस्तिलक के विषय में कहा करते थे कि ऐसा ग्रंथ बिना देवता की सहायता के नहीं लिखा जा सकता । श्रीमाननीय पं० नाथूराम-जी प्रेमी का यह लिखना सोलह आना सच है कि जिस प्रकार माघ[1] के नवसर्ग पढ़ जाने

१—नव सर्गे गते माघे नव शब्दो न विद्यते ।
अशेषे तिलकेऽधीते नव शब्दो न विद्यते ॥

पर कोई नवीन साहित्यिक शब्द शेष नहीं रहता उसी प्रकार इस यशस्तिलक के पूर्ण पढ़ जाने पर कोई नवीन शब्द नहीं बचता। यशस्तिलक में प्रयुक्त दुर्लभ शब्द बड़े महत्व के हैं उनसे हमारे सामाजिक तथा बौद्धिक इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। तीसरी विलक्षणता सूक्तियों की है यशस्तिलक यथार्थ ही सुभाषित रत्नों का भण्डार है उसमें ऐसी-ऐसी अनेक मनोहर उक्तियां हैं कि जिनको सुन कर तबीयत फड़क उठती है कवि को इस विषय का एक प्रकार से गर्व था। वे कहते हैं :—

"कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृते यदि।
श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः॥"

यदि आपका मन कर्ण रूपी अञ्जलिपुट से सुभाषित रूपी अमृत रस का पान करना चाहता है तो श्रीसोमदेवसूरि की युक्तियुक्त इन नवीन काव्योक्तियों को सुनिये। उनसे आप की यथेष्ट इच्छापूर्ति होगी। कवि की यह गर्वोक्ति नहीं, यथार्थोक्ति है; वे कहते हैं कि—

"गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा, दोषान् गुणीकर्तुमशेशते वा।
श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हाः सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः॥"

जो दोष बुद्धि से इतने अन्धे हैं कि गुणों को देखते ही नहीं हैं अथवा जो दोषों को भी गुण रूप में दिखाने की रुचि रखते हैं ऐसे लोग कवि वचन सुधा के पान के योग्य नहीं, क्योंकि सरस्वती द्रोहियों को क्या अधिकार है कि वे इस सारस्वत रस का पान करें और इस पंक्ति में बैठें? देखिये खलों को कैसी फटकार बताने वाली खरी उक्ति है। बड़ों के प्रति नम्रता और अपने प्रति लघुता देखिये किस प्रकार नीचे लिखे श्लोक में प्रकट की है :—

सर्वज्ञकल्पैः कविभिः पुरातनैरवीक्षितं वस्तु किमस्तिसम्प्रति।
ऐदंयुगीनस्तु कुशाग्रधीरपि प्रवक्ति यत्तत्सदृशं स विस्मयः॥

प्राचीन कवि पाण्डित्य में कितने बढ़े चढ़े थे कि सर्वज्ञ न होने पर भी वे सर्वज्ञ तुल्य ही थे। उन सर्वदर्शी महात्माओं ने जिसे अपने ज्ञानचक्षु से न देखा हो ऐसी आज चीज है ही कौन सी? फिर आजकल का कोई व्यक्ति अपनी कुशाग्र बुद्धि से यदि वैसी ही कोई बात कहता है तो यही एक बड़े अचम्भे की बात है। मनुष्य को आत्मपुरुषार्थ की ओर झुकाने वाली देखिये यह कैसी सुन्दर उक्ति है :—

येषां बाहुबलं नास्ति, नास्ति येषां मनोबलम्।
तेषां चन्द्रबलं देव किं कुर्यादम्बरस्थितम्॥

जिनको बाहुबल प्राप्त नहीं है और न जिनकी कोई हिम्मत है ऐसे लोगों के लिए राजन्? ! आकाश में बैठा हुआ चन्द्रबल क्या करेगा? क्योंकि वह तो सहायता के लिये आकाश

से कभी नीचे उतरता ही नहीं। ऐसी ऐसी सुन्दर युक्तियों से ग्रन्थ का सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है। इस काव्य के नीचे लिखे श्लोक के पढ़ने से हमें यह भी ज्ञात होता है कि वे प्रखर नैयायिक भी थे :—

आजन्म कृदभ्यासाच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिवममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः॥

मेरी बुद्धिरूपी कामधेनु को जन्म से ही न्याय रूपी शुष्क घास खाने का अभ्यास है फिर भी उससे यह काव्य रूपी पय उत्पन्न हो रहा है इसमें केवल पुण्यात्माओं की पुण्य राशि ही कारण है। इस श्लोक से तीन बातों का पता लगता है कि एक तो यशस्तिलक जैसे अपूर्व काव्य की रचना से स्वयं कवि को भी एक बड़ा विस्मय था। दूसरे वे अपनी प्रतिभा को साधारण गौ नहीं, किन्तु सुरभि अर्थात् सर्व मनोरथ पूरिका कामधेनु मानते थे इसमें कारण उनका सर्वमुखी पाण्डित्य ही था। तीसरे यह है कि उन्होंने प्रारम्भ से ही न्याय विद्या का अभ्यास किया था और उनके जीवन का अधिक भाग इसी काम में गया था जिसके फलस्वरूप उन्हें 'स्याद्वादाचलसिंह' 'वादीभपंचानन' 'तार्किकचक्रवर्ती' और 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' ये चार महा पदवियां प्राप्त थीं। 'षण्णवती प्रकरण' और 'युक्ति-चिन्तामणि' जैसे न्याय के ग्रंथों के प्रणयन में भी इसी कारण वे समर्थ हुए। न्याय विद्या का इस तरह अधिक अभ्यास करने का एक और महान कारण था और वह यह कि आचार्य श्रीसोमदेवसूरि दिगम्बर सम्प्रदाय के जिस देवसंघ के आचार्य थे वह देवसंघ भारतीय तार्किकचक्रवर्ती तथा न्याय प्रस्थापक अकलंकदेव के द्वारा स्थापित था। अकलंक-देव की एक न्याय के कारण ही भारत भर में यशश्चन्द्रिका छा रही थी। क्या राजदरबार और क्या प्रजा सभी में उनका बड़ा प्रभाव था। देवसंघ के आदि स्थापक इन महापुरुष का स्वर्गवास हुए प्रायः एक शताब्दि ही बीती थी। काल भी वह दार्शनिक था। प्रत्येक संप्रदायपति को खण्डन मण्डन के लिये न्याय का जानना आवश्यक था। श्रीसोमदेव के गुरु श्रीनेमिदेव स्वयं एक बड़े नैयायिक थे। उन्होंने 'वाद' में ९५ महावादियों को जीता था। ये ही सब कारण थे कि जिससे सोमदेवसूरि का अधिक समय न्यायविद्या के अभ्यास में गया। 'युक्ति चिन्तामणि' 'महेन्द्रमातलि संजल्प' और 'षण्णवति प्रकरण' अब अप्राप्य हैं। यह एक खेद की बात है। श्री सोमदेवसूरि के गुरु नेमिदेव के समान उनके दादा गुरु यशोदेवजी तथा गुरु भाई महेन्द्रदेवजी के विषय में इस सम्बन्ध के सिवाय अधिक हम कुछ नहीं जानते। श्री सोमदेवसूरि धर्माचार्य के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं उन्होंने धार्मिक आचार तथा समाज व्यवस्था के बड़े ही अनुभवपूर्ण विचार लिखे हैं। धार के प्रतिष्ठित महा विद्वान् आशाधरजी ने अपने सागारधर्मामृत नामक आचार शास्त्र को लिखते समय आचार्य के विचारों का अच्छा अनुधावन किया है। माननीय पं० नाथूरामजी

प्रेमीजी के निम्न लिखित इस निष्कर्ष से मैं पूर्णतया सहमत हूँ कि "यद्यपि अभी तक श्रीसोम-देवसूरि का कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। परन्तु यशस्तिलक के अन्तिम दो आश्वास जिनमें उपासकाध्ययन या श्रावकों के आचार का निरूपण किया गया है, इस बात के साक्षी हैं कि वे धर्म के कैसे मर्मज्ञ विद्वान् थे। स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरंड के बाद श्रावकों का आचारशास्त्र ऐसी उत्तमता, स्वाधीनता और मार्मिकता के साथ इतने विस्तृत रूप में आजतक किसी भी विद्वान् की कलम से नहीं लिखा गया है।"

आचार्य के समस्त धर्मवाक्यों का अध्ययन करने पर मनुष्य इस परिणाम पर पहुँचता है कि धार्मिक शिक्षा अन्धविश्वास बनाने वाली न हो, किन्तु ऐसी हो जिससे मनुष्य सदा और सर्वत्र सभ्य तथा सर्वप्रिय गिना जा सके, अकारण ही वैरविरोध का वातावरण खड़ा न किया जाय। कौन सब बातों में सब से मिलता है, प्रत्येक जाति और प्रत्येक कुल के व्यवहार जुदे-जुदे हैं। ये सब लौकिक बातें हैं, न ये धर्ममय हैं और न अधर्ममय। यदि लोकाचार प्रतिपादक श्रुति है या अन्य कोई शास्त्र है तो उसको उस विषय में यदि हम प्रमाण मानें तो इसमें हमारी क्या हानि ? वे लिखते हैं कि :—"सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।" यश० आ० ८। जैनों को वे सब लोकाचार मान्य हैं जिनसे आत्मा अपने स्वरूप को न भूले। और जो सदाचार को दूषित नहीं करते उनके प्रतिपादक ग्रन्थ भी हमें इसी तरह मान्य हैं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र के कर्म लिख कर कहते हैं कि दयालुता, सत्यवादिता, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और आकांक्षाओं का नियंत्रण, ये मनुष्य मात्र के धर्म हैं। इनके बिना कोई भी मनुष्य, मनुष्य नहीं बन सकता। मानव सभ्यता इनके आधार से ही जीवित रह सकती है। 'आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः।' (नीति० त्रयी० समु०)। चाणक्य की तरह आपने अहिंसा को सबश्रेष्ठ धर्म माना है (सर्वसत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम्) नीति० धर्मसमु०। इसलिये शिकार तथा अन्य अहिंसा विघातक खेलों के खेलने का बड़ा कड़ा निषेध किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य चाहे अन्य किसी व्रत को न पाले पर उसका मूल दया व्रत ही उसको स्वर्गदान देने में समर्थ है। "परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते।" नीति० धर्म समु०। 'दयाधर्मस्य जन्मभूमिः' चाणक्य सूत्र। अहिंसा का अर्थ है हिंसा के ऊपर नियंत्रण, क्योंकि सर्वथा अहिंसा से मनुष्य अपनी हथेली पर रक्खी हुई चीज की भी रक्षा नहीं कर सकता। सर्वथा अहिंसा गृहस्थ के लिए अव्यवहार्य है क्योंकि यति भी उसे सर्वथा निर्दोष रूप से नहीं पाल सकते। इसीलिये गृहस्थ आत्मरक्षा के लिये और देशरक्षा के लिये आततायियों के विरुद्ध युद्ध कर सकता है उसका ऐसा करना धर्म का ही अङ्ग है, क्योंकि ऐसी हिंसा अहिंसा ही है। हाँ यदि हथियार दीन-हीन और सदाशय पुरुषों के विरुद्ध उठाया जावेगा तो पापमय बन जाता है।

धर्म में वे सब उत्तम आचार-विचार शामिल हैं जिससे मनुष्य आत्मिक तथा लौकिक उन्नति में आगे बढ़े—(यतोऽभ्युदयनिःश्रेयशसिद्धिः सधर्मः) श्रीसोमदेवसूरि उदार विचार के आचार्य थे उनकी स्पष्ट सम्मति है कि ज्ञान के सब साधन सर्वसाधारण के लिए उन्मुक्त-द्वार हों। उन पर किसी प्रतिबन्ध की मुद्रा मुद्रित न हो। व्याकरण, न्याय, काव्यादिक कलायें, छन्दशास्त्र; जैन, बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक और चार्वाक आदि के दर्शन, आगम; ये सब तीर्थ समान मानवशुद्धि के कारण हैं। ज्ञान एक महातीर्थ है जिसका अवगाहन कर पतित से पतित पुरुष महापुरुष बनता है। इसमें सम्प्रदाय, जाति और धर्म का विचार बड़ा अहितकर है क्योंकि मनुष्य उनमें पड़ कर इनके लाभ से वञ्चित रह जायगा :—"लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकारः समयागमाः। सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थ-मार्ग इव स्मृताः।"

शूद्रों के विषय में भी वे लिखते हैं कि यदि शूद्र भी स्वच्छता से रहता हो और उसके आचार-विचार उज्ज्वल हों तो वह भी द्विजों के समान, देव, द्विज और तपस्वियों की सेवा का अधिकारी है। आचार्य के इस विचार से सहमत होकर पण्डितप्रवर आशाधर जी भी अपने सागारधर्मामृत में लिखते हैं कि:—

"शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्धयास्ति तादृशः।" अर्थात् शूद्र भी शरीर, आचार और घर के फर्नीचर की शुद्धि के कारण वैसा ही सद्गृहस्थ है। इस देश के यद्यपि प्राचीन द्विजों में विधवा विवाह नहीं होता था पर कुछ शूद्रों में तब भी यह होता था। शूद्रों के दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करने के लिये बड़े चातुर्य से उन्होंने दोनों प्रकार की व्यवस्था दी है। वे कहते हैं कि जिनमें एक बार ही स्त्री का विवाह होता है वे "सतशूद्र" हैं। दूसरे पक्ष को सन्तुष्ट करने के लिए वे लिखते हैं कि कुछ स्थितियों में स्मृतिकार अर्थात् समाज व्यवस्थापक आचार्य विधवा विवाह को भी योग्य बतलाते हैं। आचार्य श्री सोमदेवसूरि की निश्चित नीति थी कि समाज में सब को ही यथायोग्य स्थान दिया जावे। स्थितिवश देश, कुल और व्यक्ति में आचार भेद होता ही है। उसके कारण क्षोभ पैदा करके फूट न डाली जाय। जिससे समाज और राष्ट्रीय गढ़ कमजोर न बने। वे राष्ट्रीयता के भी बहुत पक्षपाती थे उन्होंने नीतिवाक्यामृत में स्पष्टतया लिखा है कि राजा जहाँ तक बने वहाँ तक स्वदेशज योग्य व्यक्ति को ही राज्य के उच्च पद दे, क्योंकि सर्व पक्षपातों में स्वदेश पक्षपात मनुष्य का बहुत बड़ा होता है। "सर्वपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान्।" विदेशी व्यक्ति समय पर धोका दे सकता है क्योंकि अवसर ईमान का बड़ा भयंकर शत्रु है, पर यह नियम एकान्ततः न पालना चाहिए। कभी कभी विदेशी भी बड़ा भक्त होता है। पवनसुत हनुमान जी भारत में पैदा न हुए थे। तिब्बत के रहने वाले थे और रावण के समान ही विद्याधर थे न कि रामचन्द्र जी की तरह भूमिगोचरी। फिर भी अयोध्याधिपति बलभद्र रामचन्द्रजी ने उनको योग्य जान कर अपनी जहाजी सेना का "वानर" अर्थात् एडमिरल

बनाया था। यह पद पाकर हनुमानजी ने रामचन्द्रजी पर सदैव भक्ति ही बताई, भूलकर भी बगावत न की। इसलिये आचार्य साथ में यह भी कहते हैं कि असल में बात स्वदेशी विदेशी पर निर्भर नहीं है, किन्तु हितकारी और अहितकारी पर है। पराया भी यदि हितकारी है तो अपना है और यदि अहितकारी है तो बन्धु भी वैरी ही है। अपने ही शरीर में जन्मी हुई व्याधि जीव को दुःख देती है और वन में पैदा हुई वनौषधि उसको सुख देती है। इन सब बातों से पाठक समझ सकते हैं कि आचार्य श्रीसोमदेवसूरि में कैसी बढ़ी चढ़ी उदारविचारशीलता थी। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में तीन श्लोकों के साथ यह श्लोक लिखा मिलता है :—"सकलसमयतर्के नाकलंकोऽसि वादी न भवति समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।" अर्थात् हे वादी, न तो तू समस्त शास्त्रों पर तर्क करने के लिए अकलंकदेव तुल्य है न जैन सिद्धान्त के कहने के लिये हंससिद्धान्तदेव है और न व्याकरण में पूज्यपाद है, फिर इस समय सोमदेव के साथ किस बल-बूते पर बात करने चला है। इस श्लोक के उद्धरण से स्पष्ट है कि श्रीसोमदेवसूरि अकलंकदेव के समान ही नैयायिक थे। हंससिद्धान्तदेव के समान ही जैनागम के ज्ञाता थे और जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद के समान वैयाकरण भी। इससे बढ़कर पाण्डित्य और क्या होगा। इतनी-इतनी विद्याओं के पारगामी विद्वान् थे। खोज करने पर पता लगता है कि इस विद्वत्ता का कारण उनका विशाल अध्ययन ही था, वे बड़ेही विद्यारसिक थे। नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक के पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनके समय में जितना साहित्य न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति, दर्शन आदि सम्बन्धी उपलब्ध था उस सब से उनका परिचय था। केवल जैन ही नहीं, जैनेतर साहित्य के भी वे अच्छे मर्मज्ञ थे। यशस्तिलक के चौथे आश्वास में (पृ० ११३) उन्होंने लिखा है कि—उर्व, भारवी[1], भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, बोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायन, कुमार, माघ, और राजेश्वर। इन महाकवियों के काव्यों में नग्न क्षपणक या दिगम्बर साधुओं का उल्लेख क्यों आता है? उनकी इतनी अधिक प्रसिद्धि क्यों है? इससे मालूम होता है कि वे पूर्वोक्त कवियों के काव्यों से अवश्य परिचित होंगे। प्रथम आश्वास के पृ० ९० में उन्होंने इन्द्र, जैनेन्द्र और पाणिनि के व्याकरणों का जिक्र किया है। पूज्यपाद (जैनेन्द्र के कर्त्ता) और पाणिनि का उल्लेख और भी एक दो जगह हुआ है। गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज आदि नीतिशास्त्र प्रणेताओं का भी वे कई जगह स्मरण करते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा कामसूत्र से तो वे अच्छी तरह परिचित थे ही। माननीय प्रेमी जी के उपर्युक्त कथन का मैं समर्थन करता हूं। यशस्तिलक में एक जगह दत्त के कामसूत्र का भी उल्लेख है। इस विशाल अध्ययन के बल से ही वे बड़े राज-

१—भारवी के इस श्लोक की समस्यापूर्ति इस प्रकार है—नान्यत्र दीक्षामहत्वान्मुनीनां संकीर्तनं चरित्रतयस्य युक्तम्। तथापि तत्कर्तुमहं यतिष्ये भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः (आ० १ पृ० ५६६).

नीतिज्ञ, महाकवि, प्रखर नैयायिक, दिग्गज वैयाकरण, नामांकितधर्माचार्य और गद्य-पद्य विद्याधर चक्रवर्ती बनने में समर्थ हुए थे। बहुश्रुत होने के कारण ही विद्वान् उनका लोहा मानते थे। यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृत के लिखते समय उनकी वय आधे से ऊपर ढल चुकी थी क्योंकि :—(आजन्मकृतभ्यासाच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः) ऐसाही ध्वनित होता है। पाण्डित्य भी निखर आया था। ये ही सब कारण थे जिससे विद्वानों के ऊपर उनका बड़ा गहरा प्रभाव था; जिधर देखो उधर उनके प्रशंसक ही दिखते थे। ऐसी स्थिति में ही उन्होंने यह उक्ति लिखी है :—लोकवित्वे कवित्वे वा, यदि चातुर्यचञ्चवः। सोमदेवकवेः सूक्तिः समभ्यसन्तु साधवः॥ तृतीय आ०। सज्जनगण यदि लोकानुभव और कवित्वकला की चतुराई में चतुर होना चाहते हैं तो वे सोमदेव कवि की सूक्तियों का अभ्यास करें। कवि की यह आत्म प्रशंसा नहीं किन्तु लोक चतुराई और कविता पर प्रबल आत्मविश्वास ही है। आचार्य ने नीचे लिखे श्लोक में अपने स्वभाव का चित्रण स्वयं इस प्रकार किया है :—"अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्य महानादरः। सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि॥ यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढता प्रौढि प्रगाढाग्रहस्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते।" सारांश यह है कि मैं छोटों के साथ अनुग्रह, बराबरी वालों के साथ सुजनता और बड़ों के साथ महान् आदर का बर्ताव करता हूँ। इस विषय में मेरा चरित्र बहुत ही उदार है परन्तु जो मुझे ऐंठ दिखाता है उसके लिए गर्व रूपी पर्वत को विध्वंस करने वाले मेरे वज्र वचन काल स्वरूप हो जाते हैं। प्रकृति के इस स्वयं चित्रण को देखकर अनुमान होता है कि आचार्य सोमदेव का मुनि होने के पहिले अकलंकदेव की तरह क्षत्री वर्ण होना चाहिये। यों तो उन्होंने अपने किसी भी वर्ण का पक्षपात नहीं किया है। सभी वर्णों के गुण दोषों की चर्चा समान रूप से की है। वे बड़े निर्भीक लेखक थे, जिस पद से जो बात कहनी चाहिए वही बात उन्होंने कही; उनका सिद्धान्त था कि "यथार्थ बात कहने में ही विद्वानों की भलाई है यदि श्रोता राजा, गुण विद्वेषी न हो; (यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि राजा न गुणविद्वेषी) उनका हौसला भी बहुत बढ़ा चढ़ा था। इसमें कारण यह था कि उनका किसी बहुत बड़े प्रतिष्ठित तथा समृद्ध कुल में जन्म हुआ था। दूसरा कारण उनकी सर्वोच्च विद्या थी और वह भी ऐसी कि उनके सदृश सर्वतन्त्र स्वतंत्र विद्वान् शायद ही समग्र भारत में उस समय कोई दूसरा हो। तीसरा कारण राजदरबार की मान्यता थी और वह भी कौन सा दरबार ? सार्वभौम सम्राट् का दरबार। उस समय कन्नौज के अधीश्वर महेन्द्रदेव सारे उत्तर भारत के सार्वभौम सम्राट् थे। उनके समान प्रतापी सम्राट् भारत में दूसरा न था। इनके दरबार में हमारे आचार्य देव की बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे आचार्य की विद्वत्ता को बहुत मान देते थे और इसी कारण आचार्य का यश दिग्दिगन्त व्यापी हो गया था। महेन्द्रदेव का उत्तराधिकारी महीपाल भी इनका बहुत आदर करता था। इन बातों के प्रमाण हम आगे लिखेंगे।

नीतिवाक्यामृत के आधार

कौटिल्य अर्थशास्त्र की भूमिका में श्रीयुत श्यामशास्त्री ने लिखा है कि "यच्चयशोधरमहाराजसमकालेन सोमदेवसूरिणा नीतिवाक्यामृतं नाम नीतिशास्त्रं विरचितं तदपि कामन्दकीयमिव कौटिलीयार्थशास्त्रादेव संक्षिप्यसंगृहीतमिति तद्ग्रंथपदवाक्यशैलीपरीक्षाया निःसंशयं ज्ञायते।" अर्थात् यशोधर महाराज के समकालीन श्रीसोमदेवसूरि ने जो नीतिवाक्यामृत नाम का ग्रंथ लिखा है वह अर्थशास्त्र को संक्षिप्त करके ही रचा गया है ऐसा उनके शब्दों से ज्ञात होता है।" पं० प्रेमी जी की तरह मैं भी शास्त्री जी के उक्त निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ। प्रथम तो यही ठीक नहीं है कि श्रीसोमदेवसूरि यशोधर महाराज के समकालीन थे। यशोधर जैनों के पौराणिक पुरुष हैं। दूसरे कौटिलीय अर्थशास्त्र जिस प्रकार पूर्वाचार्यों के मतों का अधिकतर संग्रह करके लिखा गया है उसी प्रकार नीतिवाक्यामृत भी अर्थशास्त्र के साथ पूर्वाचार्यों के मतों के आधार पर लिखा गया है। केवल अर्थशास्त्र के आधार पर ही नहीं। जिस प्रकार आर्य चाणक्य ने 'इत्याचार्या' कह कर "इति कौटिल्या" के द्वारा अपना स्वतंत्र मत बतलाया है। उसी प्रकार सोमदेवसूरि ने भी अपने स्वतंत्र अनुभव नीतिवाक्यामृत में निबद्ध किये हैं। अतः कौटिलीय अर्थशास्त्र की तरह नीतिवाक्यामृत भी मौलिक ही है, किसी का संक्षिप्त सार नहीं।

— क्रमशः

भावदेव सूरि का भक्त लाहौर का सुलतान

[लेखक—श्रीयुत बा० मूलराज जैन, लाहौर]

यद्यपि जैन साधुओं का जीवन परम निवृत्तिमय होता है और वे सांसारिक कामों में दखल नहीं देते, तथापि धर्म की प्रभावना और लोक-कल्याण के लिये वे राज दरबारों में भी जाने से संकोच नहीं करते। अपने चारित्र को पूर्ण शुद्धि से पालते हुए वे राजा और बादशाहों को अपने चारित्र एवं बुद्धि-बल से प्रभावित करके उनको प्रजा के हित का उपदेश देते हैं। अन्याय को दूर करके न्याय की स्थापना करवाते हैं।[१] दक्षिण में दिगम्बर मुनियों के प्रभाव से कई राजवंशों की प्रतिष्ठा हुई।[२] उत्तर में श्वेताम्बर साधुओं ने बहुत-सी राज-सभाओं को सुशोभित किया। हेमचन्द्र सूरि और महाराज कुमारपाल का गुरु-शिष्य का संबंध प्रसिद्ध है।[३] इस्लाम जैसे कट्टर धर्म में जन्म लेकर और भारत का सम्राट होकर भी यदि अकबर जैन साधुओं के उपदेश से प्रभावित हो गया तो यह बात जैन धर्म के उत्कर्ष और साधुओं के बुद्धिबल की ही परिचायक है।[४]

कभी २ विदेशी और अन्य धर्मी राजा भी जैन साधुओं के भक्त बन जाते थे जैसा कि कालकाचार्य कथा से विदित होता है। कालकाचार्य की साध्वी बहिन सरस्वती को उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल ने अपने अन्तःपुर में डाल लिया था और कालकाचार्य के समझाने तथा मन्त्री मंडल की प्रार्थना पर भी वह उसे नहीं छोड़ता था। तब कालक पारसकूल में गया

---

१ सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥

२ देखिये—S. R. Sharma: *Jainism and Karnātak Culture.* Dharwar, 1940. Historical survey, p. 15

३ हेमचन्द्र और कुमारपाल संबंधी विस्तृत साहित्य मिलता है। जैसे—G. Buhler's *Life of Hemacandra* (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। प्रबन्ध चिन्तामणि, कुमारपाल प्रतिबोध आदि।

४ (१) V. A. Smith: *Akbar's Jaina Teachers* in Bhandarkar Commemoration Volume.

(२) विद्याविजय कृत सूरीश्वर अने सम्राट् भावनगर, सं० १९७६ (गुजराती)

(३) सिद्धिचन्द्र विरचित भानुचन्द्र चरित्र (सिंघी जैन ग्रन्थ माला)

और वहां के शाहि-सामंतों को अपने साथ लाकर गर्दभिल्ल को पराजित कराया और सरस्वती को छुड़वा कर उसे पुनः दीक्षा दी।[५]

हाल ही में हमें "भावदेव सूरि रास" नामक कविता के अंतिम दो पत्र (नं० ८-९) मिले हैं[६] जिन से ज्ञात होता है कि भावदेव सूरि ने अपने गुणों से लाहौर के शासक सुलतान (?) को अपना भक्त बना लिया था और वह सूरि की सेवा करने को तैयार रहता था।

एकबार भटनेर (रियासत बीकानेर) के हाकिम खेतसी[७] ने भावदेव[८] के शिष्य-श्रावकों को कैद कर लिया और उनकी पोषाल (उपाश्रय) को गिरवा दिया। भावदेव ने लाहौर के सुलतान[९] को यह समाचार सुनाया। सुलतान ने झट भटनेर पर चढ़ाई कर दी और किले को घेर लिया। खेतसी भी अंदर से मुक़ाबिला करता रहा। कुछ दिन बाद सुलतान की सेना के पास पानी समाप्त हो गया। सेना घबड़ाई। सुलतान ने सूरि से ज़िक्र किया।

---

५ (१) W. Norman Brown : *The Story of Kālaka*, Washington, 1933. मूल्य रु० २५)

(२) कालकाचार्य-कथासंग्रह जिसमें ब्राउन की पुस्तक में रोमन अक्षरों में छपी मूल कथाओं की देवनागरी प्रतिलिपि तथा डा० बनारसीदास कृत हिंदी अनुवाद और विस्तृत भूमिका है। लाहौर १९४५ मूल्य ३)

६ ये पत्र जीरा (जिला फीरोजपुर, पंजाब) के यतियों के भंडार के हैं। हमको ला० बाबूराम वकील के सौजन्य से प्राप्त हुए। भावदेवसूरि रास गुजराती मिश्रित हिंदी में रचा हुआ है। इसके २६ मात्रा (९ + ७ + १०, अंतिम लघु) वाले २२९ पद्य हैं। छंद का नाम "छंदः प्रभाकर" के अनुसार कामरूप या बैताल है। इन पत्रों पर १८७—२२९ तक पद्य हैं। इसमें ज़र्द, अंब = आब आदि फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसकी रचना सं० १७८४ (भूम रिप सिद्ध वेद) में भटनेर में हुई (पद्य नं० २२८) यह प्रति जीरे मध्ये सं० १९०९ में गोरधनदास ने लिखी।

७ खेतसी के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

८ भावदेव नाम के एक आचार्य तो वे थे जिन्होंने ९९ प्राकृत पद्यों में कालकाचार्य कथानक लिखा। कदाचित् ये ही इस रास के भी नायक हों। भावदेव का शिष्य शीलदेव हुआ जिसने अकबर को उपदेश देकर समूनर (?) में जिनमंदिर के स्थान में बनी हुई मस्जिद का फिर जिनमंदिर बनवाया (पद्य २१६)। तत्पट्टे वीरमदेव (पद्य २१८)। तत्पट्टे हेमहर्ष (पद्य २२०)। तत्पट्टे शुभकरण, गोत्र श्रीमाल, माता रूपांदेवी (पद्य२२२)। तत् शिष्य ने रचना करी (२२६) छः पीढ़ियों के १५० वर्ष मानकर भावदेव का समय सं० १६३४ के लगभग आ पड़ता है। इससे शीलदेव भी अकबर का समकालीन हो सकता है।

९ लाहौर का सुलतान कौन था, इसका निर्णय नहीं हो सका। लाहौर का सूबेदार होगा। रास में लाहौर का नाम लाहानूर दिया है सो इतिहास में प्रसिद्ध है।

सूरि ने किसी मंत्र का जाप किया जिसके फलस्वरूप घोर वर्षा हुई और पानी की कमी न रही। लेकिन किला फिर भी सर न हुआ। अब सूरि मंत्र पढ़ता हुआ किले के चारों तरफ घूमा और एक बुरज टूट गया और सुलतान की सेना किले में दाखिल हुई। सुलतान ने हुकम दिया कि खेतसी को मेरे हाथी की टांग से बांध दो। अब लगा खेतसी सूरि की मिन्नत करने कि "हे महाराज! मुझे क्षमा कीजिये। मैं जीवन पर्यंत आपका सेवक रहूंगा। आपके लिये नई पोसाल बनवा दूंगा।"

तब सूरि ने सुलतान से कहा कि "खेतसी मान गया है। उसने मेरे शिष्य छोड़ दिये हैं और नई पोसाल बनवाने की प्रतिज्ञा की है। अब अपना अभीष्ट सिद्ध हो गया।"

इस पर सुलतान ने खेतसी से दण्ड का रुपया लेकर उसे छोड़ दिया और सूरि को नमस्कार करके लाहौर की ओर चल पड़ा। तब खेतसी ने दलपतराय को आज्ञा दी कि मेरे खर्चे पर पोसाल नये सिरे से बनवा दी जाय इस प्रकार लाहौर के सुलतान की सहायता से भावदेव सूरि ने दुष्ट खेतसी को शिक्षा दी।

विश्व इतिहास और भूगोल के लिये जैन साहित्य की महत्ता ।

(३)

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.]

[क्रमागत]

गताङ्क में बारह प्रमुख वंशों का उल्लेख किया जा चुका है। उनमें से अरिहंत वंश और चक्रवर्ती एवं नारायण-प्रतिनारायण के वंशों के विषय में भी लिखा जा चुका है; जिससे स्पष्ट है कि तीर्थङ्करों के अस्तित्व और संख्या का प्रभाव विश्व पर पड़ा है। यहाँ अब विद्याधर वंश पर प्रकाश डाला जाता है।

विद्याधर राजवंश की उत्पत्ति—

विद्याधर राजवंश की गणना प्रमुख राजकुलों में की गई है। श्रीरविषेणाचार्य ने अपने 'पद्मपुराण' में चार महावंशों में अत्यन्त मनोहर विद्याधर वंश को गिनाया है। उनके मतानुसार शेष तीन महावंश (१) इक्ष्वाकु, (२) ऋषिवंश और (३) हरिवंश हैं[१]! मालूम होता है कि उन्होंने अन्य आठ वंशों का समावेश इनमें ही कर लिया है। 'ऋषिवंश' में (१) अरिहंतों, (२) चारणश्रमणों, (३) प्रज्ञाश्रमणों, और (४) वादीश्रमणों के वंश आ जाते हैं; क्योंकि वे सब ऋषि ही थे। इक्ष्वाकु वंश में (१) कुरुवंश, (२) काश्यपवंश, और (३) नाथवंश का समावेश होता है। चक्रवर्त्तियों और नारायणादि के वंश इन राजवंशों से पृथक् नहीं थे। वास्तव में राजवंशों की संख्या बारह निर्दिष्ट करने में मूल उद्देश्य जैन शासन के प्रसिद्ध सब ही महापुरुषों के चरित्र वर्णन करना रहा है। मूलतः इक्ष्वाकु-वंश और विद्याधरवंश ही मूल वंश माने जा सकते हैं। शेष वंश इनमें से ही उत्पन्न होते गये थे। इक्ष्वाकुवंश के लोग प्रायः सब ही भूमिगोचरी थे—उन्हें वे विद्यायें सिद्ध नहीं थीं, जिनसे वे आकाश में उड़ सकते। इसके विपरीत विद्याधरवंश के लोग 'नभचर' थे—वे अपने विद्याबल से आकाश में उड़ सकते थे और खेचर भी कहलाते थे[२]।

---

१ 'जगत्यस्मिन्महावंशाश्चत्वारः प्रथिताः नृप।
एषां रहस्यसंयुक्ताः प्रभेदा बहुधोदिताः ॥१॥
इक्ष्वाकुः प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषणः।
ऋषिवंशो द्वितीयस्तु शशांककरनिर्मलः ॥२॥
विद्याभृतां तृतीयस्तु वंशोऽयंतमनोहरः।
हरिवंशो जगत्ख्यातश्चतुर्थःपरिकीर्त्तितः ॥३॥

—पद्मपुराण (मा० ग्रं०) पृ० ६७।

२ 'विज्जयड्ढु अप्पमाणु। खेयरेहिं रम्ममाणु।'

—करकंडु चरिय, ५।१

विद्याधरवंश की उत्पत्ति के विषय में जैन शास्त्रकारों का कथन है कि जब आदिब्रह्मा ऋषभदेव, जो इक्ष्वाकु भी कहलाते थे, मुनि हुए तो उन्होंने अपने पुत्रों को भारत की राज-व्यवस्था के लिये राजा नियत कर दिया। उस समय वह अपने निकट सम्बन्धी कच्छ-सुकच्छ के पुत्रों नमि-विनमि को शासनाधिकार देना भूल गये। उनके वे दोनों साले ऋषभदेव के मुनि हो जाने पर भी उनके पास राज्य की याचना के लिये पहुँचे। उस समय नागराज धरणेन्द्र ने आकर उन्हें संतुष्ट किया। वह नमि-विनमि को विजयार्द्ध पर्वत पर ले गया, जिसकी उत्तर और दक्षिण—दो श्रेणियां थीं। नमि और विनमि एक-एक श्रेणी के अधिकारी हुए। अपने विद्याबल से वे शासन करने लगे। वह विद्यायें उन्हें धरणेन्द्र से प्राप्त हुई थीं। उन्होंने बड़े २ नगर बसाये और जैन मंदिर बनवाये। पहले वे सब जैन धर्म के उपासक थे। उत्तर श्रेणी में पचास नगर थे और दक्षिण श्रेणी में साठ थे। विद्याओं के अधिकारी होने के कारण नमि-विनमि के वंशज विद्याधर कहलाये।'

विद्याधर-वंश में अनेक राजाओं के पश्चात् रत्नपुर अथवा रथनूपुर नगर में राजा सहस्रार का पुत्र इन्द्र नामका राजा बड़ाही पराक्रमी और बलवान हुआ। वह भ० मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में हुआ था। उनके समय तक विद्याधर-वंश के राजा वैताढ्य पर्वत से भी आगे फैल गये थे। इन्द्र ने उन सबको अपने आधीन किया और स्वर्गलोक की सब ही रचना अपने शासन में की। विद्याधरों के लोकपाल, असुर, यक्ष, किन्नर इत्यादि वर्ग नियत करके असुरनगर या देश (Assyria ?), यक्षकीर्तिनगर, किन्नरनगर आदि में स्थापित किये। नागलोक अथवा पाताल के निवासी विद्याधर नाग, सुपर्ण, गरुड़, विद्युत आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। सारांश यह कि इन्द्र ने मानवों में ही देव पर्याय की वर्गव्यवस्था

१ 'प्रतिमास्थस्य तस्याथ नमिश्च विनमिस्तथा। तस्थतुः पादयोर्नत्वा भोगयाचनतत्परौ ॥३०६॥३॥
याच्यमानौ विदित्वा तावासनस्य प्रकंपनात्। आयातो धरणो नाम्ना नागराजस्त्वरान्वितः ॥३०७॥
विकृत्य जिनरूपं स ताभ्यां विद्ये वरे ददौ। प्राप्य विद्ये वरे यातौ विजयार्द्धनगं तयात ॥३०८॥
योजनानि दशारुह्य तत्र विद्या मृदालयाः। नानादेशपुराकीर्णाः भोगैर्भोगक्षितेः समाः ॥३०९॥'

—पद्मपुराण

आदिपुराण, पर्व १८-१९।३-२००, हरिवंशपुराण पृ० ५४; महापुराण (अपभ्रंश) संधि ८। ५-६ आदि ग्रन्थों में नमि-विनमि को धरणेन्द्र ने वैताढ्य पर्वत का राज्य दिया लिखा है। श्रीविमल-सूरि के "पउमचरिउ" में भी धरणेन्द्र द्वारा राज्य दिये जाने का उल्लेख है। (पउमचरियम्, ३। १४४-१५४ 'धरणिन्दो आसणे तओ चलिओ।'—'...धरणेणं तस्स बलसमिद्धाओ। विज्जाओ तक्खणं चिय विज्जाओऽणेगरूवाओ।' इत्यादि) किन्तु प्रो० बी० एम० शाह ने अंग्रेजी में इसका अनुवाद 'इन्द्र' किया है, वह ठीक नहीं है। (Paumachariyam, Surat 1936, pp 89-90)

को उत्पन्न किया।[1] इस प्रकार एक विद्याधर वंश के अनेक अन्तरभेद हो गये। राक्षस और वानर वंश के राजा भी विद्याधर वंश के थे। उनका परिचय आगे कराना अभीष्ट है। निस्सन्देह विद्याधर लोग मनुष्य थे और थे आर्य क्षत्रिय—अलबत्ता उनको साधारण मनुष्य से अधिक विशिष्ट विद्यायें प्राप्त थीं।[2]

इतिहास की साक्षी !

विद्याधर-वंश की उत्पत्ति के विषय में उपर्युक्त जैन मान्यता की पुष्टि पुरातत्व और जैनेतर साहित्य से भी होती है। भारतीय पुरातत्त्व में ऐसे नमूने प्राचीनकाल के मिले हैं, जिनपर नाग, सुपर्ण, गरुड़, रूप की मनुष्याकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मथुरा कंकाली टीला से प्राप्त एक आयागपट पर कराहश्रमण की भक्ति करती हुई नागकन्या और अन्य पुरुष दर्शाये गये हैं।[3] नागवंशी विद्याधरों की यह आकृतियाँ हैं। अन्यत्र विद्याधर भी उत्कीर्ण मिलते हैं।[4] गंधर्व-विद्याधर संगीत में निष्णात होते थे। एक शिलापट में विद्याधरों को शिवजी के ताण्डवनृत्य में बाजे बजाते हुए उत्कीर्ण किया गया है।[5] एक चालुक्य नरेश का विरुद 'विद्याधर' उनकी विद्या पटुता को लक्ष्य कर के था।[6] विद्याधर विलास कौतूहल प्रेमी थे— इसी कारण एक चालुक्य नरेश विलास में विद्याधर तुल्य कहे गये हैं।[7] इन उल्लेखों से भारतीय कला में विद्याधरों का चित्रण और उनका अस्तित्व स्पष्ट है।

जैन सम्राट् ऐल खारवेल के हाथीगुफावाले शिलालेख में (पंक्ति ५) भी विद्याधरों का उल्लेख निम्न लिखित रूप में हुआ है :—

"...चवुथे वसे विजाधराधिवास अहतं पुवं कलिंगपुवराजनमंसितं...... धमकूटस।"

संभवतः इसमें धर्म्मकूट नामक जैन चैत्यालय की उपासना करते हुए विद्याधर और कलिंग के पूर्व राजा गण बताये गये हैं।[8] स्व० जायसवाल जी ने इसका अर्थ कलिंग के

१ पद्मपुराण (कलकत्ता) पृ० १०६-११३.

२ पद्मपुराण पृ० ६८।

३ जैनस्तूप ऐण्ड अदर ऐन्टीक्वटीज़ ऑव मथुरा, प्लेट नं० १७

४ दी आर्केलोजी ऑव गुजरात, पृ० १६६ व आर्के० सर्वे मैसूर १९३०, पृ० ३२।

५ आर्केलॉजिकल सर्वे आव मैसूर, सन् १९३०, पृ० ६६।

६ पूर्व० पृ० २३४।

७ पूर्व० सन् १९३१ पृ० १९८।

८ प्रो० इन्द्रजी भाउजी ने ऐसा ही अर्थ किया था। देखो 'बङ्गाल-बिहार-ओड़ीसा के जैन स्मारक' पृ० १२६।

पूर्व राजाओं द्वारा विद्याधर-आवास की वन्दना करते लिखा है।[१] संभव है, विद्याधर राजाओं द्वारा निर्माण किया हुआ जिनमंदिर वह हो। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी के लोगों को विद्याधर वंश का परिचय था। विद्याधरों के बनवाये हुए आवास यहाँ मिलते थे।

किन्तु जैन शास्त्रों में उन्हें वैताढ्य पर्वत का अधिकारी लिखा है और यह भी लिखा है कि वह भारत से वहाँ गये थे—वे कच्छ-सुकच्छ के पुत्र नमि-विनमि के वंशज थे। उपलब्ध सभ्यताओं का अध्ययन भी इस बात का द्योतक है कि भारत के सु-वर्ण के लोग सु-राष्ट्र से जाकर सुमेर में बसे थे। सुसा नगर की (मेसोपोटामिया देश की) खुदाई से जिस 'प्रोटो-इलामाइट' सभ्यता का परिज्ञान हुआ है, वह मूलतः भारत से ही वहाँ पहुंची थी—विद्वानों का ऐसा मत है।[२] मेसोपोटामिया में एक समय 'सु' जाति के लोग फैले हुए थे, जो 'सु-मेर' कहलाते थे। यह लोग मूलतः भारत के निवासी थे। उनके निवास की मूल भूमि काठियावाड़ 'सु-वर्ण' अथवा 'सु-राष्ट्र' नाम से प्रसिद्ध थी। 'महाभारत' में 'सिन्धु-सुवर्ण' देश का उल्लेख है।[३] जैन शास्त्रों में वह प्रदेश 'सिन्धु-सौवीर' नाम से उल्लेखित हुआ है।[४] यादव नरेश सु-वीर ने उसे स्थापित किया था। सुवीर का अर्थ 'सु' जाति का वीर होता है; सु-राष्ट्र नाम से भी इसका उल्लेख जैन शास्त्रों में हुआ है। सौ-राष्ट्रीय सभ्यता का सादृश्य सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता से है। अतः जैनशास्त्रों में कच्छ-महाकच्छ या सुकच्छ के वंशजों का भारत से जाकर वैताढ्य पर्वत पर बसने और फिर सर्वत्र फैलने का जो उल्लेख मिलता है, वह इस ऐतिहासिक मान्यता के अनुरूप है। सुमेर राजाओं की किस वंशावली में उक्कुसि (इक्ष्वाकु), विक्कुसि, (विकुक्षि, जिसके भाई निमि थे), पुरंजय, अनेनु (नन्न), सगर, रघु, दशरथ और रामचन्द्र राजाओं के नाम मिलते हैं। यदि ऋषभदेव को इक्ष्वाकु माना जाय जिनसे नमि-विनमि ने राज्य पाया था, तो किस वंश के विकुक्षी और उनके भाई निमि जैन शास्त्रों के नमि-विनमि अथवा सुकच्छ के पुत्र विकच्छ हो सकते हैं। अलबत्ता जैन शास्त्रों में इनका समय बहुत प्राचीन माना है। संभव है, किस वंश में अपने पूर्वजों के नामों की पुनरावृत्ति की गई हो अथवा उनका शासन काल ठीक निर्दिष्ट नहीं हुआ है। जो हो, यह प्रसंग विशेष अध्ययन की चीज़ है। बैबलीन के राजा नेबुशदनेज़र (नभश्चन्द्र) ने अपने को 'सु' जाति का देव और रेवानगर के राज्य का स्वामी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि उसका राज्य नर्मदा-तट के

१ जर्नल ऑव दी विहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भा० ३ पृ० ४६२।

२ "विशाल-भारत" भा० १८ अं० ५ पृ० ६२६ में प्रकाशित 'सुमेर-सभ्यता की जन्मभूमि भारत' शीर्षक लेख देखिये।

३ भगवतीसूत्र पृ० १८६३ (सिंधुसोवीरेसु जणवएसु)—हरिवंशपुराण ३।३-७ व ११।६८।

४ हरिवंशपुराण ११।६४-७६, आराधनाकथाकोष १।१००, नागकुमार चरित्र १।१५।७ इत्यादि।

रेवानगर से मेसोपोटामिया तक फैला हुआ था अर्थात् तब भारतवर्ष में मध्य एशिया का बहु भाग सम्मिलित था। यादवेन्द्र कृष्ण महाराज का राज्य भी वैताढ्य से समुद्र पर्यन्त विस्तृत जैनशास्त्रों में लिखा हुआ है।[1] अतः मालूम ऐसा होता है कि एक प्राचीन समय से सु-राष्ट्र के सु-वंशी राजाओं का राज्य जिनमें सु-कच्छ भी थे, सुराष्ट्र से मध्य एशिया तक फैला हुआ था। और इस सु-जाति के लोग जैन धर्मानुयायी थे;[2] जैसे कि नेबुशद्नेजर के निम्न लिखित ताम्रपत्र से स्पष्ट है :—

'रेवानगर के राज्य का स्वामी, सु...जाति का देव, नेबुशद्नेजर आया है। वह यदुराज (कृष्ण) के स्थान (द्वारिका) आया है। उसने मंदिर बनवाया; सूर्य......देव नेमि कि जो स्वर्ग समान रैवत पर्वत के देव हैं (उनको) हमेशा के लिये अर्पण किया।'

—("जैन" भा० ३५ अंक १ पृ० २)

यह राजा नेबुशद्नेजर प्रथम (ई० पू० ११४०) ही हो सकता है, क्योंकि द्वितीय नेबुशद्नेजर का समय ई० पू० ६०० है और उस समय भारत के रेवानगर के आस पास उनके राज्य का पता नहीं चलता। सारांशतः जैन शास्त्रों में जो विद्याधर वंश के पूर्वजों का भारत के कच्छ भाग से जाकर वैताढ्य में बसने और फिर सारे मध्य-एशिया में फैलने का उल्लेख है, उसका इतिहास से मेल खाता है। विद्वानों को इस ओर विशेष अन्वेषण करने की आवश्यकता है!

भारत में विद्याधर-राजवंश!

जैनसाहित्य का अध्ययन करने से एक बात इन विद्याधर लोगों के विषय में और स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि विद्याधर लोग अपने को भूमिगोचरी (भारतीयों) से श्रेष्ठ समझते थे और सहसा उनसे विवाह-सम्बन्ध नहीं करते थे।[3] आज जैसे योरुप वासी गोरे लोग एशियावासी लोगों को 'काला आदमी' समझ कर वर्णभेद में फँसे हुए हैं; वैसी ही स्पर्द्धा विद्याधरों और भूमिगोचरी लोगों में थी। विद्याधरों को जो जन्म सुलभ विद्यायें

---

१ ज्ञातृधर्मकथाङ्ग सूत्र (हैदराबाद दक्षिण) पृ० २२१ व हरिवंशपुराण, पृ० ४८१-४८२।

२ श्री पं० अमृतवसन्तजी ने लिखा है कि 'यह सु-वर्ण आर्यों का वह वर्ण था, जिसको इक्ष्वाकु की अध्यक्षता में मनु ने सामुद्रिक व्यापार का कार्य सौंपा था। इन्हीं के धर्म से जैनधर्म उत्पन्न हुआ और गुजरात तथा सु-राष्ट्र के जैन वणिक इन्हीं लोगों के वंशज हैं।" (विशाल-भारत, भा० १८ अङ्क ५ पृ० ६२१) इक्ष्वाकु से भाव यदि ऋषभदेव का है तो निस्सन्देह जैनधर्म इस कल्पकाल में उनके द्वारा ही उत्पन्न हुआ था।

३ "पुष्पाञ्जलिव्रतकथा" में विद्याधर कन्या का विवाह भूमिगोचरी से होने पर युद्ध होने का उल्लेख है।

प्राप्त थीं, उसी कारण यह भेद कल्पना थी। किन्तु जैसे २ विद्याधरों और भूमिगोचरियों का सम्पर्क बढ़ता गया, वैसे-वैसे यह भेद कम होता गया। दोनों वर्गों में विवाह सम्बन्ध भी हुए। कुछ विद्याधर क्षत्रिय आकर भारत में भी बस गये और शासनाधिकारी होकर यहां के क्षत्रियों में घुल मिल गये।

इस प्रकार के मेल का एक प्रामाणिक उल्लेख 'करकंडु चरित्र' में मिलता है। करकंडु अपनी यात्रा में तेरापुर पहुँचते हैं और वहाँ एक प्राचीन गुफा मंदिर देख कर पूछते हैं कि उसको किसने बनवाया? उत्तर में एक विद्याधर बतलाता है कि दक्षिण विजयार्द्ध में नील और महानील नाम के दो विद्याधर भाई राज्य करते थे। शत्रुओं से पराजित होकर वे भाग कर तेरापुर आये और वहाँ अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुये। एक जैन-मुनि के उपदेश से उन्होंने वह गुफा मंदिर बनवाया।[1] इस गुफा में ही अमितवेग और सुवेग नामक विद्याधरों ने मलय देश (मालावार) के पूदी पर्वत पर से लाकर रावण के वंशजों द्वारा प्रतिष्ठापित भ० पार्श्वनाथ की मूर्ति को स्थापित किया था।[2]

इस उल्लेख पर से प्रो० हीरालालजी ने दक्षिण भारत के शिलाहारवंश के राजाओं को विद्याधर नील-महानील का वंशज प्रमाणित किया है। उन्होंने लिखा है कि "आठवीं शताब्दी और उसके पश्चात् के कई शिलालेखों में एक शिलाहार नाम के राजवंश का उल्लेख मिलता है। इनकी तीन शाखाओं ने क्रमशः उत्तर कोंकण, दक्षिण कोंकण तथा कोल्हापुर के आस पास राज्य किया! तीनों शाखाओं के राजाओं ने अपने शिलालेखों में अपने को 'जीमूतवाहन विद्याधर के वंशज' तथा 'तगरपुर के अधीश्वर' कहा है। इससे विदित होता है कि उनके पूर्वजों ने कभी तगरपुर में राज्य किया होगा।...अतएव शिलाहार वंश के सम्बन्ध की उक्त दो बातों पर से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वंश सम्भवतः कनकामर द्वारा कथित नील-महानील से ही चला।[3]" उधर 'कथा सरित्सागर' से विद्याधरों के राजा जीमूतवाहन का होना स्पष्ट है। वहाँ कैलास से उत्तर की श्रेणी उत्तर वेदार्ध और दक्षिण

१ 'तहिं खेयर भायर अत्थि वे वि, णामेण णीलमहणील ते वि। ते अच्छहि रज्जु करंत जाव, पडिरेल्लिय दोण्णि विअरिहिताव। उद्दालिउ ताहं वि विज्जयाउ, णिद्धाडिवि घल्लिय पट्टणाउ। सिरीपास-जिणिंदहो लयाइं काले, सुर खेयर किण्णर रववमाले। अइदुम्मण दुक्खु वहंति भाय, महि लंघिवि तेरापयरुआय। तहिं थाइवि कीयउ रज्जु भव्वु, उवसाहिउ महियलु तेहिं सव्वु। अणुराएं तेहिं मि भायरेहिं, पुणु लयणु कराविउ खेयरेहिं।"

—करकंडुचरिउ, ४।३-२.

२ करकंडचरिउ, ४।४—८।

३ करकंडचरिउ (कारंजा) ग्रंथपरिचय, पृ० १७।

की दक्षिण वैध्यर्ध बताई गई है।[1] पद्मगुप्त कृत 'नवसाहसांक चरित्र' में नर्मदा के दक्षिण में एक विद्याधर राजकुल का उल्लेख है, जिसने मालवा के सिन्धुराज की सहायता की थी।[2] जैन कथाओं में ढूंढ़ने से भारत के अन्य बहुत से विद्याधर-वंशों का पता चल सकता है, जिनकी संगति इतिहास से बैठाना अन्वेषण का काम है।

दक्षिण भारत में शिलाहार राजवंश के अतिरिक्त सेनवार राजवंश के राजा भी विद्याधर थे। सातवीं शताब्दी से उनका पता चलता है और वे अपने को 'खचर' (खेचर वंश) का बताते हैं। विद्याधरों का ही अपर नाम खेचर था। उनका राजध्वज सर्पचिन्ह युक्त था—इसीलिए 'फणिध्वज' कहलाता था। ग्यारहवीं शताब्दी में वे वनवासी प्रान्त पर शासन करते थे। उनका विरुद् 'कुडलूरपुराधीश्वर' उनके पूर्वजों को कुडलूरपुर का शासनाधिकारी प्रकट करता है। उनमें जिमूतवाहन का पुत्र मारसिंह नामक राजा बड़ा प्रतापी था। उसने विद्याधर लोक के सब ही राजाओं को अपने आधीन किया। वह हेमकूटपुर का स्वामी था। सेनवार वंश के कई राजा जैनधर्मानुयायी थे।[3]

इस प्रकार वेताढ्य पर्वत से राज और विद्यायें गंवाकर बहुत-से विद्याधर राजागण समय समय पर आकर भारत में बस गये थे। जैन साहित्य में उनका विशद् विवरण फैला हुआ है, जो विश्व साहित्य के लिये मूल्यवान् है।

—शेषमग्रे।

१ 'जीमूतवाहनोप्येष: पृष्टो विद्याधरेश्वर: ।, इत्यादि।
'इह विद्याधराणां द्वौ वैध्यर्धौस्तो हिमाचले।
उत्तरो दक्षिणश्चैव नानातच्छृंग भूमिगौ ॥
परत: किल कैलासादुत्तरोऽर्वाक्तु दक्षिण: ।'

—कथासरित्सागर १४।१।६५-६६.

२ करकंडचरिउ की भूमिका, पृ० ४८।

३ संक्षिप्त जैन इतिहास, (सूरत) भा० ३ खंड २ पृ० १५७-१५८।

प्राचीन पत्र

[सं० —श्रीयुत पं० पन्नालाल साहित्याचार्य]

जेरठ के मन्दिर में एक २८८ वर्ष पूर्व का लिखा हुआ पत्र प्राप्त हुआ है। यह कपड़े पर लिखा हुआ है १७ फुट लम्बा और २ फुट चौड़ा है; पत्र के प्रारम्भिक भाग में निम्नलिखित रंगीन चित्र हैं जो उस समय की जैन चित्र कला के प्रदर्शक हैं—

जिन-माता का स्वप्न दर्शन, पति से उनका फल पूछना, १६ स्वप्न, जन्माभिषेक, राज-दरबार, दीक्षा के लिये शिविका में वन को जाना वहां दीक्षा ग्रहण करना, केवलज्ञान, समवशरण, सिद्धशिला, पञ्च अनुत्तर विमान, नव अनुदिश, सोलह स्वर्गों के आठ पटल चौबीस तीर्थंकर और जैन मुनि का उपदेश दान। उल्लिखित चित्रों के नीचे २९ पंक्तियों में पत्र लिखा गया है। प्रति पंक्ति में ४५ से लेकर ४८ तक अक्षर हैं। पत्र की भाषा संस्कृत है। यह पत्र धर्मावनि (धामोनी) जो कि आज सागर से २९ मील दूरी पर एक ऊजड़ स्थान है, के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में विक्रम सम्वत् १७१६ भाद्र कृष्णा ३ शुक्रवार के दिन शांतियज्ञ की प्रशस्ति स्वरूप लिखा गया था। इसमें शान्ति यज्ञ कराने वाले सद्गृहस्थों का निम्न प्रकार परिचय दिया गया है—

वैश्य वर्ण, गोलापूर्व जाति के सनकुटा गोत्र में संघपति (संघवै—संघई—सिघई) आसकरण थे। उनकी भार्या का नाम मोहनदे था। उन दोनों के दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र का नाम संघपति रतनाई था। उसकी स्त्री का नाम साहिबा था। उन दोनों के पांच पुत्र हुए—१ नरोत्तम २ मंडन ३ राघव ४ भगीरथ और ५ नन्दा। आसकरण के द्वितीय पुत्र संघपति हीरामणि थे। उनकी दो स्त्रियां थीं कमला और बसन्ती। उनके बलभद्र नामका पुत्र था इन्हीं सबने क्षुल्लक सुमतिदासजी के उपदेश से शांतियज्ञ कराया था। धर्मावनि [धामोनी] का पतन होने पर इस वंश के कितने ही वंशज वहाँ से हटकर पड़वार जा बसे थे और कितने ही जेरठ आदि स्थानों में चले गये थे। जो धर्म कर्म सम्पन्न हैं। पत्र का वस्त्र देखकर तत्कालीन वस्त्र-निर्माण की कला पर गौरव होता है। पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है:—

॥ ॐ नमो जिनाय ॥

स्वस्तिश्री जिनमानम्य पंचकल्याणनायकम्।
लिखामि टिप्पिकां रम्यां सर्वकल्याणसिद्धये ॥ १ ॥
अर्हन्तो मङ्गलं सन्तु तव सिद्धाश्च मङ्गलम्।
मङ्गलं साधवः सर्वे मङ्गलं जिनशासनम् ॥ २ ॥

नाभेयादिजिनाः प्रशस्तवदनाः ख्याताश्चतुर्विंशतिः
श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश।
ये विष्णुप्रतिविष्णुलाङ्गलधराः सप्ताधिका — विंशति
स्त्रैकाल्याभयदा स्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥ ३ ॥
संप्रेरितां दर्शन——कर्णधारैर्यन्नामनावं परिलभ्य भव्याः।
भवाम्बुधिं दुःखजलं तरन्ति स त्रायतां वो वृषभो जिनेन्द्रः ॥ ४ ॥
जिनोऽजितोऽव्याज्जितदुःखराशिर्भव्यान्सुखी संभवनाथ ईड्यः।
आनन्ददश्रीरभिनन्दितेशः सतां समर्च्यः सुमतिः सुखाब्धिः ॥ ५ ॥
पद्मप्रभः पद्मदलाभनेत्रः शुभाय भूयाच्च सुपार्श्वदेवः।
चन्द्रप्रभश्चन्द्रसमानकान्तिः सतां सुबुद्धिः सुविधिः प्रबुद्धः ॥ ६ ॥
श्रीशीतलेशोऽवतु भव्यसंघं श्रेयोजिनश्चाक्षयसौख्यराशिः।
श्रीवासुपूज्यः पुरुहूतपूज्यो मलापहारी विमलेश्वरश्च ॥ ७ ॥
अनन्तनाथोऽन्तविहीनकीर्तिर्धर्माम्बुधिर्धर्मजिनो जिताक्षः।
शिवाय शान्तीश्वरनामधेयः कुन्थुर्बुधानामनघोऽस्तु पूज्यः ॥ ८ ॥
विभुः सतां स्यादरनाथदेवो मल्लिः सुखाप्त्यै जितमोहमल्लः।
व्रताङ्कितश्रीमुनिसुव्रतेशो नमिर्नतानेकविनेयवर्गः॥ ९ ॥
श्रीनेमिनाथो यदुवंशभूषः पार्श्वप्रभो देशितमुक्तिपार्श्वः।
वीरेश्वरोऽव्याज्जिनवर्धमानः संसार कृच्छ्राद्वरभव्यवृन्दम् ॥ १० ॥

दोषाष्टादशवर्जिता अतिशयैर्द्धाःपराम्श्रयै—
रष्टप्रोतसहस्रलक्षणधराः सत्प्रातिहार्यान्विताः।
दृष्टिज्ञानसुवीर्यसौख्यसुगुणैरन्तातिगै र्वन्धुरा
भूतानागतवर्तमानविषया वः पान्तु तीर्थङ्कराः ॥ ११ ॥
काले दुःषमसंज्ञके जिनपते धर्मे गते क्षीणतां
ये कुर्वन्ति सुधर्मसाधनरता गेहस्थिताः साम्प्रतम्।
धर्म्मं श्रीजिनभाषितं शुभतरं क्षेत्रेषु चोप्तं यकै
र्द्रव्यं कष्टशतैरुपार्जितमतो धन्या हि ते भूतले ॥ १२ ॥

गेहिनां दानपूजाद्यं विना धर्मस्य सम्भवः।
कदाचिन्न भवेत्तस्मात्तत्कार्यं धीमता सदा ॥ १३ ॥

गुर्वाज्ञया प्राप्य धनेन सद्भिः सहायतो धर्मवतां नराणाम्
कार्यो महान् (महः) श्रीजिनयज्ञनामा स्वर्गापवर्गादिविभूतिदायी ॥ १४ ॥

श्रीमूलसंघे वाग्गच्छे बलात्कारगणे तथा ।
पट्टमालानुक्रमोऽयं मंगलं कुरुते सदा ॥ १५ ॥
कुन्दकुन्दमुनेर्वंशेऽभूद्भट्टारकसत्तमः ।
पद्मनन्दिश्च तत्पट्टे यशस्कीर्तियशोनिधिः ॥ १६ ॥
तत्पट्टे ललितादिकीर्तिरभवत्स्याद्वादविद्यानिधि- ।
स्तस्माद् श्रीनृपकीर्तिवाग्वरयतिव्रातार्चितोऽभूत्ततः ।
शुभद्धाग्यवतां वरिष्ठ इति सद्भट्टारको भासुरो
योगीशः शुभपद्मकीर्तिरमलः सेव्यः सदा श्रीश्रिते: ॥ १७ ॥

तदनुपट्टधरोधरणीपतिप्रवरपूजितपादपयोरुहः ।
सकलकीर्तिरिहास्ति सतां सदद्भुतसुसौख्यकरः करुणालयः ॥ १८ ॥
तत्र संघे श्री पं० द्वारिकादासः ॥ छ ॥ पूर्वोक्तभट्टारक श्री ६
ललितकीर्तिदेवस्तच्छिष्यक्षुल्लक व्रतधर—ब्रह्मश्रीसुमतिदासः ।
तस्योपदेशवृषभूमिसंज्ञे पुरे श्रावकास्तत्र (पुण्य) महः समीड्यः ।
शान्तिकर्मो नाम विधानसारं कुर्वन्ति ते स्युः सुखिनो नितान्तम् ॥ १९ ॥
इन्द्रतत्त्वेन्दुपङ्कवर्षे लिखितं सुमनोहरं ।
संवत्सरे विक्रमाकान् गते मासि सुभाद्रके ॥ २० ॥
कृष्णपक्षतृतीयायां तिथौ श्री शुक्रवासरे ।
शान्तिकर्म सतां शान्तिप्रदमारभ्यते शुभम् ॥ २१ ॥
अन्त्यवर्णसमुद्भूतः सुचित्तान सुभूमियः ।
तस्मिन् राजनि सद्राज्ये प्रजाक्षेमकरे शुभे ॥ २२ ॥
पुर्व्यां धर्मावनौ शुभचन्द्रप्रभजिनालये ।
जिनशान्तिक्रियायज्ञविधिश्चैप विरच्यते ॥ २३ ॥
महोत्सवशताकीर्णे पुण्यापण्यपणे वरे ।

... ...

तत्र शुद्धसम्यक्त्वालंकारभारोद्धरणधौरान् षट् प्रतिमाधारक-द्वादशव्रत-गात्राहाराभयभैषज्य-शास्त्रदान-वितरणैकश्रेयोनृपतितुल्य-जीर्ण-नूतन-जिनप्रासादकरणकारापणसमर्थपात्रदानजिनपूजा-मान्यमानन - जिनस्मरण-जनितपुण्यैः पवित्रीकृतबाह्याभ्यन्तरवृत्तिः वैश्यवर्णे सनकुटागोत्रे गोलापूर्ववंशे संघपति आसकरण भार्या मोहनदे तयोः पुत्रौ द्वौ जातौ तयोर्मध्ये ज्येष्ठः संरतनाई भार्या साहिबा तयोः पुत्राः

पंच ज्येष्ठो नरोत्तमः द्वितीयोमंडनः तृतीयो राघवश्चतुर्थो भागीरथः पञ्चमो नन्दीति । द्वितीय पुत्र सं० हीरामणिः भार्या कमला तथा वसंतो पुत्र बलभद्रैते सगोत्रा सकुटुम्बा नित्यं जिनधर्मप्रसादाच्चिरंजीवाः वृद्धियुक्ताः जिनभक्तिकाः भवन्तु । ये जिनेन्द्रं नमस्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति च तेषां सर्वाणि भद्राणि गृहे वसन्ति निश्चितम् ॥

—०:०:०—

मुझे यह पत्र जैन विद्यालय सागर के विद्यार्थी श्री प्रेमचन्द जी पडवार के द्वारा प्राप्त हुआ है। —लेखक

कारंजा के कतिपय मूर्तिलेख

(गतांक से आगे)

दि० जैन बलात्कार मन्दिर

१ **ऋषभनाथ**—पाषाणमयी, कृष्णवर्ण, पद्मासन, मूर्तिलेख - सं० १३५०.........

२ **नेमिनाथ**—पाषाणमयी, लालवर्ण पद्मासन, दो फुट ऊँची, लेख—शाके १५८० विलंबी नाम संवत्सरे मार्गशीर्ष शु० ५ शुक्रवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मूलचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मभूषणदेवास्तेन प्रतिष्ठितं; बघेरवालज्ञाति-हरसीरागोत्रे मेघासा तस्य भार्या हिराबाई तस्य सुतः संगई नेमाजी।

३ **पार्श्वनाथ**—पाषाणमयी, लालवर्ण १ फुट उँची. लेख—शाके १६१२ श्रीसिद्धसेन गुरूपदेशात् वैशाख वदी १२ सेनगण मु०......

४ **शीतलनाथ**—पाषाणमयी,

लेख—श्री० मू० भ० श्रीधर्मचन्द्र उपदेशात् गोकुलजंग जी......

५ **पुष्पदन्त**—पाषाणमयी, एक फुट ऊँची, लेख—संवत १६५६ फाल्गुन शुक्ला ३ गुरौ श्री० मू० भ० श्रीवादिभूषण उपदेशात हुँवडज्ञाति सा भल्लाम्मा इत्यादि।

६ **चिन्तामणि पार्श्वनाथ**—धातुमयी, पीतवर्ण, लेख—श्री० भ० विशालकीर्तिस्तत्पट्टे भ० सकलकीर्तिः शाके १५२७ विश्वावसुसंवत्सरे मू० संघे स० गच्छे ब० गणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये अनुक्रमात् पद भट्टारक श्रीधर्मचन्द्रदेवास्तत्पट्टे अमरकीर्तिस्तत्पट्टे भ० सकलकीर्त्ति यदुपशात् नेवा ज्ञातीय पोलोरियागोत्रे सं० माहमल्ल सं० संशदमा तस्य पुत्र श्रेगिको २ अवतार संगवे श्री० भैरव त० स० प्रणमिति, इति सं० वासुदेव भा० सं० भगाई सं० पात्रमल्ल तस्य ससोला तस्य पुत्र सं० नेमाजी तस्य भार्या सौभादरा तस्य पुत्र संगवेरामाजी सं० बापूजी तस्य भार्या मना सर्व कुटुम्ब पणमति।

७ **पद्मप्रभदेव**—पाषाणमयी, कृष्णवर्ण, लेख—शाके १५६० प्रमाथी नाम संवत्सरे वैशाखमासे कृष्णपक्षे १० शुक्रवासरे श्री मू० सं० स० गच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्री० भ० कुमुदचन्द्रस्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मचन्द्र उपदेशात् पंचमज्ञाति शेटीजी तस्य भार्या भावाई तयोः पुत्र शृंगारराय हिरोजी तिलक प्रणमति।

८ **पार्श्वनाथदेव**—धातुमयी, पीतवर्ण, लेख—श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये मलयखेड सिंहासनाधीश्वर भ० श्री० देवेन्द्रकीर्त्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मचन्द्रस्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मभूषणास्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्त्ति-

स्तत्पट्टे श्रीकुमुदचन्द्रस्तत्पट्टे भ० श्री० धर्मचन्द्रोपदेशात् हुंबड़ ज्ञातीय काकडेश्वर गोत्रे भ० सरतामसा तस्य भार्या सोनाई तयोः पुत्र धर्मचन्द्रस्तेन नमितं इदं जिनबिम्बं तथा बाई अनन्तमती नित्यं नमति। शाके १५७२ वि० सं० का० शु० २१ श्री० धर्मभूषणैः प्रतिष्ठितम्।

९ **पार्श्वनाथ**—पाषाणमयी, लेख—संवत् १६७३ शान्तिसेनेन प्रतिष्ठितम्।

१० **अरहनाथ**—पाषाणमयी, ले०—संवत् १५४९।

११ **पार्श्वनाथ**—लेख—सं० १५४८ वैशाख सुदी २ भ० श्री० श्री० जिनचंद्रजी प्रतिष्ठितम् रानासा पापलवालेन विराजितम्।

१२ **ऋषभनाथ**—लेख—सं० १९५७ शाके १८२२ माघशुक्ला ११ बुधवासरे मूलसंघे बलात्कारगणे स० गच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये कारंजानगरे पंडित मंगलचन्दजी वंशेन प्रतिष्ठितम्।

१३ **पार्श्वनाथ**—लेख-शाके १५६१ अतिथि नाम संवत्सरे फाल्गुन शुक्ला २ बृहस्पतिवासरे श्री० मू० सं० कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री धर्मचन्द्र त० धर्मभूषण, त० श्रीदेवेन्द्रकीर्त्ति त० श्रीकुमुदचन्द्र त० श्रीधर्मचन्द्रोपदेशात् बघेरवालज्ञाति हरसोगगोत्रे रानासा भार्या देसाई तस्य पुत्रेण प्रतिष्ठितम्।

१४ **मल्लिनाथ**—लेख संवत १५४२ से० ब० गणे......

१५ **श्रेयान्सनाथ**—लेख सं० १५४५ आनन्दीलाल......।

१६ **चन्द्रप्रभदेव**—लेख सं० १५४२ वैशाख शु० ५ सरल राजसम जिनचन्द्रजी प्रतिष्ठितम।

१७ **चिन्तामणिपार्श्वनाथ**—संवत् १६८३ वर्षे माघ शु० ५ गुरौ श्री० मू० सं० ब० कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीरायकीर्त्ति त० पद्मनन्दिगुरूपदेशात् हुँमडज्ञातीय लघु शाखा खरजागोत्रे सं० नाकर भा० नारंगदेसु सं० ऋषभदास भा० प्रदेशु धर्मदास इति पार्श्वनाथं प्रणमति।

१८ **पार्श्वनाथ**—ले०-शाके १६१३ श्रीमूलसंघे वृषभसेनाचार्य भ० शान्तिसेन उपदेशात् बरजगहा नगर......।

१९ **ऋषभनाथ**—ले०-श्री० मू० भ० श्रीधर्मचन्द्रोपदेशात् गोकुल जगजीवनधन प्रणमति।

२० **चिन्तामणि पार्श्वनाथ**—ले०—श्री० से० १६५९ फाल्गुन शुक्ला १३ गुरौ श्री० मू० सं० खर० गच्छे ब० गणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्री० बुधचन्द्र अभयचन्द्र तत्पट्टे श्रीअभयनन्दी श्रीसुमतीसागरदेवोपदेशात्।

कारंजा की लघु पट्टावली

अथ स्थानक बलात्कारगण की गादी हुई सो न्यारो न्यारो पट्टी सो व्योरो :—

सं० १२६६ आषाढ़ शुक्ल ५ प्रख्यातकीर्त्ति गृहस्थ वर्ष ११ दीक्षावर्ष १५ पट्टवर्ष २ मास ३ दिन १९ अन्तरी दिन ४ सो प्रथम ही तो यह मालव देश उज्जैन नगरी में पट्ट ५१

हुआ सो जानना। भद्रबाहु से लेकर महिचन्द्र स्वामि पर्यन्त। महिचन्द्र स्वामी यात्रा निमित्त जाता था, सो हाडोती में नागनगर थो सो उस नगर में शान्त हुआ। गंगकीर्त्ति स्वामी संवत् ११६२ बारा में ही बैठा, सोनागिरिजी की यात्रा निमित्त पधारा था, जब गोपाचलगढ़ उपरी रहा था सो वहाँ शान्त हुआ; सो सिंहकीर्त्ति स्वामी १२०६ के साल में ग्वालेर बैठा, सो १४ पट्ट ग्वालेर ही हुआ। ग्वालेर से संवत् १२६४ के साल अभयकीर्त्ति-जी मारवाड़ देश में उपदेश निमित्त आया था, सो अजमेर पधारा था, अजमेर में शान्त हुआ। वसन्तकीर्त्तिजी पट्ट बैठा, ६०५ इहसो पाँच पट्ट अजमेर हुआ। भट्टारक प्रभाचन्द्र जी के पाँच शिष्य थे; सो प्रभाचन्द्र नाईं पट्ट एक ही था सो पाँच शिष्य में सूं चार शिष्य तो प्रदेश आया था।

१ संवत् १३१५ साल में तो डूंगरपुर पट्ट बैठा तिणा तो गुजरात में आम्नाय राखी; अर गुजरात में सकलकीर्त्तिजी के पटावली से यशकीर्त्ति जी पर्यन्त गादी १६ सोलह हुई हैं। जसकीर्त्ति जी की गादी माहीं सुगुणचन्द्र भट्टारक वा धर्मभूषण जी बगैर दोय गादी न्यारी हुई, १७५ वर्ष जानना।

२—दूसरा शिष्य मेवाड़ देश में चित्तौड़ किले पट्ट बैठा।

३—तिसरा शिष्य मलयखेड़ में रत्नकीर्त्तिजी था, सो गोमट स्वामी के यात्रा निमित्त पधारा था; सो हूमच (हुम्बुच) में बलात्कार गण को पट्ट स्थापित किया, सो देवेन्द्रकीर्त्ति नाम पड़ता है।

४—भट्टारक धर्मभूषण स्वामी सुरत्राण जी संवत् १३७० साल में गया था, तिणासु कारंजा में पट्ट स्थापित हुआ। कारंजासुं धर्मचन्द्र स्वामी नागपुर गादी हुई तथा महिन-वाला संवत् १७१० के साल में आरती करी सो हमारे तांई स्याति को फैसो मेटो। जब आज्ञा गुरु की माना नहीं तब मायना छोड़ दीनी, जब पाट सम्बन्ध करने लगा। फिर बिनती करी जब मण्डलाचार्य सहित बात मण्ली में भी किया था। सोनागर ? बैठा विशालकीर्त्ति।

प्रभाचन्द्र जी दिल्ली शान्त हुआ था, सो पद्मनन्दी जी दिल्ली पट्ट बैठा। फेर अजमेर में पट्ट ४ हुआ। फेर जिनचन्द्र जी सो आमेर को पट्ट न्यारो हुओ, अर ग्वालेर पहली गादी की ही थी। पाछे ग्वालेर गादी में तीन गादी उठ गई फेर आमेर माहीसु अजमेर नागौर पट्ट न्यारे बैठने लगे सो जानना। इति—

कुन्दकुन्दाचार्य संवत ४८ में हुआ; संवत १०१ में उमास्वामी हुआ।

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन,
आरा।
२८-७-४५

श्रीधराचार्य

[ले०—न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न]

अभी हाल में काशी विद्यापीठ से प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ में विद्वद्वर श्रीबलदेव मिश्र का एक निबन्ध गणितज्ञ श्रीधराचार्य के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ है, जिसमें इन्होंने उक्त आचार्य को जैनेतर उत्तर भारत का निवासी बतलाया है। लेकिन श्रीधराचार्य की प्राप्त रचनाओं एवं उनके सम्बन्ध में उपलब्ध उल्लेखों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह आचार्य दक्षिण कर्णाटक निवासी जैन मतानुयायी थे। इनका प्रसिद्ध गणित का ग्रन्थ गणितसार या त्रिशतिका है, जिसका सम्पादन महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने किया है।

कुछ दिन पहले भारतीय ज्ञानपीठ काशी की कर्णाटक शाखा मूड़बिद्री की ओर से कर्णाटक प्रान्त के जैन ग्रन्थालयों के हस्तलिखित ग्रन्थों की सविवरण ग्रन्थ सूची तैयार की गई थी। इसी अन्वेषण में अनेक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं कन्नड़ के अप्रकाशित जैन ग्रन्थ दृष्टि में आये। इन्हीं ग्रन्थों में कन्नड़ लिपि में लिखित श्रीधराचार्य के गणित-सार या त्रिशतिका की भी एक पुरानी प्रति मिली है। इस प्रति में ४५[1] ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र ६ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति ८५ अक्षर हैं। इस प्रति को देखने से मालूम होता है कि प्रस्तुत गणितसार या त्रिशतिका का मंगलाचरण मुद्रित प्रति में बदल कर छापा गया है।

प्राप्त हुई हस्तलिखित प्रति का मंगलाचरण निम्न प्रकार है—

> नत्वा जिनं स्वविरचितपाट्या गणितस्य सारमुद्धृत्य।
> लोकव्यवहाराय प्रवक्ष्यति श्रीधराचार्यः॥

मुद्रित प्रति का मंगलाचरण—

> नत्वा शिवं स्वविरचितपाट्या गणितस्य सारमुद्धृत्य।
> लोकव्यवहाराय प्रवक्ष्यामि श्रीधराचार्यः॥

उपर्युक्त मंगलश्लोक में 'जिनं' के स्थान पर 'शिवं' लिखा गया है। यह मंगलाचरण बदलने की प्रथा केवल इसी ग्रन्थ तक सीमित नहीं है, किन्तु और भी कई लोकोपयोगी जैन ज्योतिष एवं आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। क्योंकि ज्योतिष और आयुर्वेद ये दोनों विषय सर्व साधारण के लिये एक समान ही हैं; इसलिये किसी मत या सम्प्रदाय में दो-एक बातों को छोड़ अन्य बातों में समानता ही पायी जाती है। मानसागरी जिसका कि ज्योतिर्विदों की मण्डली में खूब प्रचार है, जैन ग्रन्थ है। ऐसी कोई बात नहीं है कि

१—देखें—जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १२ किरण २ पृ० ११३

उपयोगी ज्योतिष या वैद्यक के जैन ग्रन्थों को जैनेतरों ने अपनाने से इंकार किया हो; बल्कि अन्वेषण करने पर प्रमाण मिलते हैं कि अनेक ज्योतिष के ग्रन्थों का पठन-पाठन सर्व साधारण में बिना किसी भेद-भाव के प्रचलित था। मानसागरी के जैन होने को उसके विद्वान्, उदारचेता सम्पादक ने भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है—

"एवं मानसागरी-नाम्ना सार्थकग्रन्थनामकल्पनया 'मानसागर' नाम्ना केनापि व्यरचीति वक्तुं शक्यते, यः कोऽपि कर्त्ता भवतु, जैनमतावलम्बिनाऽवश्यं भवितव्यम्, बहुत्र 'श्रीआदिनाथ प्रमुखा जिनेशाः' सच जिनप्रसादाद्दीर्घायुर्भवतु, इत्यादि जिनस्तुतिल्लेखसत्त्वात्'।

अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल में लौकिक जैन ग्रन्थों का प्रचार सर्वसाधारण में था; जिससे कुछ संकीर्ण विचार वालों ने कतिपय जैन ग्रन्थों को मंगलाचरण बदल कर अपने में मिला लिया।

श्रीधराचार्य की अन्य ज्योतिष विषयक उपलब्ध रचनाओं में तीन ग्रन्थ हैं—एक ज्योतिर्ज्ञानविधि या श्रीकरण, दूसरा कन्नड़ भाषा में लिखित जातक तिलक या होराशास्त्र और तीसरा इसी भाषा में लिखित लीलावती नामक ग्रन्थ है।

जातकतिलक के सम्बन्ध में कर्णाटक भाषा के मर्मज्ञ विद्वानों का कथन है कि यह ग्रन्थ ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण है। श्री हीरालाल कापड़िया ने गणित तिलक की अंग्रेजी भूमिका में जैन गणित और ज्योतिष का वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ[१] के सम्बन्ध में बताया है—

Besides these works in Prākrit and Sanskrit there are some works of Jaina authorship, written in Kanarese language, for instance Śridharācārya has composed in verses Jātakatilaka, a work of an astrological nature.

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि जातक तिलक जैनाचार्य श्रीधर का एक महत्त्वपूर्ण ज्योतिष का ग्रन्थ है।

ज्योतिर्ज्ञानविधि की एक अधूरी प्रति मूड़बिद्री के जैन शास्त्रागार से प्रतिलिपि कराके श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा में मंगाई गई है। इस ग्रन्थ के केवल दस प्रकरण उपलब्ध हैं—संज्ञाधिकार, तिथ्याधिकार, संक्रान्ति-ऋत्वहोरात्रिप्रमाणाधिकार, ग्रहनिलयाधिकार, ग्रहयुद्धाधिकार, ग्रहणाधिकार, लग्नाधिकार, गणितनाधिकार एवं मुहूर्त्ताधिकार हैं। इसका मंगलाचरण निम्न प्रकार है—

१—देखें-Ganetatilaka's Introduction P. X. तथा विशेष के लिये कर्णाटक कवि चरिते भाग १ पृ० ७५

प्रणिपत्य वर्धमानं स्फुटकेवलदृष्टतत्त्वमीशानम् ।
ज्योतिर्ज्ञानविधानं सम्यक् स्वायंभुवं वक्ष्ये ॥
गोपकबालस्त्रीवृद्धमतिविहीनानाम् ।
मनसा नेयं तथ्यं श्रीकरणमिदं ततो वक्ष्ये ॥

इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरणान्त में आये प्रशस्तिवाक्य में श्रीधराचार्य ही **कर्त्ता** बताये गये हैं—

इति श्रीधराचार्यविरचिते ज्योतिर्ज्ञानविधौ ध्रुवाधिकारो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

किसी-किसी परिच्छेद के अन्त में ज्योतिर्ज्ञानविधि को विशेषण और श्रीकरण को विशेष्य तथा किसी-किसी के अन्त में ज्योतिर्ज्ञानविधि या श्रीकरण ऐसा भी मिलता है—

इति श्रीधराचार्यविरचिते ज्योतिर्ज्ञानविधौ श्रीकरणे संज्ञाधिकारः प्रथमः परिच्छेदः । तथा–

इति श्रीधराचार्यविरचिते ज्योतिर्ज्ञानविधौ वा श्रीकरणे लग्नप्रकरणं नाम अष्टमः परिच्छेदः ।

अतः यह सुस्पष्ट है कि ज्योतिर्ज्ञानविधि के कर्त्ता ही गणितसार या त्रिशतिका के रचयिता श्रीधराचार्य हैं। जैनाजैन साहित्य में इस नाम के जितने आचार्य मिलते हैं, उनका विवरण प्रस्तुत किया जाता है तथा इस विवरण पर से पाठक स्वयं निश्चय कर सकेंगे कि गणितज्ञ श्रीधराचार्य कौन हैं ?

श्रीधराचार्य नामके जैनेतर विद्वानों का विवरण

अजैन साहित्य में श्रीधर नामके आठ विद्वानों का उल्लेख मिलता है—

१—यह श्रीधरपद्धति, पाशुपतप्रताप, कान्तविधान पद्धति एवं अमरकोष की टीका आदि ग्रन्थों के रचयिता हैं। सुन्दरगणिकृत धातुरत्नाकर में इनका उल्लेख मिलता है।

२—इनका पूरा नाम श्रीधराचार्य यज्वन् बताया गया है। यह स्मृत्यर्थसार और श्रीधरीय धर्मशास्त्र नामक ग्रन्थों के रचयिता हैं। स्मृत्यर्थसार में इन्होंने गोविन्दराज और तीर्थसंग्रहकार का मत उद्धृत किया है। हेमाद्रि ने अपने ग्रन्थ में इनका आदर सहित उल्लेख किया है। इनके पिता का नाम विष्णु भट्ट उपाध्याय बताया गया है।

३—इनके नामके अन्त में 'दास' शब्द भी मिलता है। इन्होंने ईस्वी सन् १२०४ में सदुक्तिकर्णामृत की रचना की है। इनके पिता बटुदास बंगेश्वर लक्ष्मणसेन के सेनापति और परम सुहृद थे।

४—श्रीधर दीक्षित—यह प्रयोगवृत्ति और सामप्रयोग पद्धति के प्रणेता हैं।

५—श्रीधराचार्य—पदार्थ-धर्म-संग्रह की टीका न्यायकन्दली के रचयिता हैं। इन्होंने व्यवहार दशश्लोकी, सपिण्डदीपिका ये दो ग्रन्थ और बनाये हैं। इनके नामके अन्त में भट्ट शब्द भी मिलता है। न्यायकन्दली में इनके पिता का नाम बलदेव, माता का अब्बोका और पितामह का वाचस्पति बताया है। इस ग्रन्थ को इन्होंने पाण्डुदास नामक एक हिन्दू राजा के उत्साह से ईस्वी सन् ९९१ में रचा है। इनका ग्राम भूरिसृष्टि बताया गया है।

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने गणितसार[1] के कर्त्ता ज्योतिर्विद् श्रीधराचार्य को और न्यायकन्दली के कर्त्ता श्रीधराचार्य को एक माना है और इसी आधार पर इन्होंने अपनी गणकतरंगिणी में भट्ट श्रीधर, श्रीधर और श्रीधराचार्य ये तीनों नाम एक ही व्यक्ति के बतलाये हैं। परन्तु एक भी ऐसा प्रमाण नहीं, जिससे गणक श्रीधराचार्य को न्याय-कन्दली का कर्त्ता माना जा सके। गणितसार या त्रिशतिका के अन्त में ज्योतिर्विद् के रूप में ही इनका परिचय मिलता है, नैयायिक के रूप में नहीं। और न न्यायकन्दली से ही कहीं व्यक्त होता है कि ये ही प्रसिद्ध गणितज्ञ श्रीधराचार्य हैं। इसके अलावा ऐसे अनेक सबल प्रमाण हैं जिनसे ज्योतिर्विद् श्रीधराचार्य का अस्तित्व पृथक् सिद्ध होता है। अतएव न्यायकन्दलीकार भट्ट श्रीधराचार्य से भिन्न गणितसार के रचयिता हैं।

६—श्रीधर मिश्र—दानपरीक्षा, भ्रष्टवैष्णवखण्डन, शुष्कज्ञान निरादर और वैद्यमनोत्सव नामक ग्रन्थों के रचयिता हैं।

७—पुरुषोत्तम सरस्वती के गुरु तथा रामश्रीपाद शिष्य हरिहरानन्द के शिष्य एक श्रीधराचार्य हैं। इनका बनाया हुआ सिद्धान्त तत्त्वबिन्दु-सन्दीपन नामक ग्रन्थ बताया गया है।

छान-बीन करने पर श्रीधराचार्य नामक अजैन विद्वानों में से कोई भी गणितसार, जातक तिलक, ज्योतिर्ज्ञानविधि आदि ज्योतिष विषयक ग्रन्थों के रचयिता नहीं जँचते हैं।

जैनाचार्य—इस नाम के

१—श्री प्रेमीजी द्वारा लिखित दिगम्बर 'जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' नामक पुस्तक से एक श्रीधराचार्य की सूचना मिलती है, जो कि श्रुतावतार गद्य और भविष्यदत्त चरित्र नामक ग्रन्थों के रचयिता हैं।

२—सुकुमाल चरिउ के रचयिता[2] श्रीधराचार्य अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हैं। इस ग्रन्थ की रचना का कारण इस प्रकार बताया है कि एक दिन बलद (बलडइ) के जैन

१—'गणितसार' जैनाचार्यों का दिया नाम है, जैनों में इस नामके गणित सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे गये हैं।

२—इनकी सूचना मुझे श्री रामसिंह तोमर एम० ए० रिसर्च स्कालर शान्ति निकेतन (बंगाल) से मिली है। —लेखक

मन्दिर में, जहाँ के शासक गोविन्दचन्द्र थे, पद्मचन्द्र नामक एक मुनि उपदेश दे रहे थे। उपदेश में उन्होंने सुकुमाल स्वामी का भी उल्लेख किया। श्रोताओं में पीछे साहु का पुत्र कुमार नामक एक व्यक्ति था, जिसने कि सुकुमाल स्वामी की कथा के विषय में अधिक जानने की इच्छा प्रकट की थी। किन्तु मुनिराज ने कुमार को श्रीधराचार्य नामक कवि की अभ्यर्थना करने को कहा, जो कि उसकी जिज्ञासा शान्त कर सकते थे। अतः श्रीधराचार्य को कुमार ने सुकुमाल चरित की रचना करने को प्रेरित किया। कुमार साहु को पुरवाड कुल का बताया है कवि ने अपनी कृति भी इन्हीं को समर्पित की है। ग्रन्थ समाप्ति की तिथि निम्न प्रकार दी गई है—

बारहसयइं गयइं कयहरिसइं। अट्ठोत्तरइं महीयले वरिसइं।
कसणपक्खे अग्गहणे जायए। तिज्जदिवसे ससिवारि समायए॥

अर्थात् १२०८ वर्ष व्यतीत होने पर मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया चन्द्रवार को समाप्त किया।

३—सेन संघ में श्रीधर नाम के एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, यह काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ, नाना शास्त्रों के पारगामी विश्वलोचन कोश के कर्त्ता हैं। इनके गुरु का नाम मुनिसेन बताया जाता है।

४ श्रीधरदेव—श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४२ और ४३ में इस नाम के दो आचार्य आये हैं। एक आचार्य दामनन्दि के शिष्य और दूसरे मलधारि देव के शिष्य। इस नाम के एक आचार्य वैद्यामृत के कर्त्ता भी माने गये हैं। शास्त्रसारसमुच्चय के टीकाकार माघनन्दी ने अपनी गुरुपरम्परा में भी श्रीधरदेव का नाम बताया है।

गणितसार के रचयिता का पूरा नाम श्रीधराचार्य है, आचार्य शब्द भी इनके नाम के साथ जुड़ा हुआ है अतः प्रसिद्ध गणितज्ञ श्रीधराचार्य उपर्युक्त विद्वानों से भिन्न हैं।

नन्दिसंघ बलात्कारगण के आचार्यों में श्रीधराचार्य का नाम यथावत मिलता है। दशभक्त्यादि महाशास्त्र में कविवर वर्धमान ने नन्दिसंघ बलात्कारगण की गुर्वावली निम्न प्रकार दी है :—

वर्द्धमान भट्टारक, पद्मनन्दी, श्रीधराचार्य[1], देवचन्द्र, कनकचन्द्र, नयकीर्त्ति, रविचन्द्रदेव, श्रुतकीर्त्तिदेव, वीरनन्दी, जिनचन्द्रदेव, भट्टारक वर्धमान, श्रीधर पंडित, वासुपूज्य, उदयचन्द्र, कुमुदचंद्र, माघनंदी, वर्द्धमान, माणिक्यनंदी, गुणकीर्त्ति, गुणचंद्र, अभयनंदी, सकलचंद्र, त्रिभुवनचंद्र, चंद्रकीर्त्ति, श्रुतकीर्त्ति, वर्द्धमान, त्रैविद्य वासुपूज्य, कुमुदचंद्र और भुवनचंद्र।

उपर्युक्त गुर्वावली में श्रीधराचार्य और श्रीधर पंडित ये दो व्यक्ति आये हैं। इनमें

---

१ तस्यमौखण्पद्मनन्दीत्रैविद्येशो गुणालय:। अभवच्छ्रीधराचार्यस्तत्सधर्मामहाप्रभ:॥

—दशभक्त्यादि महाशास्त्र पृ० १०१

श्रीधराचार्य गणितसार, जातक तिलक, कन्नड़ लीलावती आदि ज्योतिष विषयक ग्रंथों के रचयिता और श्रीधर पंडित जयकुमार चरित के रचयिता हैं।

श्रीधराचार्य का समय

'कर्णाटक कवि चरिते' के एक उद्धरण से पता लगता है कि श्रीधराचार्य के 'जातक-तिलक' का रचनाकाल १०४९ ईस्वी है। महावीराचार्य के गणितसार में—

"धनं धनर्णयोर्वर्गों मूले स्वर्णे तयोः क्रमात्।
ऋणं स्वरूपतोऽवर्गो यतस्तस्मान्नतत्पदम्॥"

यह श्रीधराचार्य का सूत्र आया है, इससे स्पष्ट है कि श्रीधराचार्य महावीराचार्य के पूर्ववर्ती हैं। महावीराचार्य ने अपने गणितसार में अमोघवर्ष का निम्न प्रकार स्मरण किया है :—

श्रीणितः प्राणिशस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैपिणा॥

× × ÷ ×

विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्द्धतां तस्य शासनम्॥

इससे स्पष्ट है कि अमोघवर्ष के शासनकाल में गणितसार की रचना हुई है। इस राष्ट्रकूटवंशी राजा[1] का समय ईस्वी सन् ८१५ से ८६५ तक माना जाता है। इसीलिये ऐतिहासिक विद्वानों ने गणितसार का रचनाकाल नवीं शताब्दी का मध्य भाग माना है; अतएव श्रीधराचार्य का समय ईस्वी सन ८५० के पहले मानना पड़ेगा।

इन गणितज्ञ आचार्य का उल्लेख भास्कराचार्य[2], केशव[3], दिवाकर[4] दैवज्ञ आदि ने आदर सहित किया है।

श्रीधराचार्य द्वारा विरचित ज्योतिर्ज्ञानविधि में एक प्रकरण प्रतिष्ठा मुहूर्त्त का है, इस

१—देखें 'प्राचीन भारत के राजवंश' भाग ३ पृ० १२

२—यत् पुनः श्रीधराचार्य ब्रह्मगुप्त्यादिभिर्व्यासवर्गाद्दशगुणात्पदं परिधिः स्थूलोऽप्यङ्गी कृतः स सुखार्थम्। नहि ते जानन्तीति—सिद्धान्त शि० गो० भुवनकोष श्लो० ४२ टीका।

३—श्रेष्ठं रिष्टहनौ वशाक्रम् इहौजः श्रीधराद्योदितम्।
कष्टेष्टप्रफलान्तरात् यत्र च कृतं तद्युक्ति शून्यं त्वसत्॥
—केशवीय पद्धति श्लो० ३२

४—य तु श्रीपतिनेष्टकष्ट गुणित फलयोरन्तराद्धलमित्युक्त तत्र यतस्तथा क्षति रिष्टकरस्यभङ्गकस्येत्यादि। —केशवीय पद्धति श्लो० ३२ की टीका।

प्रकरण के समस्त श्लोक वसुनंदी प्रतिष्ठापाठ में ज्यों के त्यों उद्धृत[1] हैं। ज्योतिर्ज्ञानविधि ज्योतिष का स्वतंत्र ग्रंथ है, अतः प्रतिष्ठापाठ के मुहूर्त्त विषयक श्लोक इसमें से लिये गये हैं। जैन साहित्य में वसुनंदी नाम के तीन विद्वान् हुए हैं—एक का समय वि० सं० ५३६, दूसरे का वि० सं० ७०४ और तीसरे का वि० सं० १३९५ है। मेरा अनुमान है कि अंतिम वसुनंदी ही उक्त प्रतिष्ठापाठ के रचयिता हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि वि० सं० १३९५ में श्रीधराचार्य के प्रतिष्ठा मुहूर्त्त श्लोकों का संकलन वसुनंदी ने किया होगा।

श्रीधराचार्य के समय निर्धारण के लिये एक और सबल प्रमाण ज्योतिर्ज्ञानविधि का है। इस ग्रन्थ में मासध्रुवा साधन की प्रक्रिया करने में वर्तमान शकाब्द में से एक स्थान पर ७२० और प्रकारान्तर से पुनः इस क्रिया के साधन में ७२१ घटाये जाने का कथन है। ज्योतिष शास्त्र में यह नियम है कि अहर्गण साधन के लिये प्रत्येक गणक अपने गत शकाब्द के वर्षों को या वर्तमान शकाब्द के वर्षों को क्रिया करते समय के शकाब्द के वर्षों में से घटाकर अन्य क्रिया का विधान बतलाता है। उदाहरणार्थ ग्रहलाघव आदि करण ग्रन्थों को लिया जा सकता है। इन ग्रन्थों के रचयिताओं ने अपने समय के शकाब्द को घटाने का विधान बताया है। अतएव यह निश्चित है कि श्रीधराचार्य ने भी अपने समय के गत शकाब्द और वर्तमान शकाब्द को घटाने का विधान कहा है। जहाँ इन्होंने क्रिया करते समय के शकाब्द में से ७२० को घटाने का विधान निर्देश किया है, वहाँ वह गत शकाब्द माना जायगा और जहां ७२१ के घटाने का कथन है, वहाँ वह वर्तमान शक है।

इसके अलावा एक अन्य प्रमाण यह भी है कि प्रकारान्तर से मासध्रुवानयन में ७२१ को करणाब्दकाल बतलाया है, जिससे निश्चित है कि ७२१ शक में ज्योतिर्ज्ञानविधि की रचना हुई है।

१—पञ्चांगातिथिसंशुद्धिर्लग्नं षड्वर्गगोचरम्। शुभाशुभनिमित्तं च लग्नशुद्धिस्तु पंचधा ॥
वारास्तिथिभयोगाश्च करणं पंचधा तिथि। त्यक्त्वा कुजं रवि सौरिं वाराः सर्वेऽपि शोभनाः ॥
सिद्धामृतादियोगेषु कुर्यात्तेष्वपि मंगलम्। त्यक्त्वा रिक्तामामावस्यां सर्वास्तु तिथयः शुभाः ॥
रिक्तास्वपि समाश्रित्य योगं कार्याणि कारयेत। सिद्धयोगमपि प्राप्य सिनिवालीं विवर्जयेत् ॥
पुनर्वसूत्तरापुष्यहस्तश्रवणरेवतीरोहिण्याश्विमृगर्क्षेषु प्रतिष्ठां कारयेत्सदा।
चित्रास्वातिमघामूले भरण्यां तदभावतः नक्षत्रेष्ववशेषेषु प्रतिष्ठां नैव कारयेत् ॥
—वसुनन्दी प्रतिष्ठापाठ परिच्छेद ३ श्लोक १—६

पञ्चाङ्गतिथिसंशुद्धिर्लग्नं षड्वर्गगोचरम्। शुभाशुभनिमित्तं च लग्नशुद्धिस्तु पञ्चधा ॥
वारास्तिथिभयोगाश्च करणं पंचधा तिथि। त्यक्त्वा कुजं रवि सौरिं वारा सर्वेऽपि शोभनाः ॥
सिद्धामृतादियोगेषु कुर्यात्तेष्वपि मंगलम्। त्यक्त्वा रिक्तामामावस्यां सर्वास्तु तिथयः शुभाः ॥
रिक्तास्वपि समाश्रित्य योगं कार्याणि कारयेत्। सिद्धियोगमपि प्राप्य शनिवारे विवर्जयेत् ॥
—ज्योतिर्ज्ञानविधि पृ० ६६।

करथि न्यूनं शकाब्दं करणाब्दं रयगुणं द्विसंस्थाप्य ।
रागहृतमदोलब्धं गतमासांश्चोपरि प्रयोज्य पुनः ॥१॥
संस्थाप्याधो राधागुणिते खगुणं तु वर्षरेखादि ।१।
संत्याज्ये नीचाप्ते लब्धा वारास्तु शेषाः घटिकाः स्युः ॥२॥ ज्यो० पृ० ५

अर्थात्—करथि—७२१ करणाब्द शक को वर्तमान शक में से घटाकर १२ से गुणा कर गुणनफल को दो स्थानों में रखना चाहिये। एक स्थान पर ३२ से भाग देने से जो लब्ध आये उसे गतमास समझना और इन गतमासों को अन्य स्थान वाली राशि में जोड़ देना चाहिये। पुनः तीन स्थानों में इस राशि को रखकर एक स्थान में ६२ से, दूसरे में २ से और तीसरे में २२ से गुणाकर क्रमशः एक दूसरे का अन्तर करके रख लेना। जो संख्या हो उसमें ६२ से भाग देने पर लब्ध वार और शेष घटिकाएँ होती हैं।

यहाँ पर ७२१ शक संवत् ग्रन्थ रचना का समय बताया गया है। महावीराचार्य ने इसीलिये अपने पूर्ववर्ती जैन धर्मानुयायी श्रीधराचार्य का अनुसरण किया है। हाँ, यहाँ पर एक शंकास्पद बात यह रह जाती है कि 'जातक तिलक' का जो रचनाकाल माना है, उसके साथ कैसे समन्वय होगा ? इस शंका का उत्तर यह है कि जहाँ तक मुझे मालूम है 'जातक तिलक' में ग्रन्थकर्त्ता ने रचनाकाल नहीं दिया है, केवल भाषा आदि के आधार पर उसका रचनाकाल निश्चित किया गया है। अतएव इनका समय १०४९ ईस्वी नहीं माना जा सकता। इनकी प्राचीनता का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि गणितसार के गणित सम्बन्धी जो सिद्धान्त हैं, उनका जैन सम्प्रदाय में ईस्वी सन् ३ री और ४ थी शताब्दी में खूब प्रचार था। प्राचीन गणित के अन्वेषक विद्वानों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि वृत्तक्षेत्र की परिधि निकालने का नियम "व्यास वर्ग को दश से गुणाकर वर्गमूल परिधि होती है" जैन सम्प्रदाय का है। वर्तमान में उपलब्ध सूर्य सिद्धान्त से पहले के जैन ग्रन्थों में यह करण सूत्र पाया जाता है। जैनेतर प्रायः सभी ज्योतिर्विदों ने इस सिद्धान्त की समालोचना की है तथा कुछ लोगों ने जोरदार खण्डन भी। श्रीधराचार्य ने जैन मान्यता के इसी सूत्र का अनुसरण किया है तथा प्राचीन जैन गणित के मूल तत्त्वों का विस्तार किया है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि **इनका समय इस्वी सन् की ८ वीं सदी का अन्तिम पाद है।**

श्रीधराचार्य के ज्योतिर्ग्रन्थ और उनका परिचय

दक्षिण भारत में अनेक शताब्दियों तक ज्योतिष ज्ञान की धारा अबाधित रूप से प्रवाहित होती रही है। ईस्वी सन् की ४ थी शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी तक अनेक धुरन्धर ज्योतिर्विद दक्षिण में हुए हैं। जैन गणित और ज्योतिष का प्रचार भी जितना

दक्षिण में था, उतना उत्तर में नहीं। फलतः श्रीधराचार्य के बहुत ही कम ग्रन्थों का प्रचार उत्तर में हुआ है। जो दो-एक ग्रंथ दक्षिण से प्रतिलिपि हो उत्तर में आये भी, उन्हें अपने में पचाने के लिये सम्प्रदाय विशेष के चिन्ह भूत मङ्गल श्लोक बदल दिये गये। अथवा यह भी संभव है कि प्रतिलिपि कर्त्ता को अन्य सम्प्रदाय के इष्टदेव का नाम लिखना अभीष्ट न हो, इसलिये आसानी से नाम बदल कर अपने इष्टदेव का नाम उस स्थान पर लिख दिया हो। अस्तु,

गणितसार के अन्त में एक श्लोक मिलता है जिससे इनकी विद्वत्ता का अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है :—

उत्तरतो हिमनिलयं दक्षिणतो मलयपर्वतं यावत्।
प्रागपरोदधिमध्ये नो गणकः श्रीधरादन्यः॥

इससे स्पष्ट है कि श्रीधराचार्य की कीर्त्ति कौमुदी उस समय समस्त भारत में व्याप्त थी। ज्योतिषशास्त्र के मर्मज्ञ महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनकी प्रशंसा करते हुए हुए कहा है कि :—

"भास्करेणाऽ[1] स्यानेकेप्रकारास्तस्करवदपहृताः। अहो सुप्रसिद्धस्य भास्करादितोऽपि प्राचीनस्य विदुषोऽन्यकृतिदर्शनमन्तरा समये महान् संशयः। प्राचीना एक शास्त्रमात्रैकवेदिनो नाऽऽसन् ते च बहुश्रुता बहुविषयवेत्तार आसन्नत्र न संशयः।"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि श्रीधराचार्य के अनेक नियमों को भास्कर जैसे धुरन्धर गणकों ने ज्यों का त्यों अपना लिया है। इनके उपलब्ध चार ग्रंथों में से दो ग्रन्थ मुझे देखने को मिले हैं।

कुछ दिन पहले गणितसार या त्रिशतिका की नागरी अक्षरों में लिखी प्रति भारतीय ज्ञानपीठ काशी के अध्यक्ष श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य द्वारा प्राप्त हुई थी। यद्यपि इस समय वह प्रति मेरे समक्ष नहीं है, केवल संक्षिप्त नोट्स हैं। इन संक्षिप्त नोट्सों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ गणित शास्त्र का अद्भुत है। इसमें अभिन्न गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्नसमच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध, भागमातृजाति, त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक भाण्ड-प्रतिभाण्ड, मिश्र व्यवहार, भाजक व्यवहार, एक पत्रोपकरण, सुवर्णगणित, प्रक्षेपक गणित, समक्रय-विक्रय गणित, श्रेणीव्यवहार, क्षेत्रव्यवहार, एवं छायाव्यवहार के गणित उदाहरण सहित दिये गये हैं। इस ग्रन्थ का जैन एवं जैनेतरों में बड़ा भारी प्रचार रहा है। गणित तिलक की संस्कृत भूमिका में कहा गया है कि...

१—देखें गणकतरंगिणी पृ० २४।

'गीर्वाणगीर्गुम्फितो मनोरमविविधच्छन्दोनिबद्धः सपादशतपद्यप्रमितो गणित-तिलकसंज्ञकोऽयं ग्रन्थः श्रीधराचार्यकृतत्रिशत्याधारेण निर्मित इत्यनुमीयते कतिपयानां पद्यानां साम्यावलोकनेन ।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि श्रीपति ने इनके गणितसार के अनुकरण पर ही अपने गणित ग्रन्थ की रचना की है। श्री सिंहतिलकसूरि ने अपनी तिलक नामक वृत्ति में गणितसार का आधार लेकर गणित विषयक महत्ताओं[2] का प्रदर्शन किया है। इन्होंने अपनी वृत्ति में श्रीधराचार्य के सिद्धान्तों को दूध-पानी की तरह मिला दिया है।

श्रीधराचार्य के एक बीज गणित की सूचना भास्कराचार्य ने दी है, परन्तु वह अभी तक मिला नहीं है। मेरा विश्वास है कि दक्षिण के किसी जैन ग्रन्थागार में वह अवश्य होगा। यदि सम्यक् अन्वेषण किया जाय तो उसके मिलने पर बीज गणित के विद्वानों के सम्मुख अनेक प्राचीन सिद्धान्त आजायँगे, जिनसे भारतीय गणित की अनेक समस्याओं की उलझन सुलझ जायगी। क्योंकि आधुनिक बीजगणित के एक वर्ण मध्यमाहरण में 'श्रीधर मैथड' के नाम से कुछ नियम पाये जाते हैं।

यह आचार्य केवल गणित के ही मर्मज्ञ नहीं थे, किन्तु त्रिस्कन्ध ज्योतिष के पण्डित थे। संहिता, होरा और सिद्धान्त इन अंगों पर इनका पूर्ण अधिकार था। जातक विषय को स्पष्ट करने के लिये इन्होंने कन्नड़ भाषा में जातक तिलक की रचना की है। इस ग्रन्थ का विषय नाम से ही स्पष्ट है। यत्र-तत्र उपलब्ध ग्रन्थ के सारांश को देखने से मालूम होता है कि बृहज्जातक के समान ही इसका विषय विस्तृत है तथा जन्मकुण्डली के फलादेश का कथन बहुत अनूठे ढंग से किया गया है।

कन्नड़ लीलावती नामक एक ग्रन्थ की सूचना भी मिलती है, इस ग्रंथ में प्रधानरूप से अङ्कगणित और मेन्स्युरेशन के गणित का प्रतिपादन किया गया है।

ज्योतिर्ज्ञानविधि—यह ज्योतिष शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें करण, संहिता और मुहूर्त्त इन तीनों विषयों का समावेश किया गया है। यद्यपि मेरे समक्ष इसकी अधूरी प्रति है, लेकिन जितना अंश है, उतना विशेष उपयोगी है। इस ग्रन्थ की रचना शैली गणितसार अथवा त्रिशतिका के समान है। दोनों ग्रन्थों के देखने से प्रतीत होता है कि ज्योतिर्ज्ञानविधि गणितसार से पहले की रचना है। वैसे उपलब्ध ग्रन्थ अत्यन्त भ्रष्ट है, अशुद्धियों से भरा पड़ा है। इसके प्रारम्भ में साठ सम्वत्सर, तिथि, नक्षत्र, वार, योग, राशि, एवं करणों के नाम तथा राशि, अंश, कला, विकला, घटी, पल आदि का वर्णन किया गया है। दूसरे परिच्छेद में मास और नक्षत्र ध्रुवा का विस्तार सहित विवेचन है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में शक संवत् निकालने का एक सुन्दर करण सूत्र दिया है—

१—देखें गणित तिलक पृ० ७२।

२—देखें गणित तिलक वृत्ति पृ० ४, ६, ११, १७, ६६ आदि।

षष्टिः षोडशगुणितं व्यपगतसम्वत्सरैश्च सम्मिश्रम् ।
नवशून्याब्धिसमेतं शकनृपकालं विजानीयात् ॥

अर्थात् बीती हुई सम्वत्सर संख्या को १६ से गुणा कर ६० जोड़ देने पर जो संख्या आवे, उसमें ४०९ और युक्त कर देने पर शक संवत् आ जाता है। तृतीय तिथ्याधिकार में मध्यम रवि, चन्द्र और स्पष्ट रवि, चन्द्र के साधन के पश्चात् अन्तरांशों पर से तिथि साधन की प्रक्रिया बताई गई है। इसमें मास-शेष-ध्रुवा पर से भी तिथि का साधन किया है, यह प्रक्रिया ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। चतुर्थ परिच्छेद में संक्रान्ति के साधन की क्रिया का सुन्दर वर्णन है। प्रारम्भ का श्लोक निम्न प्रकार है :—

नोनवगुण करणाब्दं वर्षोनं सुकलोद्धृतं वारम् ।
नच गुणतद्धृतशेषं घटिका श्रीधरयुक्तं तेन संक्रान्त्या ॥

यहाँ श्रीधर शब्द द्वयार्थक है; ग्रन्थकर्त्ता ने अपने नाम का निर्देश कर दिया है तथा श्री को धर शब्द से पृथक कर २९ जोड़े जाने वाली संख्या को भी बता दिया है। इस प्रकरण में दिन-रात का प्रमाण निकालने की निम्न विधि बतलाई गई है :—

मकरादि-कर्कटादिं ज्ञात्वा राश्यंशभुक्तिरिह खगुणा ।
तत्र नरातप युक्तं नीचहृतं दिवसरात्रिप्रमाणम् ॥

अर्थात्—मकर से लेकर मिथुन तक अभीष्ट सूर्य के राश्यादि ज्ञात करे। इस राश्यादि के अंश बनाकर अंशों को दो से गुणा कर, गुणनफल में १६२० जोड़े और योगफल में ६० का भाग देने से घट्यात्मक दिन प्रमाण आता है। कर्क से लेकर धनु तक अभीष्ट सूर्य के राश्यांशों के अंश बनाकर दो से गुणा करने पर जो आवे, उसमें १६२० जोड़ कर योगफल में ६० का भाग देने से घट्यात्मक रात्रि प्रमाण आता है।

इस दिन मान की प्रक्रिया से परम दिनमान ३३ घटी आयेगा। अब विचार यह करना है कि यह दिनमान किस स्थान में संभव है। क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता जिस स्थान का निवासी होता है प्रायः उसी स्थान के दिन-मानादि का निरूपण करता है। ज्योतिष गणित के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त दिनमान १९°।३८' अक्षांश वाले स्थान का है। विचार करने पर यह अक्षांश मद्रास प्रान्त के कई जिलों में आता है। अतः सुनिश्चित है कि श्रीधराचार्य ने अपने इस ग्रन्थ का निर्माण मद्रास प्रांत में किया है अथवा उनकी जन्मभूमि इस प्रान्त में रही होगी। अतएव यह आचार्य उत्तर भारत के निवासी नहीं हो सकते, क्योंकि उत्तर भारत में परम दिन मान ३६ घटी तक सम्भव है।

पंचम परिच्छेद में शनि, राहु, मंगल, बुध, गुरु और शुक्र इन ग्रहों के स्पष्टीकरण को बनाया है। तथा इन ग्रहों की गति साधन की क्रिया को बड़े ही सुन्दर ढंग से लिखी है।

छठवें परिच्छेद में ग्रहों के युद्ध का वर्णन किया गया है, प्रारम्भ में ग्रहयुद्ध की परिभाषा देते हुए कहा है---

राश्यंशकलाः सर्वाः यदा भवेयुः समा द्वयोर्ग्रहयोः ।
योगस्तयोस्तदा जायते च तद्युद्धमिति वाच्यम् ॥

अर्थात् जब दो ग्रहों के राशि, अंश, कला समान हों उस समय उन दोनों का योग युद्ध संज्ञक होता है। इस युद्ध के प्रधानतः पुरतःदृष्ट युद्ध और परतःदृष्ट युद्ध ये दो भेद बतलाये हैं तथा इनका विस्तार सहित वर्णन भी किया है। इसके पश्चात् सातवाँ परिच्छेद ग्रहणाधिकार नाम का है इसमें विक्षेप, लम्बन, नति आदि के सामान्य गणित के साथ ग्रहण की दिशा, ग्रास, स्पर्श, मोक्ष की मध्यम घटिकाओं का आनयन किया है।

आठवाँ प्रकरण लग्न साधन का है, इसमें शंकुच्छाया, पदच्छाया आदि नाना प्रकारों पर से लग्न साधन किया है। ग्रहों के संस्कार भी इस प्रकरण में बताये गये हैं। यह प्रकरण काफी बड़ा है, इसमें गणित के कुछ करण सूत्र भी दिये हैं। इसके अनन्तर लग्न शुद्धि प्रकरण है जिसमें प्रतिष्ठा मुहूर्त, यमघण्टक, कुलिक, प्रहरार्धपात, क्रकच, उत्पात, मृत्यु, काण, सिद्ध, अमृत आदि योगों के लक्षण दिये गये हैं। यद्यपि यह प्रकरण छोटा है, पर आवश्यक मुहूर्त सभी आ गये हैं। दसवें प्रकरण में नक्षत्रों के वृत्त, देवता, एवं शुभाशुभत्व का प्रतिपादन किया है। इससे आगे के प्रकरण नहीं मिलते हैं।

श्रीधराचार्य के ग्रन्थों को देखने से इनकी विद्वत्ता का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। बाह्य और अन्तः साक्ष्य के आधार से यह निश्चित है कि **यह जैन-मतावलम्बी दक्षिण भारत के निवासी थे।**

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन,
आरा

हुंचुच और वहां का सांतर राजा जिनदत्तराय

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री]

सामंत राजवंशों में सांतर वंश विशेष बलिष्ठ रहा। इस वंश के शासक आदि में उत्तर मथुरा के अधीश्वर थे। इनका वंश उग्र था। इनके चरित्र में गणनार्ह प्रथम व्यक्ति जिनदत्तराय है। इसीने ई० सन् ९ वीं (किसी-किसी के मत से ७ वीं) शताब्दी में वर्तमान तीर्थहल्लि तालुक तथा उसके आस-पास उपर्युक्त सांतर राज्य को स्थापित किया। यह देवी पद्मावती का परम भक्त था। राजा जिनदत्तराय के संबंध में 'जिनदत्तरायचरिते' आदि में निम्नलिखित उल्लेख उपलब्ध होता है—

पूर्व में उत्तर मथुरा में उग्रवंशी राजा साकार राज्य करता था। उसकी पटरानी श्रियला थी। इसे दीर्घकाल तक कोई संतान नहीं हुई। बाद देवी पद्मावती की उपासना से सौभाग्यवश इसे एक पुत्र रत्न पैदा हुआ। एक दिन साकार परिमित परिजनों के साथ विनोदार्थ वन-विहार के लिये निकला। वहां पर पद्मिनी जाति की एक भील कन्या को देखकर राजा मोहित हो गया और उसके पिता से कहकर उसे अपने साथ ही राजधानी में ले आया। हां, उसे लाते समय वह उसके पिता को यह वचन दे आया था कि उसके गर्भ में पैदा होनेवाले लड़के को ही राज्य दे दिया जायगा। थोड़े समय के बाद पद्मिनी के गर्भ से एक पुत्र पैदा हुआ।

राजा साकार पद्मिनी के साथ रहकर उसकी संगत से धीरे-धीरे मद्य, मांस आदि सभी अपेय एवं अभक्ष्य चीजों को चाव से खाने लगा। इतना ही नहीं, अंत में वह नरमांस का भी आदी हो गया। एक रोज अपनी वर्षगांठ के दिन, हाथी पर आरूढ हो, जुलूस में सम्मिलित श्रियला के पुत्र जिनदत्तराय को पद्मिनी ने देखा। उसी समय पद्मिनी के मन में यह बलवती चिंता पैदा हो गई कि इसके जीवित रहते मेरे पुत्र मारिदत्त को राज्य कदापि नहीं मिल सकता। अपनी इस असीम चिन्ता को राजा साकार से भी उसे प्रकट करना पड़ा। इस जटिल समस्या को हल करने के लिये दोनों ने मिलकर अंत में यही तय किया कि किसी भी उपाय से युवराज जिनदत्तराय को मरवाना सर्वथा अनिवार्य है।

इसके लिये यह उपाय सोचा गया कि युवराज के हाथ में एक नीबू, देकर उसे रसोइया को देने के लिये रसोई-घर में भेजा जाय और वहां पर रसोइया के हाथ से ही उसे मरवाया जाय। किया गया भी यही। परंतु इस षड्यंत्र से जिनदत्तराय न मारा जाकर उलटा पद्मिनी का पुत्र मारिदत्त ही मारा गया। कारण कि नीबू लेकर जब जिनदत्तराय रसोई-घर में जा

रहा था, तब विधिवश अचानक मार्ग में उसे मारिदत्त से भेंट हो गई। इतने छोटे काम के लिये उस अपवित्र स्थान में सदाचार-संपन्न युवराज जिनदत्तराय को जाने न देकर साग्रह मारिदत्त स्वयं उस नीबू को रसोई-घर में ले गया। पूर्व में रसोइया से यही कहा गया था कि नीबू लेकर आने वाला जिनदत्त हो या मारिदत्त उसे तू मार डालना।

मारिदत्त के कतल से मा पद्मिनी तथा साकार को हृदय-विदारक दुःख हुआ। फलतः निर्दोषी युवराज जिनदत्तराय को पकड़ लाने के लिये अविचारी राजा ने तुरंत अपनी सेना ही भेज दी। यह समाचार मालूम होते ही जिनदत्तराय अपने श्रद्धेय गुरु श्री सिद्धान्त-कीर्ति की सलाह से पूज्या माता श्रियला से आज्ञा लेकर आत्मरक्षार्थ तत्क्षण ही कुलदेवी पद्मावती की मूर्ति को साथ लेकर अश्वारूढ हो दक्षिण भारत के लिये चल पड़ा।

इस प्रकार चलते-चलते जिनदत्तराय एक रोज एक सघन वन में जा पहुंचा और थका हुआ वह आयासपरिहारार्थ थोड़ी देर के लिये वहां पर लेट गया। थकावट से उसे तुरंत नींद आगई। बाद जगकर जैसे ही देवी पद्मावती की मूर्ति को वृक्ष पर से वह लेना चाहा मूर्ति वहां से नहीं उठी। इससे जिनदत्तराय बहुत चिन्तित हुआ और निरुपाय हो, वह वहीं पर फिर लेट गया। तब देवी पद्मावती ने स्वप्न में उसे यह आश्वासन दिया कि तुम चिंतित न होकर इसी स्थान पर अपनी राजधानी स्थापित करो, मैं हर प्रकार से तुम्हें सहायता करूँगी। इसी आश्वासन के फलस्वरूप राजा जिनदत्तरायने पोम्बुर्च या हुंमचा में अपना सांतर राज्य स्थापित किया।[1]

जिनदत्तराय के बाद इस वंश के राजाओं में विक्रम सांतर (ई० सन् ९००) विशेष प्रसिद्ध हुआ। बल्कि नन्नि सांतर (ई० सन् ९३८) इससे भी अधिक। एक प्रसंग पर गंग राजा भूतुग ने इसे आधे रास्ते से लिवा ले जाकर राजसभा में अपने सिंहासन में साथ ही बैठा लिया था। ई० सन् १२९२ में तृतीय वीर बल्लाल के राज्याभिषेक के अवसर पर द्वारसमुद्र शत्रुओं से घिरे जाने पर, उसे सांतर राजा पाण्ड्यदेव ने ही शत्रुओं से मुक्त किया था। सांतर वंश में केवल पुरुष ही नहीं, जाकल देवी, कालल देवी जैसी वीर महिलाएँ भी सुचारु रूपसे राज्य कर चुकी हैं।

हुंबुच में अन्यान्य अवसरों पर लिखवाये गये बहुत से शिलालेख हैं। इनमें पंचबस्ति तथा पद्मावती-बस्ति के लेख के लेखक मुनीन्द्र वर्धमान हैं। यह लेख उनके ग्रंथ "दशभक्त्या-

---

१ यह इतिवृत्त नगर तालुक नं० ३५, ई० सन् १०७७ के हुंबुच पंचबस्ति के आंगन में विद्यमान उग्रवंशी महामण्डलेश्वर नन्नि सांतर देव के एक लेख में भी उपलब्ध होता है। इसलिये उपर्युक्त यह उल्लेख निराधार नहीं कहा जा सकता।

दिशाका[1] में भी प्राय: यथावत् उपलब्ध है। इस लेख में खासकर आचार्यों की वंशावली में कई बातें विचारणीय हैं। उपर्युक्त इन लेखों के सिवा शेष लेखों में अधिकांश लेख प्राय: भूमिदान, समाधिमरण आदि कार्यों के ही सूचक हैं।

इस समय हुंबुच में निम्नांकित स्मारक वर्तमान हैं:—

(१) पंच बस्ति[2]—इसके पिछले हिस्से में एक ही पंक्ति में पांच कोठड़ियां एवं प्रत्येक में एक-एक विशालकाय जिन प्रतिमा विराजमान है। इनमें से सिर्फ दो ही प्रतिमाओं में चिन्ह है, शेष में नहीं। प्रतिमाएं करीब ४½ फीट की हैं। इसमें कोठड़ियों के सामने के विशाल हाल (Hall) में वर्तमान, शिलानिर्मित पद्मावती, सरस्वती तथा धरणेंद्र की मूर्तियां कलापूर्ण हैं। बाहर दरवाजे में स्थापित विशालकाय (७½ फीट की) शिलामय द्वारपालकों की मूर्तियां भी बहुत सुन्दर हैं। आंगन में रखी गई अंबिका की खण्डित मूर्ति भी कला की दृष्टि से अवश्य अवलोकनीय है। पूर्वोक्त सभी जिनप्रतिमाएं पद्मासन हैं। हां, यहां की एक पद्मासन जिनप्रतिमा में जिन का चिन्ह स्पष्ट दिखलाया गया है। मंदिर के आंगन में महत्त्वपूर्ण कई शिलालेख भी हैं।

(२) चंद्रनाथ बस्ति—यह पंचबस्ति के प्राकार के अंदर ही सामने दक्षिण पार्श्व में वर्तमान है। इसमें ५ फीट की भगवान् चंद्रनाथ की यक्ष-यक्षिणी सहित कायोत्सर्ग प्रतिमा है। प्रतिमा तथा मंदिर दोनों शिलानिर्मित हैं। मंदिर छोटा है।

(३) पार्श्वनाथ बस्ति—यह भी पंचबस्ति के प्राकार के भीतर ही चंद्रनाथ बस्ति के ठीक सामने, पंचबस्ति के वाम पार्श्व में विद्यमान है। इसमें करीब १½ फीट की पार्श्वनाथजी का कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसके छत पर नवग्रहों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। मंदिर छोटा एवं शिलामय है।

(४) मकल बस्ति—यह मंदिर शिलामय छोटा है। इसमें ४ फीट उन्नत शिलामयी पार्श्वनाथजी की प्रतिमा विराजमान है।

(५) पार्श्वनाथ बस्ति—यहां के मंदिरों में यह प्रमुख है। भीतर गर्भगृह में ४½ फीट की, पार्श्वनाथजी की शिलामयी पद्मासन की मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। बाहर तीर्थंकर मंडप में दोनों बगल में पार्श्वनाथ स्वामी की प्रत्येक ५½ फीट की दो मूर्तियाँ और हैं जो कि कला की दृष्टि से सर्वथा दर्शनीय हैं। इनमें कमठ के द्वारा किये गये उपसर्गों

---

१ इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। मेरे द्वारा संपादित वर्धमानकी की यह रचना 'भारतीय ज्ञानपीठ' काशी की ओर से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

२ दक्षिण में जैन मंदिर को बस्ति कहते हैं। यह वसति का अपभ्रंश है

का दृश्य सुंदर है। उपसर्ग सिंह, हाथी, भैंस आदि क्रूर पशुओं की उत्कीर्ण मूर्तियों के द्वारा दिखलाया गया है। मूर्तियां शिलानिर्मित कायोत्सर्ग की हैं।

(६) मठ की बस्ति—इसमें अष्टधातु की चंद्रनाथ स्वामी की कायोत्सर्ग मूर्ति है। मूर्ति करीब एक फीट की है। इसमें अष्टधातु की पद्मावती तथा सरस्वती की मूर्तियां मनोज्ञ हैं।

(७) भोगार बस्ति—इसमें लगभग ४½ फीट की पद्मासन प्रतिमा है, जिसमें चिन्ह नजर नहीं आता। प्रतिमा शिलानिर्मित सुन्दर है।

(८) सूले बस्ति—इसमें ३½ फीट की शिलानिर्मित चंद्रनाथ स्वामी की पद्मासन प्रतिमा है। मंदिर शिलानिर्मित छोटा है। बाहर विशालकाय एक शिलालेख भी है। मालूम होता है कि इसे किसी वेश्या ने बनवाया था। इसीलिये इसका यह नाम पड़ गया है।

(९) गुड्डे बस्ति—इसमें करीब ६ फीट की बाहुबली की शिलानिर्मित एक कायोत्सर्ग प्रतिमा है। स्थान बहुत रमणीय है।

पाँचवें नम्बर वाले पार्श्वनाथ मंदिर के बगल में देवी पद्मावती का एक मंदिर और है, जो कि बहुभाग शिला निर्मित है, बल्कि हुंबुच दक्षिण में देवी पद्मावती की वजह से ही विशेष प्रसिद्ध है। देवी जी के दर्शन के लिये दक्षिण के अन्यान्य भाग के (दूर-दूर के) जैन-जैनेतर अधिक संख्या में आया करते हैं। सुनने में आता है कि यहाँ पर भक्तों की कामनाएँ निश्चितरूप से पूर्ण हुआ करती हैं।

यहां की मूर्तियों में खासकर चमरवाहक बहुत बड़े-बड़े हैं। मूर्तियों का चेहरा भी भिन्न है। यहां पर राजमहल के खण्डहर को खोदने पर अभी भी पुराना चावल मिलता है। खुदाई से और भी अनेक पुरानी चीजें उपलब्ध हो सकती हैं। मैसूर सरकार को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। इसके लिये प्रयत्न करना जैन समाज का भी कर्त्तव्य है।

——:०:——

बखतरामरचित बुद्धि-विलास

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

भारतीय इतिहास के सम्यक् अध्ययन के लिये जैन साहित्य का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। जब तक इस दृष्टि से जैन वाङ्मय का अनुशीलन नहीं किया जायगा, भारतीय ऐतिहासिक ज्ञान अधूरा ही रहेगा। यदि कटु सत्य न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि जैन विद्वानों ने अभी तक साहित्यिक जगत के समक्ष अपने इतिहास को रखा ही नहीं है। श्वेताम्बर साहित्य की तो बात ही क्या, दिगम्बर साहित्य में भी पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री वर्तमान है। इस सम्प्रदाय के अपभ्रंश एवं हिन्दी ग्रंथों की प्रशस्तियों में बहुत कुछ सार्वजनिक एवं जैन इतिहास की अनमोल सामग्री सुरक्षित है। उनका एक विशाल संग्रह प्रकाशित होने से अनेक नवीन ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आयेंगे।

अभी कुछ मास पूर्व प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ में परमानन्दजी शास्त्री का एक लेख अवलोकन में आया जिसमें जैन-सिद्धान्त-भवन के संग्रहालय के कतिपय हिन्दी ग्रन्थों का परिचय दिया गया था उसमें बखतराम रचित बुद्धिविलास ग्रंथ को ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष उपयोगी बतलाने से मुझे उसे देखने की उत्कंठा हुई और पं० नेमिचन्द्र शास्त्री से उसकी प्रति प्राप्त कर सरसरी तौर से उसे देखने पर उसमें जयपुर के राजवंश, दि० भट्टारक परम्परा एवं खंडेलवाल जाति के इतिहास की कुछ सामग्री संग्रहीत मिली। अतः इस लेख में बहुत संक्षेप में उसका परिचय दिया जा रहा है। अन्य साधनों के अभी पास में न रहने के कारण विशेष विचार न किया जा सका। अन्य विद्वानों से अनुरोध है कि उसपर अन्य साधनों के आधार से विशेष प्रकाश डालें।

ऐतिहासिक साहित्य का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट रूप से लक्षित होती है कि जो ग्रंथ जिस समय रचा गया हो उसके निकटवर्ती समय की बातें तो प्रामाणिक होती हैं, पर प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में उसका उपयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिये। क्योंकि ग्रंथकार के लिये उनके निर्देश का आधार प्रायः सुनीसुनाई बातें या अस्त-व्यस्त रूप से लिखे हुए साधारण ग्रंथ ही होते हैं। अतः जहाँ तक अन्य समकालीन या प्रामाणिक सामग्री से उनका समर्थन न हो, उसकी सत्यता पर पूर्ण रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

ग्रन्थगत विषय एवं ग्रन्थनिर्माण के प्रेरक—

चाटसू के शाह बखतराम रचित बुद्धि-विलास ग्रंथ की रचना जैसा कि ग्रंथ में उल्लेख है सं० १८२७ के मगसर सुदी १२ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र में जयपुर में हुई

है। इस ग्रन्थ रचने की प्रेरणा उन्हें जयपुर के दि० नेमिनाथ मंदिर के भट्टारक गुणकीर्त्ति, पं० कल्यान एवं चांदूवाड़ संतोषिराम भावसा रूडमल से मिली थी यथा :—

अब सुनीये भविजन बात ये(क), देहुरे बने पुर में अनेक।
अति सुंदर सिव विष्णु जैन, तिनकी उपमां कहते बनै न ॥८१॥
खटमत के नरनारी प्रवीन, निजधर्म मांहि नित रहै लीन।
तिन मांझि देहुरा यक विसाल, तह राजत नेमप्रभु दयाल ॥

× × × ×

पंडित तहाँ राजत हैं कल्यान, बहु(त) तर्क न्याय बाचत पुरान।
निज धर्म कर्म में सावधान, बिन धर्म बात जिनके न आन ॥८२॥
गुनकीर्त्ति एक मुनिवर महान, तप करत अधिक जिन मत प्रमान।
तिनु आज्ञा दी यह रचहू ग्रन्थ, जामैं बहु विधि ह्वै जैन पंथ ॥८३॥
मुनसंघ गच्छगण आमनाय, जिनकी उतपति कहिये बनाय।
तिन मांझि फटे हैं अच्छ अनेक, गहि चलन नये सु कहौ प्रतेक ॥८४॥

× × × ×

श्रावग के हैं जो खांप गोत्र, तिनकौ वरनन करिये उदोत ॥६२॥

× × × ×

पुनि चांदूवाड संतोषिराम, भावसा रूडमल बुद्धि धाम।
मिलि कही ग्रन्थ रचिये अनूप, जातैं जाने जिणमत सरूप ॥६७॥

आधार :—

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित दि० संघभेद एवं भट्टारक परम्परा के इतिहास का मुख्य आधार इंद्रनंदि कृत नीतिसार (संस्कृत) एवं भद्रबाहु चरित का उल्लेख किया गया है एवं ८४ जाति नाम और खंडेलवाल के गोत्रादि के विषय में कई फुटकर पुस्तकों का उपयोग किया गया लिखा है। यथा—

प्रथम ग्रन्थ हौ संस्कृत नीतिसार हितकार,
इन्द्रिनंदि मुनि करि रचित जिनवानी अनुसार ॥६६॥

× × × ×

वे ही इंद्रनंदि रच्यौ संस्कृत नीतिसार, भाषा वखतेस करी ताहि प्रमान है ॥३३६॥

× × × ×

भद्रबाहु के चरित मैं, जे भाखी मुनिराय।
सो सब वाही ग्रन्थ की, भाषा धरो बनाय ॥४३॥

× × × ×

भद्रबाहु कौ चरित लखि, बरन्यौ है या माहि।
भविजन लखि मौ कौ कछु, दोस दीजियैं नाहि ॥६८०॥

× × × ×

पोथी पांच सात को देखि, कर विचार यह कीनौ लेख ॥६६६॥

× × × ×

लिखी सुनी जैसी प्रतिभासी, लखि विधिवत मति कीजौ हासी ॥७७३॥

× × × ×

संक्षिप्त-सार—

अब ग्रन्थ गत विषय का अति संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

१ प्राथमिक ६ पद्यों में मङ्गलाचरण के पश्चात् त्रिलोक का वर्णन है।

२ पद्यांक ५० से ढुंढार देश अंबावति नगरी, सवाई जैगढ के सवाई जैसिंघ के बसाने का उल्लेख करते हुए ५७ वें पद्य से कछवाह वंशीय जयपुर के राजवंश का परिचय दिया है। पद्यांक ८८ वें से जयपुर नगर का वर्णन १६६ वें पद्य तक बड़े विस्तार से करके दूरवर्ती जयपुर नरेशों का वर्णन पृथ्वीसिंह के नाम निर्देश के साथ १८३ वें पद्य में समाप्त होता है।

३ पद्यांक १८४ से जयपुर के नेमिप्रभु के मन्दिर, ग्रन्थनिर्माण की प्रेरणा आदि का उल्लेख करते हुए पद्यांक ११५ से नंदी, सिंघ, सेन, देव इन चार संघों की उत्पत्ति एवं उनकी शाखाओं का परिचय देते हुए मुनि आचार का वर्णन किया गया है। पद्यांक २९२ से शास्त्रकर्त्ता विद्वानों के नाम, पद्यांक ३३९ से विसंघों की उत्पत्ति में १ श्वेताम्बर, २ द्रावण, ३ यापनीय, ४ काष्ठा, और निपछ का वर्णन करते हुए श्वे० दि० के ८४ भेद एवं ढुंढियों का उल्लेख किया गया है। पद्यांक ५२८ से द्रावड संघ की उत्पति, पद्यांक ५३३ से यापनीय, पद्यांक ५३८ में काष्ठासंघ एवं निपछ संघ का वृत्तांत है। पद्यांक ५५६ से कुंदकुंद का चरित्र देते हुए कई प्रभावक आचार्यों का परिचय दिया है जिनमें प्रभाचंद्र[1] का परिचय एवं भ० सकलकीर्ति के गुजरात में दि० धर्म प्रचार, सं० १५७१ में ग्वालेर गच्छ, सं० १५७२ में नागौर

१ इनका समय १३७५ एवं दिल्ली के फिरोजशाह के समय में राघो चेतन से विवाद और अमावस्या को पूनम दिखलाने का निर्देश है। श्वे० आचार्यों में जिनप्रभसूरि भी इसी समय में हो गये हैं और उनके व जिनचन्द्र सूरि जी के चरित्र में भी ऐसी ही घटना का उल्लेख है।

गच्छ, सं० १७१७ में अजमेर पट्ट स्थापन, तेरहपंथ का सं० १६८३ में विकास, तारणपंथ की उत्पत्ति का निर्देश विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

४ पद्यांक ६३६ से भट्टारक परिपाटी का उल्लेख करते हुए पद्यांक ६५७ से पट्टावली—नामावली दी गयी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है।

५ पद्यांक ६८१ से जैन जातियों के ८४ नाम देकर पद्यांक ७०० से खंडेलवालों की उत्पत्ति का निर्देश कर खंडेलवालों के ८४ गोत्रों के नाम, उनका कुल भेद, कुलदेवी, का विवरण दिया गया है।

६ पद्यांक ७७५ से श्रावकधर्म का विस्तार से निरूपण प्रारंभ होता है। इसके अंतर्गत सैद्धान्तिक विषयों का एवं १६९ मुक्तिगामी जीव, २४ तीर्थंकरों के माता पितादि अनेक बातों का वर्णन किया गया है।

७ पद्यांक १२९४ से १३२२ में जयपुर में जैनों पर दो बार अत्याचार हुए उनका ऐतिहासिक उल्लेख विशेषरूप से विचारणीय है अतः उनका आवश्यक अंश यहां उद्धृत कर दिया जाता है :—

अथ कलकाल दोषकरि उपद्रव वरनन—

"संवत अठारह सै गये, उपर जबै अठारह भये।
तब इक भयौ तिवाडी श्याम, डिंभी अति पाखंड कौ धाम ॥१२९४॥
त्वछ अधिक द्विज सब तैं घाटि, दौरत हो साहन की हाटि।
कर प्रयोग राजावसि कियौ, माधवेस नृप गुर पद दियौ ॥९५॥
गलता वाला नद दै आदि, रहे भांकत बैठे वादि।
सब कौ ताहि सिरोमन कियो, पुनि वैसतं राज पद दियो ॥९६॥
लियौ आचमन पाव पखारि, सौंप्यो ताहि राज सब भार।
दिन कितेक बीते है जबै, महा उपद्रव कीन्हौ तबै ॥९७॥
हुकम भूप कौ लै कै चाहि, निसजिमाप देवल दिय ढाहि।
अमल राज कौ जैनी जहाँ, नाव न ले जिनमत कौ यहाँ ॥९८॥

सोरठा—अंबावति मै येक, स्यामप्रभु कौ देहुरौ।
रही धर्म की टेक, बच्यो सुजान्यौ चमत क्रम ॥९९॥

चौपई—कोउ आधौ कोउ सारो, बच्यौ जहाँ छत्रो रखवारो।
काहू में सिवमूरत धर दी, ऐसै मची स्याम की गिरदी ॥१३०१॥
और देव देवी रिसपाल, भट्टारिक जतिवर सुविशाल।
तेरहपंथ ढुढया अबै, फुनि सहु भेष ग्रहस्थहू सबै ॥१॥

श्वेताम्बर पंडित दै आदि, होणहार बलि ह्वै वादि ।
काहू नै न इती हू करी, फटकारे तै स्वमति हरी ।२।
निज मति भिष्ट करै जो कोय, ताहि विगारे अघ नहीं होय ।
काहू दैव न धारी भेष, ताकौ फल कछु दियौ विशेष ॥३॥
अकसमात् नृप कोप्यौ भारौ, दयौ दुपहर देस निकारौ ।
दुपटा धोती धरै द्विज निकस्यो, तिययुत पाप नु लखि जग विकस्यौ ॥४॥

सोरठा—किये पाप के कांम, खोवसि लयौ गुरु पद नृपति ।
यथा नाम गु(न) धाम, जीवत ही पाई कुगति ॥५॥
फुनिमति वरप ड्योढ़ में थप्यो, मिलि सब ही फिर अरहत जप्यौ ।
लिये देहुरे फिरि बिनाय, दैग्र कोउ प्रतिमा पधराय ॥६॥
नांचन कूदन फिर बहु लगे, धरम मांझि फिर अधिके पगे ।
पूजत पुनि हाथी सुखपाल, प्रभु चढ़ाय रथ नचै बिमाल ॥७॥
तब ब्राह्मन नु मतौ यह कियौ, सिव उठान कौं टौना दियौ ।
नामै सबै श्रावगी कैद, करकै दंड कियौ करि फैद ॥८॥
इक तेरहपंथि नु में धुमी, होतौ महा जोग्य साहमी ।
कहे खलनि के नृप सिर ताहि, हनि कैं धर्यौ असुचि थलवाहि ॥९॥
फुनि हूव्यौ त्यौ चाल्यौ धर्म, मूढ न समुझे कलिकौ मर्म ।
फिरि बहू नांचन कूदन लगे, श्रावग महा मूढ गुन पगे ॥१०॥
वाही विधि रथ जात्रा-धरै, पूजा बहुरि प्रतिष्ठा करै ।
ये न डरै औरनि न सुहात, गहै दडी कौ पोत रहात ॥११॥
फुनि भई छवीसा कौ साल, मिले सकल द्विज लघुरू विसाल ।
सबनि मतौ यह पक्को कियो, सिव उठान फुनि दूसन दियौ ॥१२॥
द्विजनु आदि मिले हजार, विना हुकम पाये दरबार ।
दौरि देहुरा जनि लिय लूटि, मूरति विघन करी बहु फूटि ॥१३॥
काहू की मानी नहीं कानि, कही कहुम (हुकम ?) हम कौ है जानि ।
ऐसी म्लेच्छन हू नहि करी, बहुरि दुहाई नृप की पीरी ॥१४॥

दोहा—लूटि लूटि सब ह्वै चुकै, फिरी दुहाई ठांस ।
कहनावति भई लुट गये, भाख्यौ कोस ॥१५॥

छतैं राज जयनगर मधि, बैठे सहु सावंत ।
लियौ भिखारिनु लूट पुर. जस फैल्यौं बिन अंत ॥१६॥

चौपई—तौहू सरम न आई काहू, जती भट्टारिक पंडित साहू।
काहू यह न विचारी नेक, जासौं रहे धर्म की टेक ॥१७॥
इष्ट मंत्र साधन की देव. काहू तनक न पकरी टेव।
आगैं हूं देव नु इष्ट, करि थाप्यौ हौ जिनमत भ्रिष्ट ॥१८॥

इसके पश्चात् आदि पुराणोक्त १०८ क्रिया ५ भाव ५३ भेद १४८ कर्म प्रकृति इत्यादि का वर्णन करते हुए ग्रन्थ समाप्त होता है ।

ग्रन्थ १५२४ दोहा, चौपई (क्वचित् कवित्त) में है और इसकी ६८ पत्रों की प्रति सं० १९८२ के भाद्रवावदी ९ की लिखी हुई है ।

अंत में कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं का संवत जिनका उल्लेख ऊपर नहीं किया गया है यहाँ कर दिया जाता है—

सं० ११९१ में मलेसी भूप अंबावति के राजा हुए ।

सं० १३६ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का पृथक् हुआ ।

सं० ५३६ पूज्यपाद के शिष्य वज्रनंदि ने क्रोधावेश से दक्षिण मथुरा में जाके द्रावड़ संघ स्थापित किया ।

सं० ७०५ कल्यानपुर में यापनीयसंघ निकला । अकलङ्क ने नये शास्त्र बनाये ।

सं० ७९२ में कुमार सेन से काष्ठासंघ प्रवर्तित हुआ ।

सं० ९९३ में मथुरा में रामसेन ने निपच्छ संघ चलाया ।

सं० १२४८ में धर्मचंद्र भट्टारक पट्ट पर बैठे । रणथंभौर में प्रतिष्ठा की, राजा हमीर से सन्मान प्राप्त किया ।

सं० ६८३ से महीकीर्त्ति आदि उज्जैन के १८ पट्ट हुए ।

सं० १०२३ से लक्ष्मीचंद्र गुणनंदि, गुनचंद और लोकचंद ४ पट्ट चंदेरी में हुए ।

सं० १०७९ श्रुतकीर्त्ति भावचंद्र और महिचंद ३ पट्ट भेदसा में हुए ।

सं० ११४० कुंडलपुर में माघचंद्र (१ पट्टधर) हुए ।

सं० ११४४ से वृषभनंदि आदि हाड़ौती के वारा नगरी में १२ पट्टधर हुए ।

सं० ११९९ से हेमकीर्त्ति आदि १४ पट्टधर चितौड में हुए ।

स० १६६२ प्रख्यात कीर्त्ति आदि ५ पट्टधर अजमेर में हुए । पद्मनंदि शुभचंद्र २ दिल्ली में हुए ।

स० १५७७ ग्वालेर में भ० जिनचंद्र हुए ।

सं० १५७१ प्रभाचंद्र चितौड़ में हुए ।

सं० १५८१ ललितकीर्ति आदि चाटसू में हुए।

सं० १६६१ में सांगानेर में नरेंद्रकीर्त्ति हुए।

स० १७२२ सुरेन्द्रकीर्ति, जगतकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति ३ आंबेर में हुए।

स० १७९२ दिल्ली में महेन्द्रकीर्ति पदस्थ हुए।

स० १८१५ सवाई जैपुर में खेमेन्द्रकीर्ति हुए।

स० १८२३ में सवाई जैपुर में सुरेन्द्रकीर्ति हुए। यहाँ तक सब ९८ पट्ट हुए।

स० १८०० के कुछ बाद दक्षिण विंध्याचल के निकटवर्ती पुष्कल नगर में वीरचंद्र ने भील संघ स्थापित किया।

वीर सान्तारदेव का एक शिलालेख !

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.]

दक्षिण भारत के अनेक राजवंशों में सान्तारवंश भी एक था। इस राजवंश के मूल पुरुष उत्तर-मथुरा से दक्षिण में पहुंचे थे। उनका नाम जिनदत्तराय था। वह उग्रवंश के क्षत्रिय-राजकुमार थे। जिनदत्तराय के पिता सहकार नामक राजा थे, जिन्होंने एक किरात-कन्या से विवाह किया था और उससे उत्पन्न हुये पुत्र को शासनाधिकारी बनाने की धुन में वह जिनदत्त राय के प्राणों के ग्राहक हो गये थे। हठात् जिनदत्तराय अपने प्राण लेकर मथुरा से भागे। साथ में उसकी मां भी होलीं; जिसने पद्मावती देवी की मूर्ति ले ली थी। वे मां-बेटा भाग कर दक्षिण-भारत के होम्बुच नामक स्थान पर पहुंचे। वहां उन्होंने एक जिनमंदिर बनवाया और उसमें ही पद्मावती देवी की भी मूर्ति विराजमान की। पद्मावती देवी के वर-प्रसाद से जिनदत्तराय आसपास के सरदारों को अपना अनुयायी बनाने में सफल हुये। धीरे २ सांतल प्रदेश पर उन्होंने अधिकार जमा लिया। इसी कारण उनका राजवंश 'सान्तार' नामसे प्रसिद्ध हुआ। पोम्बुच (होम्बुच) को ही उन्होंने अपना राजधानी बनाया; किन्तु बाद में सान्तारों की राजधानी कलस और कारकल में रही थी। सान्तार वंश के अनेक राजा जैनधर्म के उपासक थे; यद्यपि अन्तकाल में इस वंश के राजा लिंगायत-मत के अनुयायी हो गये थे। वीर सान्तार देव भी इसी वंश के एक प्रमुख राजा थे। उन्होंने सन् १०६२ से १०६८ ई० तक सान्तिलगे सहस्र प्रदेश पर न्यायपूर्वक राज्य किया था। उनका एक शिलालेख मैसूर रियासत के हेब्बयल नामक ग्राम के पास जंगल में पड़ा हुआ मिला था; जिसमें उनके मंत्री नगुलरस के दान धर्म का वर्णन है। मैसूर के पुरातत्त्व विभाग ने उसको संग्रहीत करके उसका सम्पादन 'अर्कलॉजिकल सर्वे ऑव मैसोर' (सन् १९३१) के नं० ७४ (पृ० १९४-२००) में किया है। वहां से ही हम इस उपयोगी लेख को 'भास्कर' में सधन्यवाद उद्धृत करते हैं।

इस शिलालेख में कुल १०८ पंक्तियां हैं। पहले ही चालुक्य-नरेश परम-भट्टारक त्रैलोक्य मल्लदेव के वर्द्धमान राज्य का उल्लेख है; क्योंकि सान्तर वंश के राजा उनके आधीन थे। उपरान्त सान्तर नरेश वीर-सान्तरदेव की विरुदावली दी गई है। वह महामंडलेश्वर और पट्टि-पोम्बुच नगर के स्वामी कहे गये हैं। पद्मावती देवी से उनको वर प्राप्त हुये थे। उग्रवंश में वह सूर्य तुल्य थे। उनके दरबार में कवियों की काव्यगोष्ठियां हुआ करती थीं। जैनधर्म के वह भक्त थे। उनके राजमंत्री नकुलरसर् (राजा नकुल) थे। वह भी जैनधर्म के भक्त थे। शिलालेख में उनकी जो विरुदावली दी गई है उससे उनका एक महान् पुरुष होना सिद्ध है।

वह एक सफल शासक और राजनीतिज्ञ होने के साथ ही महान् योद्धा भी [थे।] उस जमाने में राजमंत्री को युद्धों का संचालन भी करना होता था—सेनापति का उच्च पद भी उनको मिला हुआ था। अपनी वीरता के लिये वह 'सुभटारि-भय-करं' और शौर्य-गाङ्गेय' (भीष्म) कहे गये हैं। युद्ध में वह क्षेत्रपाल-तुल्य थे। जैनधर्म के लिए साक्षात् प्राकार थे—वह धैर्य-रत्नाकर जो थे धैर्य्य-महीधर थे वह। वसुधा पर वही एकाङ्गी वीर थे। विलास विद्याधर थे और नीति-परायण थे। सुकवि-कोकिलों के लिये सहकारी थे। ऐसे वह राजा नकुल थे। उनके दो पुत्र चावुण्डराय और नागवर्म्म थे। वे दोनों ही अपने पिता के समान वीरवर योद्धा थे। नकुलरस ने उन्हें सान्तरदेव के लिये उत्सर्ग कर दिया था। कितने बहादुर थे वह! राजा ने उनका आदर यह शासन लिखा कर किया।

राजा नकुल के गुरु आचार्य पुष्पसेन थे, जो शास्त्रागम के अम्बुधि ही थे। उनके पिता पडिहार (प्रतिहारि) काटि और माता अरेयव्वे थीं। नकुल भूपाल की रानी मृगलोचनी चट्टव्वरसि थी। वह दंडनायक ओड्डम की पुत्री थीं। चट्टव्वरसि गुणों से पूरित दान-धर्म्म और शील में उन्नत थीं। उनकी बराबरी करने वाला उस समय भला कौन था?

वैशाख कृष्ण ११ शक सं० ९७५ (१०७३ ई०) को वीर सान्तरदेव ने कलनाड आदि नकुलभूप को भेंट किये थे। यह शासनलेख मारसिंह के पुत्र गोविन्द ने रचा था और चित्रकार केटोज के पुत्र आग्बोज ने उसे उत्कीर्ण किया था।

इस प्रकार इस शिलालेख में आदर्श जैन वीर नकुलराय का चरित्र सुरक्षित है; जिसका पता किसी अन्य स्रोत से नहीं चलता। धन्य थे वह कि उन्होंने राजा के लिए अपने पुत्रों को उत्सर्ग किया था।

मूल शिलालेख :—

(१) १ स्वस्ति समस्त-भुवनाश्रय श्री-पृथ्वी-

२ वल्लभ महा-राजाधिराज परमे—

३ श्वर परम-भट्टारक सत्याश्रय-कुल—

४ तिलक चालुक्या-भरण श्रीमत्-त्रैलो—

५ क्यमल्ल-देवर विजय-राज्यम् उत्त—

६ रोत्तरा-भिवृद्धि-प्रवर्द्धमानम् आचन्—

७ द्रार्क्क-तारं सलुत्तमिरे स्वस्ति स—

८ मधिगत-पञ्च-महाशब्द-महा-म—

९ ण्डलेश्वरं पट्टि-पोम्बुच्च-पुरवरेश्वरं पद्मा—

१० वती-लब्ध-वर-प्रसादं मृगमदा-मोदं

११ कन्दुकाचार्य्य मन्दर-धैर्य्यं सुभट-संस्तु—
१२ त्यं साम्तरादित्यं रिपु-करीन्द्र-कण्ठीरवं रण—
१३ रंग-भैरवं कीर्त्ति-नारायणं सौर्य-पा—
१४ रायणं रिपु-मण्डलिक-गोत्र-गोत्राचल-वज्र
१५ दण्डं बिरुद-भेरुण्डं महोग्रान्वय-नमस्त—
१६ ल-गभस्तिमालिय् अतुल-बल-सौर्य—
१७ शालि बन्दि-संदोहा-नन्दीकृत-सुंदर-कल्पल—
१८ तांकुरन् अरि-मण्डलिक-पतंग-दीपांकु—
१९ रं विसिसन-विजय-विपुलीकृत-कृत
२० प्रतिज्ञं बिरुद-सर्वज्ञं नामा द्यनेकां—
२१ कमला-समलंकृतर् श्रीमत्

(२) २२ वीर-सान्तारदेवर सान्तलिगे—
२३ सासिरमुमं निष्कण्टक-मा—
२४ गि प्रतिपालिसि सुख-सन्क—
२५ था-विनोददि राज्यं गेय्युत्त—
२६ मिरे तत्-पाद-पद्मोपजीवि
२७ स्वस्ति समस्तदुस्तरा-रा—
२८ तीम-कुम्भस्थली-विदारुण-दा—
२९ रुण-करासि-धारा-सक्त-मुक्ता—
३० फल-मालालंकार वीर-नारी-म—
३१ णि-हारायित-भुजादण्डन् -अहि—
३२ त-महा-वाहिनी-महीधर-व—
३३ ज्रदण्डम् जिन-धर्म्म-प्राकारम्
३४ निज-गोत्र-निस्तारम् धर्म्म-रत्ना—
३५ करम् सुभटारि-भीकरम् पति—
३६ हितांजनेयम सौर्य-गां—
३७ गेयम् स्वामिद्रोह-दिशाप—
३८ ट्टम् वैरि-कोटि-घरट्टम् रण—
३९ रंग-क्षेत्रपालम मच्चुरिसु—
४० बर-ऐलदयसूलम् दलदिम—

४१ मुन्निरीव आयुमम् मे—
४२ रेवम् सुकवि-कोकिलसह—
४३ कारन एकांगवीरम् विलास-त्रि
४४ धारम् धैर्य्य-महाधरन
४५ उपाय-नारायणम् नीति-पा (चा ?)
४६ रायणम् वीरुगन-गरुड
४७ नामादि-समस्त प्रसस्ति-स
४८ हित श्रीमान नकुलरसर् (आगे इसके ऊपर)
४९ स्मर-रूपर्-उन्नर् नकुलर—
५० मन ननयर् उजगक्क रा—
५१ मन लक्ष्मीनरेन्द्रे—
५२ न्द्रडे चावुण्डराय—
५३ नृप नागवम्मन् कर—
५४ म पसदरे ॥ मंगल (सामने की तरफ)
(३) ५५ वृत्त ॥ केडेयद पे (म) महा-महिम-राज—
५६ सुन-प्रतिरन्तियेम्बिवं नडेयदे वीर सान्त—
५७ र-महापति ता दुयेगेयदु कोलवादं बि—
५८ डे निज-पुत्र नां बरिसेनिपा नेगलनयन एन्दे
५९ कोट्टन एन्दडे दोरेयारप्पगार नगुनभूप—
६० नोल् ई-वसुधा-ननाग्रदोलु । परम—
६१ श्रीजिनन इष्टदेवमेनपोर शास्त्राग
६२ मांमादिगल् गुरुगल भाविसे पु—
६३ ष्यसेन-मुनिपर् अन्तिप्रियं वीर-सा—
६४ न्तर भूमिपति तन्दे नां पडियरम
६५ श्री-कादि ताय पंपलक्कुरिसुत्तिलद अरे—
६६ यच्चे ये (ने) नगुनभूपालं महा—
६७ धन्यनो ॥ नगुलरसन चित्त-प्रिये
६८ मृग-लोचने दण्डनायक् ओजुगन (ऊपर का)
६९ ऐदु मनदिन सासि—
७० वर कण्डु काप -

७१ र अक्के इवन् अलिदं क --
७२ विलेयन् अलिदं (नीचे भाग में सीधे हाथ को:—)
७३ चिताारि कतोजन मर्ग बक्कु—
७४ गि आदरोजम् ई शासनद कल्लम्
७५ नेय्दम्
(४) ७६ पुत्रि गुणान्विते चट्ट—
७७ अबरसिगे दोरेयार् दाल—
७८ धर्म्म-शीलोन्नतियोल्
७९ शक-वर्ष ९७५ नेय दु –
८० र्म्मति-संवत्सरं प्रवर्त्तिसे
८१ वैशाखमासद कृष्णप—
८२ कद् एकादशि आदित्य—
८३ वारदन्दु श्रीमन्-महा—
८४ मण्डलेश्वरं वीर-सान्तर
८५ नगुलरमन्गे पेठ्वेय—
८६ ल-पन्नेरडरं किटुडेढे
८७ बिट्टियुमं काडु परिहा --
८८ रं बिट्ट अम्केगेडु कलनाड इन्ती—
८९ मर्यादेयन अलिदं वा—
९० रणाशियोल् कुरुते – (ऊपर को)
९१ त्रदोल सासिर-कविलेयु'
९२ पार्व्वरुमन् अलिद पातकन अ—
९३ कुं । स्व-दत्तां पर-दत्तां वा यो
९४ हारेत वसुंधरां षष्टि-वर्ष-स—
९५ हस्राणि विष्ठायां जायते कृ—
९६ मि । विप्र-कुलाम्बर-चन्द्रं
९७ श्री प्रतिमेय मारसिंग—
९८ तनयं विछ्रुद्द-विप्रं गंगनूप-नि—
९९ योग-प्रभु कविराज-बसनं गो—
१०० विन्दं (सिधी तरफ ऊपर क)

१०१ पेळर्वयल्-पन्नेरडु

१०२ पोम्बुरच-नाडोले

१०३ मट्टगावे हविगा

१०४ ल कवगोड मैसेपम्नेर—

१०५ डुम नेलिवयलु पा—

१०६ लिगारं । वीर (र) चिनु नगु ल --

१०७ रसनुम् एप्पिद्वेतम् सासिर—

१०८ गद्याणं ॥ मङ्गलं

———:o:———

साहित्य-समीक्षा

जैन-विवरण-पत्रिका—(जैन गैजेटियर) भाग १—जिला फर्रुखाबाद—संपादक तथा लेखक श्री कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०; प्रकाशक: श्री अ० भा० दिगंबर जैन परिषद् आगरा केंद्र। पृ० सं० २७।

जैन साहित्य और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान तथा लेखक श्री कामता प्रसाद जी की कृतियों से हिंदी जगत् भली भाँति परिचित है। आपने अनवरत परिश्रम से इस अमूल्य साहित्य के विविध अंगों का प्रकाशन सरल हिंदी भाषा में करके उसे जनसाधारण के लिये सुलभ किया है। प्रस्तुत पुस्तिका अनेक भागों में समाप्त होने वाले गजेटियर का एक भाग है और इसमें फर्रुखाबाद जिले में उपलब्ध जैन सामग्री का विवरण है। जिले की भौगोलिक स्थिति, प्राचीन इतिहास तथा प्रमुख स्थानों के संक्षिप्त वर्णन के साथ-साथ वर्तमान ज्ञातव्य बातों का भी संकलन इस पुस्तक में किया गया है, उदाहरणार्थ, जिले के वर्तमान जैन-निवास-स्थान, जैन मंदिर और संस्थाएँ, प्रमुख व्यक्ति आदि। पुस्तक में काफ़ी छानबीन के साथ जनसंख्या आदि के आँकड़े भी दिये गये हैं।

इस प्रकार की विवरण पत्रिकाओं का प्रकाशन लाभप्रद है। भारतीय समाज शताब्दियों से इस प्रकार अस्त-व्यस्त हो गया है कि उसके विवरणात्मक इतिहास को प्रस्तुत करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आशा है कि इस सीरीज में प्रकाशित होने वाली मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक पुस्तकों से अन्य धर्मवाले भी शिक्षा ग्रहण करेंगे और ऐसी ही योजना बनाकर उपयोगी साहित्य का प्रकाशन करेंगे।

वर्तमान पुस्तक में कई कमियाँ रह गई हैं। यदि प्राचीन इतिहास तथा प्रमुख स्थानों (विशेष कर कांपिल्य, कन्नौज तथा संकिसा) का विवरण कुछ विस्तार से दिया गया होता तो अधिक अच्छा होता। पृ० ४ और ५ पर शायद भूल से हर्षवर्धन को हूणवंशी छप गया है, वास्तव में वे वर्धन या वैस वंश के थे। पुस्तक में यत्र-तत्र प्रूफ की गलतियाँ भी रह गई हैं। आशा है कि विद्वान् लेखक उन्हें अगले संस्करण में सुधार देंगे।

दूसरे जिलों के विवरण भी इसी प्रकार कुछ विस्तार से निकलने चाहिएँ। आशा है कि श्री जैन जी के संपादकत्व में ये विवरण शीघ्र प्रकाशित होकर एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करेंगे।

कृष्णानन्द वाजपेयी एम० ए०

फरार की डायरी—लेखकः दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह; प्रकाशक हिमालय प्रकाशन प्रेस पटना; पृष्ठ संख्याः ४+१०+१२+२५२+१६; मूल्यः तीन रुपये आठ आने।

अगस्त सन् १९४२ की क्रान्ति में देश के अनेक युवकों ने हँसते हँसते भारत माँ की बेड़ी काटने के लिये अपने प्राणों की आहुतियाँ दी हैं। लेखक भी इस क्रान्ति में भाग लेने के लोभ का संवरण न कर सका, फलतः उसे कई महीनों का कारावास हुआ। कारामुक्त होने के अल्प समय के बाद फिर उसकी गिरफ्तारी का कुचक्र रचा गया। इस समय लेखक का प्रिय पुत्र रोगग्रस्त था, उसे अपनी पुत्री का विवाह सम्बन्ध करना था तथा और भी अनेक घरेलू झंझटें थीं, इसलिये गान्धीवादी होते हुए भी उसकी अन्तरात्मा ने उसे फरार होने के लिये प्रेरित किया। इस अवसर पर आपके हृदय में जो अन्तर्द्वन्द्व हुआ था, उसका सजीव चित्रण डायरी में किया गया है। इस सन् १९४३ की डायरी में लेखक के बन्दी और फरार जीवन का सुन्दर चित्र मिल जाता है। इस डायरी में सन् ४२ की दमन नीति का कच्चा चिट्ठा, राष्ट्र सेवकों की गतिविधि, बिहार प्रान्त के अग्रगण्य नेताओं का चरित्र चित्रण, ग्राम संगठन, दलितवर्ग का उत्थान, ग्रामोद्धार, शिक्षाप्रचार, जमीन्दारों के अत्याचार, पूँजीवाद के दोष एवं ग्रामीणों के विशुद्ध वात्सल्य का कलात्मक ढंग से वर्णन किया गया है।

कथानक की दृष्टि से इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग में जेल जीवन की कथा है। इसमें विद्वान् लेखक ने जेल के कलहमय जीवन का सचाई और निर्भीकता के साथ चित्र खींचा है। जेल अधिकारियों के दुर्व्यवहार की आलोचना भी साथ ही की गई है। हजारीबाग के जेल जीवन और आरा के जेल जीवन का तुलनात्मक विवेचन साहित्य और सचाई की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। बन्दियों की मानसिक दशाओं का चित्रण एक निष्पक्ष परीक्षक की दृष्टि से किया गया है। तटस्थता ऊँचे दर्जे की है, पक्षपात की भावना की गंध भी नहीं है। लेखक ने सत्य के न्यायासन पर बैठकर अपने सहयोगियों के दम्भ और मिथ्याचरण का भण्डाफोड़ किया है। एक सच्चे साहित्यकार के नाते आपने स्वयं अपनी कमियों और भूलों को भी बिना किसी हिचकिचाहट के जनता के समक्ष रखने में आनाकानी नहीं की है।

द्वितीय भाग में 'पसिया के टोले' की कथा है। यह कथा हृदयग्राही और रोचक है। इसमें सत्यता का चाहे जितना अंश हो, पर कल्पना की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। अछूतों के इस टोले में जाकर लेखक को अपार आनन्द प्राप्त हुआ है; वह वहाँ की दर्दनाक घटनाओं से तिलमिला उठा है। लेखक के पात्र सोभुआ और मंगरा का 'राजा और सेनापति' का नाटक सामाजिक विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित करने के लिये पर्याप्त है। इसमें सन्देह नहीं कि दलितों के जन्म जात संस्कार उन्हें कुरीतियों और कुआचरण के

लिये प्रेरित करते हैं, पर इस प्रेरणा में प्रधान हाथ शोषक वर्ग का भी होता है। आज समाज में जितना शोषण के कारण नग्न ताण्डव हो रहा है, उतना जन्म जात संस्कारों से नहीं। वस्तुतः यह शोषण ही इन संस्कारों का जन्म दाता है। निःसंकोच और निर्भय होकर विद्वान् रचयिता ने इन अन्तः और बाह्य द्वन्दों का सुन्दर निरूपण किया है। स्थान-स्थान पर रचयिता की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों की निजी अनुभूति होने के कारण रचना में मौलिकता और रोचकता आ गई है। इस भाग में कोल कन्या बुधिया का चरित्राङ्कन और सौन्दर्य वर्णन यथार्थवाद का उत्कृष्ट नमूना है।

सर्वत्र लेखक ने तटस्थ रहने का प्रयत्न किया है, लेकिन एकाध स्थान पर इस तटस्थता ने उसे संकोची बना दिया है, जिससे यथातथ्य चित्रण में त्रुटि आ गई है। पुस्तक की भाषा चलती फिरती है। राजनीति एवं साहित्य से अभिरुचि रखने वाले पाठकों को इसे मगाना चाहिये। भाषा और प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियाँ एकाध स्थान पर हैं जिनका अगले संस्करण में संशोधन होना आवश्यक है।

नारी जीवन—लेखकः दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह; प्रकाशकः इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग; पृष्ठ संख्याः २४० + १८; मूल्यः दो रुपये आठ आने।

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने नारीजीवन के लिये उपयोगी तत्त्वों का सुन्दर वर्णन किया है। प्रसंगवश स्थान-स्थान पर वर्तमान शिक्षापद्धत्ति, वैवाहिक प्रथा, संयम और आत्मनियन्त्रण एवं धर्म और राजनीति आदि विषयों की आलोचनाएँ ईमानदारी के साथ की गई हैं। लिखने की शैली पत्रात्मक है, जिससे पुस्तक में सरलता और आशुबोध-गम्यता पर्याप्त मात्रा में है। भारतीय नारियों के लिये जानने योग्य विगत सौ वर्षों की पाश्चात्य स्त्री-जीवन की आलोचना पक्षपात रहित आकर्षक ढंग से दी गई है; जिससे पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करने वाली बहनें बहुत कुछ सीख सकती हैं। आज अधिकांश दाम्पत्य जीवन इसीलिये कलहमय बने हुए हैं कि भारतीय नारी भी विदेशी नारियों की देखा देखी झूठा समानाधिकार का दावा कर यहाँ के आदर्श का छीछालेदर कर रही है। लेखक ने बड़े संयम के साथ आधुनिक भारतीय नारी जीवन के गुण-दोषों का विवेचन कर भारतीय आदर्शों का निरूपण किया है। इस निरूपण में उसने मातृजाति के साथ होने वाले अत्याचारों का भी खुले हृदय से विरोध किया है। लेखनी में ओज है, आत्मविश्वास है और साथ ही ईमानदारी भी। दाम्पत्य जीवन में कटुता पैदा करने वाले कपटाचरण, झूठ, परस्पर का सत्याग्रह, रोमान्सेज, हृदय मालिन्य, झूठी भावुकता एवं परस्पर का अविश्वास आदि बातों की सुन्दर विवेचना की है। पत्र नं० ६ में प्रतिपादित सभी बातें दाम्पत्य जीवन को मधुर बनाने में सहायक सिद्ध होंगी। पत्र नं० ७ में वर-वधू के चुनाव के अवसर पर की जाने वाली ज्योतिष गणना का वैज्ञानिक ढंग से समर्थन

किया है। जो लोग कुण्डली मिलने को ढोंग कहते हैं, उनका सौम्य ढंग से खण्डन किया गया है। लेखक ने अपने निजी विश्वास और अनुभव के आधार पर बतलाया है कि दम्पत्ति का स्वभाव, रुचि, शारीरिक गठन, सन्तान उत्पत्ति की क्षमता आदि बातों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान ज्योतिष के द्वारा संभव है, अतएव वरवधू के निर्वाचन में इस शास्त्र का प्रयोग करना परमावश्यक है। आज जो योग्य चुनाव नहीं हो पाता है, उसका मूल कारण प्राचीन विज्ञान की अवहेलना है।

पत्र नं० ८ में ब्रह्मचर्य का विश्लेषण बड़ी खूबी से किया है। इसमें प्राचीन और नवीन सभी मत मतान्तरों का समन्वय करते हुए महात्मा गान्धी के अनुभवों को बतलाया है। लेखक का विश्वास है कि वासनात्मक जीवन दम्पत्ति के लिये हानिकारक है, जहाँ व्यक्तिगत रूप से विलासी जीवन दुःखदायी है, वहाँ समाज और देश के लिये भी हानिकारक है। आज की नारी विलासिता के चंगुल में फसकर अपने देश का बड़ा अहित कर रही है। यह निश्चित है कि सर्वव्यापी प्रेम ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। पति-पत्नी जो एक क्षुद्र सीमा के अन्दर आबद्ध होकर प्रेम के दर्शन करते हैं, वह दर्शन उनका मिथ्या प्रतिभास है। इसलिये विद्वान् रचयिता ने वैवाहिक जीवन को संयमित बनाने पर जोर दिया है। विवाह का अर्थ उन्मुक्त वासनाओं की पूर्ति कभी नहीं समझना चाहिये। वर्तमान में विवाह-सीमा के भीतर आबद्ध पति-पत्नी को जो विलासिता का पासपोर्ट समाज की ओर से खुले रूप में मिल जाता है, तथा जिसका वे स्वच्छन्द हो प्रयोग भी करते हैं, लेखक ने घोर विरोध किया है।

पुस्तक केवल नारियों के लिये उपयोगी नहीं है, प्रत्युत पुरुष समाज के लिये भी। इसकी भाषा चलती फिरती है, कहीं कहीं विषय के अनुसार गम्भीर भी हो गई है। साहित्य प्रेमियों को स्वयं पढ़ना चाहिये तथा अपनी पत्नियों को अध्ययन करने के लिये इस पुस्तक को देना चाहिये।

मूल में भूल—अनुवादकः पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ; प्रकाशकः जमनादास माणेकचन्द रवाणी आत्मधर्म कार्यालय मोटा आंकड़िया; पृष्ठ संख्याः १३९; मूल्यः बारह आने।

इसमें भैया भगवती दास और पंडित बनारसी दास कृत दोहों पर पूज्य आध्यात्मिक रसिक कानजी महाराज के प्रवचन हैं। पुस्तक के प्रथम भाग में भैया भगवती दास के ४७ दोहों में वर्णित उपादान और निमित्त के संवाद को महाराज जी ने बहुत सुन्दर ढंग से समझाया है। उपादान और निमित्त का स्वरूप अनेक उदाहरण और प्रति उदाहरणों के द्वारा सुन्दर ढंग से बताया गया है। उपादान अपनी निज शक्ति है, यह जीव का मूल स्वभाव है और संयोग निमित्त है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप उपादान कारण के प्रकट होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो लोग निमित्त को आत्मगुणों के विकास

में कारण मानते हैं, वे अन्धेरे में हैं। निमित्त सर्वत्र वर्तमान हैं, जहाँ उपादान रहता है, वहाँ अवश्य कार्य होता है। उपादान के अभाव में निमित्त अकिञ्चित्कर है। इसलिये जो लोग निमित्त निमित्त कह कर अपने पुरुषार्थ की अवहेलना करते रहते हैं, उन्हें सचेत होकर उपादान पर विश्वास करना चाहिये। पूज्य कानजी महाराज ने उक्त दोहों के आधार पर प्रथम भाग में उपादान की प्रधानता का सुन्दर निरूपण किया है।

द्वितीय भाग में पं० बनारसी दास के दोहों पर महाराज का भाष्य है। इसमें उपादान और निमित्त का स्वरूप बहुत ही स्पष्ट और सरल ढंग से बताया है। अनुवादक महोदय ने गुजराती भाषा में लिखी गई, इस कृति का सुन्दर अनुवाद किया है। पढ़ते समय मूल रचना का आनंद आता है। छपाई-सफाई सुन्दर है, स्वाध्याय प्रेमियों को अवश्य मगाना चाहिये।

जैन-विवाह-संस्कार—प्रकाशक: सेठ मटरूमल बैनाड़ा, बेलनगंज आगरा; पृष्ठ संख्या : ७२।

इस पुस्तक का संकलन स्व० विद्वद्वर्य पं० नृसिंहदासजी के लिखित नोटों के आधार पर हुआ है तथा इसका संशोधन भी उन्हीं के चिरञ्जीवि पं० हेमचन्द्र शास्त्री ने किया है। पुस्तक के प्रारम्भ में वेदी की रचना, चतुर् षष्ठियंत्र एवं विनायक यंत्र के चित्र दिये गये हैं। विवाह कार्य के लिये आवश्यक वस्तुओं की सूची भी दी गई है। पश्चात् रीति-रस्मों का निरूपण किया गया है। अनन्तर पूजाएं और हवन के मन्त्र दिये गये हैं।

यों तो अबतक जैन समाज में कई विवाह विधियां प्रकाशित हुई हैं। पर इस प्रति में अन्य पुस्तकों की अपेक्षा कुछ विशेषता है। साधारण हिन्दी पढ़ा लिखा व्यक्ति भी इससे विवाह संस्कार आसानी से करा सकता है। इसकी पूजन में भी कई अर्घ्य विशेष दिये गये हैं। नवग्रहों के अर्घ्य का श्लोक निम्न प्रकार है—

सूर्यः शौर्यगुणं शशी कुशलतां सन्मगलं मंगलो।
बुद्धिं तत्त्वबुधां बुधो वितरताज्जावः शुभोज्जीवनम्॥
शुक्रः शुक्रतरं यशोतिविमलं मंदोप्यमंदश्चिरम्।
राहुर्बाहुबलं महार्घ्यमहितः केतुर्महीकेतुताम्॥

यह श्लोक 'मानसागरी' के प्रथम अध्याय का पाँचवाँ श्लोक है। चतुर्थ पाद के कुछ शब्दों में हेरफेर है। इस विवाह विधि में एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सम्पूर्ण जातियों के विभिन्न प्रान्त वासियों के लिये समान उपयोगी है। सेठजी का यह संस्कृति-प्रचार प्रेम श्लाघनीय है। जिन्हें आवश्यकता हो वे इसे उपर्युक्त पते से बिना मूल्य मगा लेवें। छपाई-सफाई साधारण है।

सिद्धान्त सूत्र समन्वय (षट्खण्डागम-सिद्धान्त रहस्य समझने की तालिका) —लेखक: न्यायालंकार पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना; सम्पादक: पं० रामप्रसाद शास्त्री, प्रकाशक: दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई; पृष्ठ संख्या: २६ + १७० ।

कुछ दिनों से जैन समाज में धवल सिद्धान्त के ९३ वें सूत्र में संजद पद है या नहीं विषय पर चर्चा चल रही है। यद्यपि चर्चा वीतराग कथा के आधार पर है, फिर भी विद्वानों के दो पक्ष हो गये हैं। एक पक्ष संजद पद की आवश्यकता पर जोर देता है और दूसरा पक्ष उसकी आवश्यकता नहीं मानता। तथापि दोनों ही पक्षवाले विद्वान् स्त्री पर्याय में मोक्ष का अभाव स्वीकार करते हैं, पर एक पक्ष के विद्वान् भाववेद की अपेक्षा कथन होने से उस पद की आवश्यकता मानते हैं, दूसरे द्रव्यवेद की अपेक्षा उस वर्णन को स्वीकार करते हुए संजद पद का अभाव स्वीकार करते हैं।

विद्वान् लेखक ने द्वितीय पक्ष की पुष्टि की है। आपने प्रथम पक्ष के विद्वानों का मत उद्धृत कर उनकी दलीलों का खण्डन किया है। वास्तविक स्थिति चाहे जो कुछ हो, पर ऊहापोह की दृष्टि से विचार अच्छा किया है। लेखक ने अपने गम्भीर अध्ययन के बल पर सिद्धान्त शास्त्र की अनेक बातों का स्पष्टीकरण किया है। ग्रन्थ प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी के पढ़ने लायक है।

हर्ष का विषय है कि अब उपर्युक्त विवाद विद्वत् परिषद् ने प्रायः समाप्त कर दिया है और पूज्य वर्णी जी की अध्यक्षता में 'संजद' पद का निर्णय हो गया है।

पुस्तक की छपाई-सफाई अच्छी है। भाव, भाषा आदि साहित्यिक दृष्टि से चीज अच्छी है।

श्रीस्वरूप-रत्नत्रय-श्रावकाचार—लेखक: त्यागी श्री स्वरूपचन्द्रजैन; प्रकाशक: भारतीय प्रकाशन मन्दिर एटा; पृष्ठ संख्या : ८५ + १६ ।

स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार के आधार पर इस पुस्तक की रचना हुई है। विषय भी प्रायः एक ही है। त्यागी जी ने हिन्दी छन्दों में इसका निर्माण कर हिन्दी भाषा के प्रेमियों का उपकार किया है। पद्य स्थान-स्थान पर दोष युक्त हैं, भाव-भाषा आदि की दृष्टि से भी ग्रन्थ सामान्य है। छपाई-सफाई साधारण है।

अन्य प्राप्त पुस्तकें

मानव जीवन की सफलता—लेखक : रामस्वरूप जैन विशारद; पृष्ठ संख्या : १३२; मूल्य: सवा रुपया।

लालचन्द (उपन्यास)—लेखक: वृन्दावन विहारी; प्रकाशक : साहित्य-कला-मन्दिर आरा; पृष्ठ संख्या: ९०; मूल्य: एक रुपया।

भारत जैन महामण्डल का संक्षिप्त इतिहास—लेखक: अजित प्रसाद एम० ए० प्रकाशक भारत जैन महामण्डल वर्धा पृष्ठ संख्या: ५० + १३; मूल्य: एक रुपया।

वह शिल्पी था (नयी शैली की नयी कहानियाँ)—लेखक: दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह; प्रकाशक: हिमालय प्रकाशन प्रेस पटना; पृष्ठ संख्या: ७८; मूल्य: एक रुपया दो आना।

धर्म क्या है?—लेखक: कुँवर श्री नेमीचन्द्र पाटनी; प्रकाशक: मगनलाल हीरालाल दि० जैन पारमार्थिक ट्रष्ट मदनगञ्ज (किशनगढ़)

वीर स्तुति—लेखक: श्री छोगालालजी महाराज; प्रकाशक मेघराजजी बबूरमलजी धाकड़ बड़ीसादड़ी मेवाड़।

जैन धर्म और अहिंसा—लेखक: ए० पी० शुक्ल बी० ए० साहित्य भूषण; एम० डी० एच० (यू० एस० ए०); प्रकाशक: सामयिक काशन मण्डल ३१, चाँदमारी रोड, हावड़ा; मूल्य: आठ आने।

आत्मवाद और एकान्त परिहार—लेखक: ब्रह्मचारी नन्दलाल; प्रकाशक: ब्रह्मचारी नन्दलाल, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला भिण्ड (ग्वालियर)

आत्मदर्शन—परमात्म छत्तीसी—अनुवादक: श्री नाथूरामजी; प्रकाशक: श्री जवरचंद फूलचंद गोधा जैन ग्रन्थमाला इन्दौर।

श्री पुष्पदन्त चालीसा और महावीर चालीसा—लेखक कंज बयाना: प्रकाशक: मोतीलाल गुलाबचंद जैन बोहरा बयाना (ग्वालियर)

इन पुस्तकों के अतिरिक्त माणिक्यचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला का कार्य विवरण, दि० जैन शिक्षा संस्था कटनी की विवरण पत्रिका, श्री शान्तिनाथ दि० जैन मन्दिर गोवाडी की पंच वार्षिक रिपोर्ट, श्री भुजबलिब्रह्मचर्याश्रम काकल का द्वितीय वार्षिक विवरण एवं दि० जैन श्राविकाश्रम सागवाड़ा की २२ वीं और २३ वीं वार्षिक रिपोर्ट भी समालोचनार्थ प्राप्त हुई हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी का समस्त प्रकाशन अभी समालोचनार्थ मिला है, जिसकी आलोचना अगले अंक में की जायगी।

जैन-सिद्धान्त-भवन,
आरा।

नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का संक्षिप्त वार्षिक विवरण।

[४-६-४६—२४-५-४७]

यह संस्था ३६ वर्षों से साहित्य जगत् की सेवा करती आ रही है। अपने इस ३६ वें वसन्त में भी इसने अनेक साहित्यिक संस्थाओं और व्यक्तियों को साहाय्य प्रदान किया है। अलभ्य ग्रन्थ रत्नों के संग्रह के साथ पुरातत्त्व की अन्य सामग्री का भी संकलन किया जा रहा है।

वीर निर्वाण संवत् २४७२ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर नि० संवत् २४७३ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक 'भवन' के सामान्य दर्शक रजिस्टर में ६७४५ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। दैनिक पत्रों की संख्या बढ़ जाने से वाचनालय में अच्छी उपस्थित होती रही है। विशिष्ट दर्शकों में निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं:—

श्रीमान् आचार्य बदरीनाथ वर्मा शिक्षा मंत्री विहार प्रान्त; कविवर पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' साहित्य-व्याकरण-आयुर्वेदाचार्य डुमराँव; श्रीमान शुकदेवनारायण राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा; श्रीमान् दिनेश बख्शी सदाकत आश्रम दीघा घाट पटना; श्रीमान् तेजनारायण लाल सदाकत आश्रम पटना; न्यायाचार्य श्रीमान पं० माणिक्यचन्द कौन्देय सहारनपुर; श्रीमान् रजनीकान्त शास्त्री बी० ए०, एल-एल० बी० बक्सर; श्रीमान पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी तथा मंत्री साहित्य विभाग दि० जैन संघ मथुरा एवं श्रीमान् काका कालेलकर हिन्दुस्तानी प्रचारक वर्धा। इन विद्वानों ने अपनी शुभ सम्मतियों द्वारा भवन को सुव्यवस्था एवं उसके संग्रह की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

प्रकाशन—'भवन' के इस विभाग में 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' तथा 'जैन एन्टीक्वेरी' का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा है। भास्कर उत्तरोत्तर लोकप्रियता को प्राप्त कर रहा है। इसके भाग १३ के सम्बन्ध में प्रो० नलिन विलोचन शर्मा पटना कालेज, पं० परमानन्द शास्त्री वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा, पं० दरबारीलाल न्यायाचार्य सरसावा, श्री० पी० के गोडे क्यूरेटर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना एवं प्रो० सुरेन्द्रनाथ घोषाल बंगवासी कालेज हावड़ा ने अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मतियाँ भेजी हैं। इनमें भास्कर की ठोस साहित्यिक सामग्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इसे केवल जैन संस्कृति का ही सेवक स्वीकार नहीं किया है, प्रत्युत समस्त भारतीय संस्कृति का सेवक माना है। श्रीमान् बा० दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, प्रधान मंत्री शाहाबाद जिला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने 'भास्कर' के सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए इसे इतिहास का एक मौलिक ग्रन्थ बताया है।

कागज और प्रेस की सुविधा होते ही अन्य प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया जायगा। प्रकाशन के लिये छोटे-छोटे दो तीन ग्रन्थ तैयार हैं।

परिवर्तन—इस वर्ष भवन के प्रकाशन से लगभग १००) रुपये के ग्रन्थ बदले में लिये गये हैं। निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाएँ भी भास्कर के परिवर्तन में भवन को प्राप्त होती रही हैं।

हिन्दी—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) विश्वभारती (३) सम्मेलन पत्रिका (४) साहित्य सन्देश (५) अनेकान्त (६) विज्ञान (७) आजकल (८) किशोर (९) वैद्य (१०) हिमालय (११) जिनवाणी (१२) संगम (१३) जैन महिलादर्श (१४) दिगम्बर जैन (१५) आरोग्य (१६) जैन बोधक (१७) वीर वाणी (१८) महावीर सन्देश (१९) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—इन्दौर (२०) वीर (२१) आत्मधर्म (२२) भारतीय समाचार (२३) वीर लोंकाशाह (२४) जैन मित्र (२५) जैन सन्देश (२६) जैन गजट (२७) जयहिन्द—दैनिक।

गुजराती—(१) जैन सत्य प्रकाश।

कन्नड़—(१) जय कर्णाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

तेलगु—(१) आन्ध्र साहित्य परिषद् पत्रिका।

अंग्रेजी—(1) Annalas of the Bhandarkar oriental Research Institute, (2) The journal of the University of Bombay (3) Karnatak Historical Review, (4) The Adiyar Library Bulletin (5) The journal of Annamalai University (6) The Poona orientalist, (7) The journal of the United Province Historical Society, (8) The quarterly of Mythic Society, (9) The Punjab oriental Research, a quarterly journal, (10) The journal of the Royal Asiatic Society of of Bengal, (11) The journal of the Royal Asiatic Society of Bombay (12) The Fergusson College Magazine (13) The journal of the Behar and Orissa Research Society (14) The journal of the Benares Hindu University (15) The Andhra University College Magazine and Chronicale (16) The journal of the Sindh Historical Society (17) The journal of tanjore Sarasvati Libraray (18) The Bombay Theosophical Bulletin (19) The Jain Gazete. (20) The Indian Litrary Review (21) The journal of the Canganath Jha Research Institute Allahabad (22) The Brahm Vidya.

इस प्रकार भास्कर के परिवर्तन में कुल ५५ पत्र-पत्रिकायें आती रही हैं। इनके अतिरिक्त (1) The Indian Historical quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक-संसार (५) दैनिक-संसार (६) The Searchlight (७) The Indian Nation

(८) आर्यावर्त ये पत्र मूल्य देकर भवन से मंगाये गये हैं। श्री० स्वरूपचंद जैन के सौहार्द से 'जय हिन्द' और बा० रघुनन्दन प्रसाद मिश्रटोला के सौहार्द से नवराष्ट्र और Amrit Bazar Patrika भी प्राप्त होते रहे हैं।

पाठक—भवन के सामान्य पाठक वे हैं जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। क्योंकि सर्व-साधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इन पाठकों के अतिरिक्त विशेष नियम से कुछ लोगों को घर ले जाने के लिये भी ग्रन्थ दिये गये हैं। इन ग्रन्थों की संख्या ३४९ है। इनमें स्थानीय व्यक्तियों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, स्याद्वाद महाविद्यालय काशी; श्रीमान् प्रो० गो० खुशालजैन एम० ए०, साहित्याचार्य, काशी विद्यापीठ बनारस; श्रीमान् पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री काशी; श्रीमान् पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ काशी; श्रीमान् पं० परमानन्द शास्त्री सरसावा; श्रीमान् बाबू कामता प्रसाद, एम० आर० ए० एस०, डी० एल०, अलीगंज; श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट, कोल्हापुर; श्रीमान् रामसिंह तोमर, एम० ए० रिसर्च स्कालर शान्ति निकेतन बंगाल; श्रीमान अगरचन्द नाहटा बीकानेर; श्रीमान प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास युनिवर्सिटी; श्रीमान उमाकान्त प्रेमचन्द शाह घड़ियाली पोल, बड़ौदा।

संग्रह—पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं बंगला आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ८० ग्रन्थ और अंग्रेजी के १०; इस प्रकार कुल ९० ग्रन्थ संग्रहीत हुए हैं।

'भवन' को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में दिगम्बर जैन स्त्री-समाज आरा, श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी आरा एवं व्यवस्थापक आर्केलोजिकल मैसूर आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ—(१) संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खंड ४ (२) अनित्य भावना, (३) सुशीला उपन्यास (४) सिद्धान्त दर्पण (तृतीय अंश) (५) फरार की डायरी (६) नारी जीवन (७) सिद्धान्त सूत्र (८) सामयिक पाठ संग्रह (९) श्री स्वरूप-रत्नत्रय-श्रावकाचार (१०) मानव जीवन की सफलता (११) लालचन्द (उपन्यास) (१२) भारत जैन महा मण्डल का संक्षिप्त इतिहास (१३) वह शिल्पी था (नयी शैली की नयी कहानियां) (१४) धर्म क्या है (१५) आत्मवाद और एकान्त परिहार (१६) आत्मदर्शन (१७) पुष्पदन्त चालीसा (१८) महावीर चालीसा।

साहित्यिक और धार्मिक सभाएँ—आरा नगर में भवन जैसा विशाल और सुरम्य हॉल दूसरा नहीं है इसलिये सांस्कृतिक एवं साहित्यिक समारोह प्रायः प्रत्येक महीने में होते रहे हैं। भवन की ओर से श्रुतपंचमी एवं महावीर जयन्ती के धार्मिक उत्सव भी समारोह पूर्वक मनाये गये हैं।

देवाश्रम, आरा।
२५-७-४७

चक्रेश्वर कुमार जैन
बी० एस-सी०, बी० एल०

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIII. JULY, 1947. No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Bau Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at :
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS OF THE JAINA ANTIQUARY

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XIII No. I | ARRAH (INDIA) | July. 1947.

SOME NOTES ON THE MANUSCRIPTS OF MEDICAL WORKS BY JAIN AUTHORS.

By

P. K. Gode M. A

Curator,

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

In the *Praśastisaṁgraha* or a Descriptive Catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS in the Jaina Siddhāntabhavan at Arrah (Bihar) published by my friend Pandit K. Bhujabali Shastri in 1942, he describes two medical works viz. (1) *Nidāna-muktāvalī* [1] (p. 13) and (2) *Madanakāmaratna* (pp. 14-15). The MSS of these works do not contain any descriptive *praśastis* and hence it is difficult to verify the names of their authors. The Colophon of the *Nidānamuktāvalī* reads "इति पूज्यपादविरचितायां स्वस्थारिष्टनिदानं समाप्तम्". Pandit Bhujabali Shastri informs us that in the body of the verses of this text there is no reference to *Pūjyapāda* or any other author of the text.

1. Bhujabali Shastri informs us that this MS is a copy of a MS in the Govt. Oriental Library, Madras.

It is, therefore, difficult to trust merely the Colophon in its statement that the work was composed by *Pūjyapāda* ("**पूज्यपादविरचितायां**"). The MS of the second work viz. the *Madanakāmaratna* does not also contain any *Praśasti*. It ends with a few verses describing the preparation of a medicine called "**पञ्चबाणरस**". In the last verse of the formula this preparation is ascribed to **पूज्यपाद** ("**पञ्चबाणरसो नाम पूज्यपादेन निर्मितः**"). From this statement also we are unable to conclude that *Pūjyapāda* was the author of this work. As the MSS under reference are not before me, I am unable to say anything about their authorship at present. I propose, however, to make some remarks on the chronology of one of the two works viz. the **मदनकामरत्न** on the strength of the description given by Pandit Bhujabali Shastri. The end of this MS records the formula of *Pañcabāṇa-rasa* as follows :—

"सुवर्णं रजतं कान्तं वैक्रान्तं तीक्ष्णमभ्रकम् ।
प्रवालं मुक्तभस्मितं नागवङ्गं च भास्करम् ॥१॥
एकैकसमभागं च सर्वतुल्यं रसेन्द्रियम् ।
तत्समं शुद्धगन्धश्च हंसपादीरसेन च ॥२॥
कौमारीरससंप्रोक्तं मर्दितश्च दिनत्रयम् ।
काचकुप्यन्तरं[1] क्षिप्त्वा विलेप्य वस्त्रमृत्तिकाम् ॥३॥
वालुकायन्त्रके पक्त्वा षड्यामान्ते समुद्धरेत् ।
चूर्णीकृतं ततःखल्वे शतपत्ररसेन च ॥४॥
दिनत्रयं च यत्नेन चाधिकं सहभावनात् ।
कस्तूरिकां च कर्पूरं भावयेन यथाविधि ॥५॥
शाल्मलीकानि लाक्षाश्च गान्धारी समम‍र्दयेत् ।
वराचन्दनसंयुक्तं कणाक्षौद्रं सिताज्यकम् ॥६॥
विंशतिश्च प्रमेहाणां राजयक्ष्मानेकशः
शुक्रवृद्धिकरश्चैव वन्ध्या च लभते सुतम् ॥७॥
वन्ध्यनष्टं पुष्पनष्टं·········मसृग्दरम् ।
रक्तपित्तं चाम्लपित्तं अस्थिस्रावहलीमकम् ॥८॥
अहन्येव रजः स्त्रीणां भवन्ति प्रियदर्शनात् ।

वीर्यवृद्धिकरश्चैव नारीणां रमते शतम् ॥९॥
पञ्चबाणरसो नाम पूज्यपादेन निर्मितः । "

In the above formula of पञ्चबाणरस reference is made to the use of वालुकायन्त्र[1] (Sand bath) and काचकुपि or glass bottle. This reference is important for fixing the earlier limit to the date of the *Madana-Kāmaratna*. In my paper on the "*Use of Kāca or Glass in Indian Pharmacy—Between A. D. 1100 and 1800*" (pp. 147-160 of *Bhāratīya Vidyā* Nov.-Dec. 1946), I have recorded sufficient evidence to prove that the use of *Kāca* or *Glass* (*vessels*) in Indian pharmacy became current some time after A. D. 1100. In view of this evidence it would be reasonable to suppose that the work *Madana-Kāmaratna*, a MS of which has been described by Pt. Bhujabali Shastri was composed some time after A. D. 1100 when the use of the

---

1. The use of वालुकायन्त्र with काचकुपि or glass-bottle is described in the following texts on alchemy :—

(i) "*Between 13 th and 14 th Centuries A. D.*"— रसरत्नसमुच्चय of Vāghbhaṭa—Book IX of this work deals with *Yantras* in which वालुकायन्त्र with काचकलशी is described (See p. 69 of *History of Hindu Chemistry* by P. C. Ray, Vol. I, Calcutta, 1902).

(ii) "*13th Cent. A. D.*"—रसप्रकाशसुधाकर of यशोधर (ed. by J.K Shastri, Gondal, 1940) contains many references to वालुकायन्त्र such as—

"रुचिर काचघटीविनिवेशितो
सिकतयन्त्रवरेण हि दिनत्रयम् ।"

(See also pp. 116, 169, 175 etc.)

(iii) "*13 th Century A. D*"—रसरत्नाकर of नित्यनाथसिद्ध (ed. by J. K. Shastri, Gondal, 1940—ऋद्धिखण्ड-वादिखण्ड) refers to वालुकायन्त्र with काचकुपि (p. 73—"सच्छिद्रे वालुकायन्त्रे कूप्यामारोपितं पचेत्")

(iv) "*14 th Century A. D.*"—शार्ङ्गधरसंहिता (ed. by P. L. Vaidya, Poona, 1917) refers to वालुकायन्त्र with कुपिका (pp. 167-168) etc.

(v) धातुकल्प of रुद्रयामलतन्त्र refers to वालुकायन्त्र (See folio 56 of B. O. R. Institute MS No *No 1145* of *1886-92*—"शिम्रे वालुकयंत्रगे"

Vālukāyantra (Sand bath) with glass (*Kāca*) bottles had become current in India. At any rate this work is definitely later than A.D. 1000.

According to Pandit Bhujabali Shastri's description the *Madana-Kāmaratna* records formulae for other *rasas* like **महापूर्णचन्द्रोदय, लोह, अग्निकुमार, पुष्पबाणरस,**[1] **ज्वरबलफणिगरुड, कालकूट, रत्नाकर, उदयमार्तण्ड, सुवर्णमात्स्य, प्रतापलंकेश्वर, राजेश्वर, बालसूर्योदय** (2 varieties). A history of these formulae ought to be reconstructed from the extant works on *rasavidyā*. The present work also deals with such topics as **कर्पूरगुण, मृगहारभेद, कस्तूरीभेद, कस्तूरी-अनुपान, कस्तूरीपरीक्षा** etc If a complete MS of this work becomes available for study we may be able to gather more data to clarify the problem of its chronology.

Besides the **निदानमुक्तावली** and **मदनकामरत्न** described in the *Praśastisaṁgraha* by Bhujabali we find his description of a few other medical MSS as specified below :—

---

1. The *Sārṅgadhara-Saṁhitā* (ed. by P.L. Vaidya, Poona, 1917) pp. 202-203 (Khaṇḍa II, Chap. 12, verses 87 94) contains a formula for **मदनकामेश्वररस** which is similar in some respects with that for **पञ्चबाणरस** as will be seen from the following verses :—

तारं वज्रं सुवर्णं च ताम्रं सूतकगन्धकम्। लोहं क्रमविवृद्धानि कुर्यादेतानि मात्रया ॥८७॥
विमर्द्य कनकाद्रावैर्न्यसेत काचमये घटे। विमुद्रय सिकतामध्ये धारयेत्सैन्धवावृते ॥८८॥
निरुध्य मुद्रयेत्सम्यक् ततश्चुल्ल्यां निवेशयेत्। वह्निं शनैःशनैःकुर्याद्दिनैकं तत उद्धरेत् ॥८९॥
स्वांगशीतं च संचूर्ण्य भावयेदर्कदुग्धकैः। अश्वगंधा च काकोली वानरी मुसलीक्षुरा ॥९०॥
त्रिवृद्वलं रसैरासां शतावर्याश्च भावयेत्। पद्मकंदकसेरूणां रसैःकाशस्य भावयेत् ॥९१॥
कस्तूरी व्योषकर्पूरकक्कोलैलालवंगकम्। पूर्वचूर्णादष्टमांशमेतच्चूर्णं विमिश्रयेत् ॥९२॥
सर्वैःसमा शर्करा च दत्वा शाणोन्मितं पिबेत्। गोदुग्धपिपलेनैव मधुराहारसेवकः ॥९३॥
अस्य प्रभावात्सौन्दर्यं स लभेन्नात्र संशयः। तरुणी रमयेद्बह्वीःशुक्रहानिर्न जायते ॥९४॥

According to Pandit D. K. Shastri "*Sārṅgadhara*, the author of the *Saṁhitā* definitely lived in the *Fourteenth Century*" (Vide p 84 of *Journal of Gujarat Research Society*, April-July 1945 · Pt Shastri's article on "*Medical Science in Gujarat*")

For the pictures of *Vālukāyantra* and other Yantras see Plates I to VI of *Aryan Medical Science* by Thakore Saheb of Gondal, London, 1896, p 144. The origin and development of these *Yantras* need to be studied chronologically. The Thakore Saheb makes no remarks on the history of these *Yantras*.

Page 50—कल्याणकारक (in Sanskrit verse) by उग्रादित्य pupil of श्रीनन्दि, composed in a *Jina* temple on *Rāmagiri* in *Trikaliṅga* country. This work mentions previous authors like पूज्यपाद, पात्रस्वामी (=पात्रकेशरी ?), सिद्धसेन, दशरथ गुरु, मेघनाद, सिंहनाद, समन्तभद्र, श्रुतकीर्ति, कुमारसेन, वीरसेन, जटाचार्य etc.

Page 149—सारसंग्रह (in Sanskrit verse) by विजयणोपाध्याय. The work mentions पूज्यपाद, वाग्भट, सुश्रुत etc. Those who are interested in the history of Indian medical literature in general and Jain medical literature in particular, will find the above information useful.

There are some MSS of medical works by Jain authors in the *Bombay University Collection.* They have been described by Prof. G. V. Devasthali in his *Des. Catalogue* of these MSS (1944), *Book I.* I note below some particulars of these MSS :—

Page 80-81—ज्वरपराजय by जयरत्न, pupil of भावरत्न (a *Svetāmbara* Jaina). भावरत्न composed a commentary on ज्योतिर्विदाभरण in *A. D. 1705.* जयरत्न composed his दोषरत्नावली also in *A. D. 1705* (Cf. No 1347 of 1884 87 in B. O. R Institute MSS library.)

Page 100—वैद्यवल्लभ by हस्तरुचि, pupil of हितरुचि, who himself was a pupil of प्राज्ञादयरुचि of तपागच्छ This work was composed in *A. D. 1670.*

Page 109—लघुविवृति (on आश्चर्यरत्नमाला of नागार्जुन) by गुणाकर. "This work of नागार्जुन is commented upon by a Śvetāmbara Jains physician named गुणाकर in *Saṁvat 1296 (C. 1240 A. D)*". observes Prof. Devasthali. On *p. 110* the colphon of another MS of लघुविवृति describes गुणाकर as follows :— "श्री सिद्धवर्टीय श्वेताम्बरपण्डित श्री गुणाकर (विरचिता)"

Page 119—योगचिन्तामणि by हर्षकीर्ति of the तपागच्छ of नागपुर (pupil of चन्द्रकीर्ति)—About A. D. 1575.

In the Govt. MSS Library at the B. O. R. Institute there are many MSS of medical works. These have been described by Dr. Har Datta Sharma in his *Des. Catalogue of Vaidyaka* MSS (Vol. XVI, Part I, 1939) published by the B. O. R. Institute. I note below Jain medical works from this Catalogue :—

Pages 8-9—अनुपानमञ्जरी by पीतांबर. Composed in A. D. 1766. (Is this author a Jain ?)

Pages 138-139—निघण्टुशेष by हेमचन्द्र (Ed. by Parab and others in 1889 and also in अभिधानसंग्रह (Nos. 6-10), containing other works of Hemacandra (*A. D. 1092-1173*).

Page 193—योगचिन्तामणि of हर्षकीर्ति (Text with Gujarati Tanslation).

Page 207—योगरत्नमाला of नागार्जुन with विवृति of गुणाकर (Several MSS)–in the colophon (on p. 210 of the Catalogue) गुणाकर is referred to as "सिद्धघटीय-श्वेतांबरपंडित"

Page 227—योगशतकटीका by पूर्णसेन, who bows to श्रीवर्द्धमान in the verse of the beginning.

Pages 326-327—वैद्यकसारोद्धार by हर्षकीर्ति (Same as योगचिन्तामणि described on p. 193 of the Catalogue).

Pages 350-351—वैद्यमनोत्सव by नयनसुख (Son of केशव) a contemporary of Akbar—written in Hindi verses—Dr. Sharma says that the author was a Jain monk.

Page 355—वैद्यवल्लभ by हस्तिरुचि, disciple of हितरुचिगणि of तपागच्छ—The work was composed in *A. D. 1670* (Saṁvat 1726).

Page 311—वैद्यकग्रंथ in Canarese language with Sanskrit verses here and there. It is ascribed to पूज्यपाद on account of a verse on folio 82 which reads :—"सर्वभूतहितार्थाय पूज्यपादेन भाषितम्"

In expressing his doubt about Pūjyapāda's authorship of the *Vaidyakagrantha* in Canarese language, Dr. Sharma observes :—

"The Madras Oriental MSS Catalogue, Vol. XXIII, mentions पूज्यपाद as the the author of the औषधयोगग्रंथ (p. 8818), निदानमुक्तावली (p. 8857), मदनकामरत्न (p. 8875), रत्नाकराद्यौषधयोगग्रंथ (p 8880), रसरत्नाकर (p. 8892), रुदन्त्यादिकल्प (p. 8898) and वैद्यसारसंग्रह (p. 8919). In the Colophon of निदानमुक्तावली we read—

"श्रीमज्जठरदेशिकमन्त्रवादषड्भाषाकविचक्रवर्ति—श्रीपूज्यपादस्वामिविरचिते सिद्धान्तिमार्गे अरिष्टनिदानो नाम द्वादशोध्याय: ॥"

The MSS of निदानमुक्तावली and मदनकामरत्न in the Jaina Siddhānta Bhavan at Arrah, described by Bhujabali Shastri are copies from the Madras MSS of these works. I have already recorded evidence

to prove that one of these two MSS viz. the मदनकामरत्न is later than A. D. 1000. I shall feel thankful if any of our Jain friends at Arrah or elsewhere verifies my evidence. The habit of ascribing every medical compilation to पूज्यपाद had its origin possibly in the desire to induce respect for it from subsequent generations of readers.

In the *Madhyayugīna Caritrakośa* by S. Chitrav Shastri, Poona, 1937, p. 518 there is a short article on पूज्यपाद based on कर्नाटक कविचरित्र in Canarese by R. Narasiṁhācārya (pp. 159, 165). I note some points below from this article connected with the life-history of पूज्यपाद and his works :—

(1) पूज्यपाद flourished *about A. D. 600*

(2) He is referred to with respect by Kannaḍa authors but no work of his in Kannaḍa language has come down to us.

(3) He is possibly the author of two Sanskrit works समाधिशतक and कल्याणकारक. *Meghacandra* (A. D. 1148) wrote a commentary on the समाधिशतक in Kannaḍa language, which is still extant. The कल्याणकारक is a work on Medicine. Its Kannaḍa translation by जगद्दळ सोमनाथ is called कर्नाटक-कल्याणकारक.

I cannot verify these points as I am not conversant with the Kannaḍa language. I may, however, point out that Bhujabali Shastri in his *Praśastisaṁgraha* under reference describes a work on Medicine (pp. 50-57) called "कल्याणकारक" by one उग्रादित्याचार्य. I wonder if this कल्याणकारक is identical with the कल्याणकारक ascribed to पूज्यपाद. Bhujabali Shastri states (p. 55) that उग्रादित्य refers to पूज्यपाद among previous authors mentioned by him.

The *Descriptive Catalogue of Medical MSS* in the Govt. Oriental MSS Library, Madras, Vol. XIII (1918) has already been referred to by me. Some notes from this Catalogue on medical works by Jain authors may be recorded here :—

Page 8851—नाडीविज्ञान with Āndhra Commentary. I cannot say if the author of the work was a Jain. He, however, bows to श्रीवर्धमान in the verse at the beginning. The work contains quotations from गदसञ्जीविनी.

Page 8857—निदानमुक्तावली (already referred to by me above). The Catalogue says that it "was written by पूज्यपाद." "The work is also called सिद्धांतिमध्य." In a colophon of a

MS of this work (*P. 8858*) the work is ascribed to a physician देवचन्द्र ("देवचन्द्रमिपग्विरचितायां निदानमुक्तावल्याम्")

Page 8875—मदनकामरत्न with *Andhra* commentary (the chronology of this work has already been discussed by me).

Page 8879—रत्नाकराद्यौषधयोगग्रन्थ—"The work is attributed to पूज्यपाद"

Page 8897—कल्पन्त्यादिकल्प—पूज्यपाद is mentioned at the end of the MS ("भूमौ सर्व-जनानुरनञ्जकरं श्रीपूज्यपादोदितम्")

Page 8908—वैद्यविषय—काचकुपि is mentioned in the verse at the beginning as follows :—

"तद्धृत्वा सूर्यताप्योमुशिदिनयुगलं काचकुप्यानिधाय"

—*पूज्यपाद is referred to in the last verse as follows :—*

"नराणामुपकाराय पूज्यपादेन निर्मितम्"

Page 8919—वैद्यसारसंग्रह—Refers to पूज्यपाद at the end :—

"रचितमिदं भाषितं पूज्यपादैः"

Page 8935—गुणपाठ—The author bows to जिन at the beginning —,

"श्रीमाद्यं जिनमानम्य कायजेषु निवारणम्"

I hope the foregoing notes on the MSS of medical works ascribed to Jain authors would be useful to those who intend to study in detail the exact nature of the contribution of the Jainas to Indian medical literature with the help of the manuscripts now available in different libraries, private or public.

CATHOLICITY OF JAINISM AND REACTION OF OUTER INFLUENCE ON IT.

By

(Sjt. Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S.)

The characteristic feature of Jainism is its universal catholicity. Mahâvîra Vardhamâna, the last of the 24 Tîrathamkaras preached the doctrine of Salvation-emancipation from mundane bondage and proclaimed it as the birthright of each and every soul. Salvation was assured to all without distinction of caste, creed or sex[1]. The sermons of Jina Mahâvîra were addressed to the Aryans and non-Aryans alike[2]. Even the so despised Mlechchas were admitted in the Jaina church (Saṁgha) and were ordained as Śramaṇas[3]. The Jaina monarchs contracted marriages even with the Mlechcha girls[4]. In fact the social organisation of the Jainas was designed on the catholic spirit of Jainism in order to bring into practice the great ideal of salvation and it never created any difference between man and man. A devout Jaina can observe all sorts of customs and can follow any usage, provided it goes not against his ideal of Liberation[5].

---

1 'दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।' – 'पावइ तिहुवण सारं बोही जिनसासणे जीवो ।' —कुन्दकुन्दचार्य

'मनोवाक्काय धर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ।' —श्री सोमदेवसूरि : ।

2 'भगवंचणं अद्धमागहीए भासाए धम्माइक्खइ । सवियणं अद्धमागहीभासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं, दुप्पय, चउप्पय मियपसुपक्खीसरीसिवाणे अप्पप्पणोहिय सिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ ।' —समवायांग सूत्र

3 'तत्तो पडिवज्जगया अज्ज मिलेच्छे अज्जेय । कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा ॥१९२॥ —लब्धिसार

'तथा जातीयकानां दीक्षाहत्वेप्रतिषेधाभावादिति ।' – जयधवला, आराकी प्रति पृ० ८२७-२८

4 Indian Historical Quarterly, Vol. IV p. 146—152

'दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिःसह जातवैवाहिकसंबंधानां संयम प्रतिपत्तेरविरोधात् ।' —लब्धिसार टीका गाथा १९३

5 सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र नो व्रतदूषणम् ॥

—सोमदेवसूरिः

The community (Saṁgha) of the Jainas was constituted (1) Śramanas and (2) Śrāvakas (house holders) Sramanas (m strive direct to achieve the attainment of salvation in this ver while the Śrāvakas (householders) only have full belief and to the discourse divine and endeavour to act upto the teacl according to their respective spiritual development as well as and limit in the worldly life[6]. But *Nirvāṇa* is the goal to be acl for both the factors of the Community (Saṁgha).

In fact 'caste' had no place of importance in Jainism[7]. Of c the Jaina philosophers have used the term "*Jāti*" (जाति) in desc the mundane conditions of a Jiva (soul)[8], but the 'term' 'Jāti' there denotes the sense of the word 'specie' and under the h 'Jāti souls of one-sensed, two-sensed beings and so forth ar merated. Among the five-sensed souls, man-specie form one which is divided into fourteen lākh crores 'Kulas' (clans)[9]. Ar universal catholicity of Jainism is manifest in the declaratio man of all these 'Kulas' (clans) are competent to attain salvati Jaina Teachers, in fact, never attached importance to the bi man, rather they declared that the actions of man are the thing to determine his status in life[11]. By his actions only

---

6 Tattvārtha—Sūtram, Ch. VII, Sutras 19-20 (S. B. J) pp 142-143.

7 'णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइ संजुत्तो।
को वंदिय गुणहीणो ण हु सवण णेय सावओ होइ ॥२७॥' —श्री कुन्द

8 Jaina Gem Dictionary, p. 51 & Tattvartha-Sūtram, Ch. VIII p. 173

9 Thāṇā-Ka-Yantra: Charchā-Samādhāna, pp 153-154

10 'मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयद्भवा।
वृत्ति भेदाहि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५॥ आदिपुराण पर्व ३८॥

Man-Specie being one, it is but natural for them to intermar increase man-progeny. In fact there exists no natural divisions human beings.

e.g. "मेदे जायते विप्रायां क्षत्रियो न कथंचन। शालिजातौ मया दृष्टः कोद्रव्यस्य न संभवः;
"नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्। आकृति ग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पे

—उत्तरपुराण

11 'कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥' —उत्तराध्ययन सूत्र

becomes low or high. By his degenarating actions an highly esteemed "Kulîna" becomes low in no time and a low man by acting upto the teachings of Ahiṁsā is determined to become high. Hence the caste is only a trivial thing for a follower of Jina and he regards it no more than a resting-place for passersby for the period of his sojourn in that life[12]. Low or high, Ārya or Mlechcha and rich or poor: who-so-ever embraces Jainism, becomes a Śrāvaka (Jaina householder) or a Śramaṇa (monk) and his admittance in the Saṁgha entitles him to be one of the brethren. As a laity, the new convert is then allowed to interdine and inter-marry among the Jainas[13]. So late as in the 12th. century A. D., Āśādhara enjoined that the members of the Jaina Saṁgha should intermarry between themselves[14]. The narrative stories in the canonical books concerning the previous lives of the Tîrthaṁkaras and other great personages, reveal the utter disregard of caste by the Jainas in practical life. So much so that the last Tîrthankara is depicted in his previous life as a Bhila (Mlechcha) addicted to flesh and wine, yet a Jainächārya made him to accept the vow of Ahimsā, which changed his very life[15]. Likewise Mahāvîra's great lay disciple, the renowned monarch of Magadha, Śrenika Bimbisāra was a Bhila in his previous life, but he was given to observe the vow of Ahimsā lin a limited form. His adherence to the vow made him to accumuate great merit and he became a great monarch and a devout Jain[16]. The great Śramana apostle of Mahāvira, Indrabhûti—Gautama was a Śûdra girl in his previous birth, yet she was allowed to perform the vows. Indrabhûti himself was a staunch and most learned Brāhmaṇa of Vedic pursuasion. He observed Vedic rituals and performed bloody *Yajñas*. But wonderful as it is, Mahāvîra started His Tîrtha by ordaining Indrabhûti as Śramana, although his hands were red with the blood

---

12 'णीचो वि होइ उच्चो, उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ ।
जीवाणं खु कुलाइं, पथियस्स व विस्समंताणं ॥२१॥' — भगवती आराधनासार ।

13 *Jinasenāchārya*, Mahāpurāṇa, Ch. 39 St. 61-71.

14 Sāgāra-Dharmāmrata, Ch. II Sl. 57.

15 *Guṇabhadrāchārya*, Ultarapurāṇa, Ch. 74.

16 Ibid, Ch. 75.

of innocent animals[17]. Mahāvira proclaimed that even a *chāndāla* should be respected and counted as 'Devata' if he is endowed with Right Belief[18]. Instance of Harikeśa as described in the 'Uttrādhyayana-sūtra' makes the Jaina attitude towards the poorest and lowliest and lost quite clear. Harikeśa was a Śvapācha or chāndāla, but by adopting and observing the vows of a Jaina Śramaṇa, he became a great sage, possessed of the highest virtues, with his senses wholly subdued. So the proclaimation at the end of the narration befits the teachings of the Jinendra that "the value of penance has become visible; *birth appears of no value.* Look at the holy Harikeśa, the son of a Śvapāka, whose power is so great."[19]

Perhaps it was due to the catholicity of Jainism, which was predominant in the eastern countries of Kauśala, Magadha, Videha and Kalinga that Āryans of these localties were treated as "Bhrṣṭa" (defiled) by the orthodox Vedic Brāhmaṇas[20]. Hindū Purāṇas, also, vouchsafe the catholic aspect of Jainism, since Jainas are attacked in them for attaching no value to caste. The Jainas are portraited in them as proclaimers of the fact that whosoever, whether a chāndāla or a śūdra, observes the vow of Ahimsā, he becomes a true Brahmaṇa[21]. It is obvious from the narrative literature in Saṁskrata that people of low castes were also the followers of Jainism and Jaina Śramaṇas (yatis) accepted meals at their hands in the prescribed form[22]. Likewise we are told in the "Dukkhakkha-bandha-

---

17 'वने जनग्रजं दृष्टवा कुरूपा शूद्र कन्यका:।'–'श्रावकव्रत संयुक्ता वभूवुस्ताश्च कन्यका:।' इत्यादि
—गौतमचरित्र देखो

18 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्। देवा देवं विदुर्भस्मगूढा गारान्तरौजसम् ॥२८॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

'चाण्डालोऽपि व्रतोपेत:पूजित:देवतादिभि:।
तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते ॥३०॥' —आराधना कोष

19 उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १२
'सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहु जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥'

20 संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० १ प्रस्तावना पृ० १७-१८

21 अंग्रेजी जैनगजट, भा० १४ पृ० ६२ इत्यादि—हिन्दू पद्मपुराण, भूमिखंड अ० ६६ :—
'दयादानपरो नित्यं जीवमेव प्रजयेत्। चण्डालो वा स शूद्रो वा सवै ब्राह्मण उच्यते ॥'

22 Panchatantra, V—Arikṣita-Kāraka.

Sutta" of the "Majjhima Nikāya" of the Buddhist Pitaka literature that "among the Niganṭhas (Jainas) even the people of ferocious nature, villians, and lowliest became the Śramaṇas."[23] It shows that Jainism was more catholic than Buddhism. Instances are forthcoming to vouchsafe the fact that foreigners like Greeks[24] and Persians were admitted into the Jaina Saṃgha by Lord Mahāvīra himself. Ārdraka, the Persian prince and friend of Rājakumāra Abhaya, took the vow of Śramaṇa and preached Jainism earnestly well[25].

Apart from the literary evidence, the epigraphical instances are not wanting in order to prove the prevalance of catholicity in Jaina Saṃgha even upto 13 th. Century A. D. No doubt, during this long period the Jaina Saṁgha was divided into many a gaṇa and gachcha; but none of them was of conservative views and they brought no change into the universal shape of the community (Saṁgha). Though divided outwardly due to metaphysical differences of opinion, they observed the catholic universality of Jainism.

The Jaina laity were free to follow any pursuit of life; provided it may not cause it to swerve from Ahimsā Ṛṣabha, the first Tīrthankara, while a ruler, laid the foundation of civic life according to Jaina view. He taught people, how to co-operate with each other for mutual benefit and support and imparted to them the knowledge of various occupations and crafts. He divided society into Kṣatriyas (warriors), Vaiśyas (Financiers) and Śūdras (labourers) according to their respective occupations of livelihood for the mere sake of administration. Later on Ṛśabha's son Bharata found the fourth *varṇa* of Brāhmaṇas by picking out the holy and public-spirited persons from all the three varṇas (classes). Inspite of this classification of society, all persons enjoyed equal civic life and were free to follow whatever occupation they liked. None was debarred from education and religious observances. Jainas of all the classes were treated as 'Dwijas[26].' Instances of *Varṇa-parivartana* (change of

23 Majjhima-Nikyā, Mūla-paṇṇāsaka 2, Suttanta 4.

24 Milinda-Pañha (S.B.E.) p. 8 and Historical Gleanings, p. 78

25 Sūtrakratānga—Dictionary of Jaina Bibliography, p. 92.

26 Mahāpurāṇa, XVI & XXXVIII

class) are forth coming so late as 12 th Century A. D. It is evident from the Elkote Jinālaya inscription (No. 130 Hassan 1147 A. D.) that the progeny of a ruling chief namely Permmadi, came to be known as śreṣtins (merchants); which shows that they adopted the occupation of a merchant. It was not the only case that people belonging to higher classes were allowed to pursue occupation of a lower class, but instances of a reverse type are not wanting. The Belūr inscription No. 86 (1177 A. D.) narrates an interesting instance of such a conversion. Mārisetti was a bangle seller (merchant), who came into contact with the Hoyasala King Vīra Ballāl. King Ballāl was impressed much by his intellectual brilliancy, foresight and prowess and was pleased to appoint him as a great chief. Mārisetti's grandson was Tantrapāla Hemmadi, whom the King honoured by binding Rājapaṭṭā on his forehead in open Durbar. In the old Jaina Saṁgha all the Jainas, whether Kṣatriya, Brāhmaṇa, Vaiśya or Śudra freely contracted marriages between themselves[27]. Progeny of a Kṣatriya father and a Brāhmaṇa mother were honoured in society and observed all religious rites and vows[28]. The ancestors of Daṇḍanāyaka Chāmuṇḍarāya the great Ganga general contracted inter-communal marriage and his family was known as 'Brahma-Kṣātra-Vaṁśa[29]. In fact there were no communal restrictions in Jainism of yore. Right belief and Ahimsā conduct were the fundamental characteristics for a member of the Jaina Saṁgha and so the door of it was open for all. Jaina antiquities of Kankāli-tilā, Mathurā, Girinagara and other places prove this cosmopolitan aspect of Jainism. It is evident from an inscription of Indo-Scythian period of Kankālī Ṭīlā that a dancing girl by name Śivayaśa was ordained with her husband Falguyaśa in the Jaina fold and she caused to be built an Āyāgapaṭa for the worship of Arhatas[30]. Another inscription of Mathurā records the pious deed of the courtesans Loṇaśobhikā and

---

27 Indian Historical Quarterly, Vol. IV pp 146—152.

28 *Ojha*, 'Prāchīna Lipimālā, XVI p. 65.
'विप्पो सिरिहरि अन्दो भजा आखिन्तिखत्तिआ भद्दा ।'

29 Mediaeval Jainism, p 102

30 'नमो अर्हंतानं फगुयशस नतकस भयाये शिवयशा···इ···आ···आ काये आयागपटो कारितो अरहत-पूजाये ।'
—(प्लेट नं० १२)

Vasu, who were devout srāvikās, so much so that they built a temple of Jina, an Āyāga-Sabhā and a tank for the Nirgrantha (naked) Ārahatas (Jainas)[31]. It is also obvious from the inscriptions on the pedestals of the Jaina images of that very place that in 3 A. D. a dyer's woman and in 26 A. D. Jinadāsī, the wife of a perfumer caused to be consecrated those images of Jinas[32]. Another inscription there points out that foreigners like Parthians were admitted in the Jaina Saṃgha and were allowed to observe the religious functions[33].

Likewise we learn from an inscription at Girnagar that Kṣatrapa Rudrasingh was most probably converted to Jaina faith and he got excavated some caves for the Jaina Śramanas[34]. Kṣatrapa King Nahapāṇa also seems to have been converted to Jainism[35]. Tormāna, the leader of the Hūṇas, had the Jaina Guru Devagupta as his preceptor and he was known to Jainas by the name of Tora Rāya[36].

The catholic spirit of Jainism is evident also from the inscriptions of Śravaṇabelagola and other places in South India. Goldsmiths, gardeners, cooks and oilmen were devout Jains[37]. They made donations for the worship of Lord Gommaṭa and most of them observed vow of Sallekhnā. The agriculturist Gauḍas were also ardent followers of Jainism. In 1325 A. D. dancing girl of Belagola namely Mangāi caused to be constructed the beautiful Jaina temple known as 'Tribhuvana-Chūdāmaṇi-Jinālaya[38]. The Kalachumbārra

---

31 'नमो अर्हतो वर्धमानस आराये गणिकायं लोणशोभिकायं धितु समणसाविकाये नादाये गणिकाये वसु (ये) अर्हतो देविकुल, आयागसभा, प्रपाशिल (ा) प (टो) पतिस्ट (ा) पितो निगंथानं अर्ह (ता) यतने स (हा) म (ा) तरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेन च परिजनेन अर्हत् पूजाये ।"

32 Ep, Ind. I, 384 and Journal of the Royal Asiatic Society, Vol. V, p. 184.

33 Bhandarakara Commemoration Volume, pp. 281-289

34 Report on the antiquities of Kāthiawad & Kacha, pp. 145-146

35 Journal of the Bihar & Orissa Research Society, Vol. XVI, p. 283-294 & सं० जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० २१-२२

36 *Shāh*, Jainism in North India, pp. 210-211

37 See Inscriptions at Sravanabelagola (जैन शिलालेखसंग्रह—माणिकचंद ग्रंथमाला)

38 जैन शिलालेखसंग्रह (मा-ग्रं०) पृ० ४१

grant of Amma II names a Jaina Śrāvikā who was courtesan-consort of the King. Her name was Chāmeka. She is described as "a moon to bring to full tide the waters of Jaina religion" and is said to had been endowed with charity, tenderness and good character. She was a beautiful lady and a disciple of Guru Arhanandi. She always felt delighted in the teachings of the learned people[39]. She made a grant to her *Guru*, "for the purposes of the renowned dining hall of the holy and famous Jaina temple called 'Sarva-Lokāśraya Jina-Bhavana', whereby she has acquired a reputation praised by learned people[40]. She belonged to the Addakali-gachcha and Valahāri-gaṇa of the Mūla-Saṁgha, the members of which have their desires bent on granting excellent food to ascetics of the four castes[40]. The contents of the inscription at Bijoliya-Pārśvanātha in Rājapūtānā also vouchsafe the universality of Jaina faith, for it is mentioned there that the pilgrims of all the four castes were allowed to take a sacred bath at that Jaina Tirtha[41].

Thus we see that upto the advent of the Muslim invaders in India, Jainism remained flourishing in its universal and catholic shape, but after that, we do not find it in its old form. Since prior to occupation of India by Muslim invaders, Paurānic Hinduism with its rigid caste-system predominated. Most of the Jaina laity was converted to the new sects of Hinduism, known as Vira-Śaiva, Lingāyata and Rāmānujas and those Jainas who remained firm in their faith were greatly influenced by their Hindu neighbours. Consequently terror of the Muslim aggressors, loss of country wide communications and fear of forced conversion to other faiths, made the Jaina-āchāryas to become strict and of reserved nature so much so that they formed their respective small groups of followers, which were called 'Maṇḍalas' Each of the Maṇḍala was controlled and ruled over by a Maṇḍalā-chārya Bhaṭṭāraka, who had his seat at some important town or centre of the locality. During the reign of Firozshāh Tughalaq, Digambara Jaina āchāryas were inclined to

39 Epigraphica Indica, Vol. VII, p. 191

40 Ibid, V. 13.

41 Jaina Siddhānta Bhāskara, Vol. II p. 56.

clad themselves and came to be known as Bhaṭṭārkas[1]. These Bhaṭṭārakas became the sole dictators of the Jaina Saṁgha, which was divided in many small maṇḍals (groups) and they ruled over the Jainas in a despotic manner. In the beginning of their advent, these Bhaṭṭārakas served the cause of Jainism rightly well by diffusing about the Jaina tenets and by converting people from all the classes of society. These converts were put into various folds according to their different localities and occupations of livelihood. Consequently the one-ness of the Saṁgha disappeared and small folds or upa-jātis took its place. Each upa-jāti was attached to a particular seat of Bhaṭṭāraka and had their own customs and manners. They seldom inter-married between themselves. Bhaṭṭārkas were absorbed totaly in managing the internal affairs of these sub-sects and they could not face the attacks of the outside, which made Jainism unpopular. Jainas lost its true sight and became rigid in their look-out like their Varnāshrami Hindu neighbours. The main causes and sources for creation of sub-sects (upa-jātis) among the Jainas, are as follows : –

1. *Religious belief.* Individual Jainas being followers of different and separate *gurus* formed their separate classes on the basis of the observance of vows

2. *Occupations of livelihood* were also responsible to create some sub castes, such as Kāsāra, Setavāla etc.

3. *Habitual locality.* Most of the subcastes had come into existence simply because they inhabitated a particular town or country and interdined and intermarried between themselves e. g. Jaisawāla, Padmāvatipurawāla, Khandelawāla, Oswāla etc.

4. *Remnants of ancient clans and gaṇas* Kauṭilya have styled the gaṇa-tantras as "वार्ताशस्त्रोपजीवी" i. e. they earned their livelihood by Vārtā and Astra (Arms.) Vārtā indicates pursuits of life which included agriculture, cattle-breeding and trade Modern Agravāla Vaiśyas are thus the remnants of Agreya gaṇatantra. They lost

---

1 भट्टारकमीमांसा पृ० २-४० । भट्टारक की परिभाषा देखिये : –

'सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्द्धकः ।

महामनाः प्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते ॥' —इन्द्रनन्दि आचार्य

the ruling power and remained earning their livelihood by Vārtā occupations—so they came to belong to the sect of traders.

With their very advent, due to the circumstances of their creation, these subcastes remained strict to have religious and social contacts within their own folds only. They forgot that they are śrāvakas first and particular Vaṇika afterwards. Thus the Saṃgha Order of Jainism had been vanished totally and with it the universal catholicity of Jainism came to an end. Jainas of the present time are equal conservatives in matters relating to caste as their neighbour Varnāśrami Hindūs. Ofcourse the Jaina sādhūs (śramaṇas) are not so conservative and they ordain non-Jainas, even of low classes to śramaṇahood. Among the Jaina laity now a spirit of reform is wakened and inter-marriages between the sub-castes are being contracted and encouraged. *But the Brāhmanical Paurānic Varṇāsrami influence will only be wiped off from among the Jainas on the day, when they will revive brotherhood of Saṅgha and will become united sinking their subcaste differences. Jainism will gain its right shape only when the Śrāvaka-Saṅgha will come into existence with its catholic universality of the days of yore*

*This paper was submitted to the "All India Jaina Sāsana Conference" Calcutta.

SOME MORE ALIASES OF KUNDKUND.

(By Jyoti Prasad Jain M. A., LL. B.)

Acharya Kundkund is one of the best known Jaina celebrities of the post Mahavira period, and is generally placed in the first half of the first century A. D. He was a pioneer of the great revivalist mevement and was the foremost exponent and champion of the Digambara sect. Prof. Chakravarti in his learned introduction to the Panchastikaya, Dr. A. N. Upadhya in that of the Pravǎchansara, and scholars like Pt. Nathu Ram Premi, Acharya Jugal Kishore Mukhtar and others have in their respective writings thrown ample light on the history and work of this Jain savant.

Although, he is better and more popularly known as Kundkund (कुन्दकुन्द), we also find him mentioned as Padmanandi, Vakragriva, Elacharya and Gridhapichha. There is no dobut as to his being a South Indian, still it is not yet certain whether he was a Kannadiga or a Tamil. Tamil scholars, however, connect him with their ancient Sangama literature, while some scholars are of opinion that he hailed from Canara and also wrote in the language of that province. Acharya Kundkund is traditionally believed to have written 84 Prabhrata works besides a learned commentary on a part of the Shata-Khandagama Sutra, a collection of ten Bhaktis and some other works; but those of his works that exist even today are the famous Panchastikaya, the Samayasara, the Pravachana-Sara, a collection of eight Prabhratas named the Ashta-Pahud, and the Dasha-Bhaktiyadi-Sangraha. No other conspicuous work is so far known by his name, in the extant Jaina literature.

But in the Digambara canonical literature we have an equally ancient, important as well as authentic work, known as the Mula-chara which deals with the rules of conduct for Jain ascetics. This work has been since regarded by the Digambara sect as the very Acharanga Sutra which was one of the primary sutras preached by Lord Mahavira himself and compiled by his chief disciple Ganadhara Gotama. Infact, in the existing Digambara literature there is no work actually named as such, although there is one in the Swetambara sect. Swami Virsena, however, in his famous Dhavala

commentary (completed in A. D. 780) has quoted some verses and has given the name of their source as Acharanga. These verses are not found in the Swetambara Acharanga, but they do exist in the Mulachara. It clearly shows that this work was popularly known as the Acharanga as early as the 8th century A. D. In the Achara-vritti, the only available Sanskrit commentary of Mulachara by Vasunandi (12th century A. D.), the commentator has described this work as a summary in twelve chaptors of the original Acharanga.

As regards the author of the Mulachara, we know very little. Vasunandi, in his commentary, mentions him in one place as Vattakeracharya[1], in another place as Vattakeryacharya[2], and in still another place as Vatterakacharya[3]. On this basis the authorship of Mulachara is generally ascribed to an Acharya of the name of Vattakera or Battakera, but we know nothing else about him except only the mention by Vasunandi in triple form of apparently the same name. He is not mentioned in any of the Gurvavalis, Pattavalis, inscriptions, or literary colophons. Naturally therefore, the problem who was Battakera and when did he live, remains unsolved.

There are, however, certain very old manuscripts of the Mulachara, which contain the name of Kundkundacharya as its author. Dr. Upadhye seems to have himself seen some of them and he is of opinion that they are quite genuine in their appearance. The annotated edition of the Mulachara published by the M. C. Dig. Jain Granthamala, Bombay, also gives in the colophon at the end of the work, the name of Kundkundacharya for its author[4]. Now if this information forms part of the original commentary, it would then mean that Vasunandi himself believed Kundkundacharya to be the author of Mulachara, and when he mentioned the author as

1. Introductory sentence of the commentary, published by Manikchand Dig. J Granthmala, Bombay.
2. Concluding sentences of the 9th, 10th & 11th Chaptors, ibid
3. Concluding sentence of the 7th Chaptor, ibid.
4. इति मूलाचार विवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचाराख्य विवृत्तिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्य। Ibid.

Vattakera etc. he used these forms merely as aliases of Kundkund. And this would support the view of Mukhtar Sahib that Kundkund and Acharya Battakera of the Mulachara are one and the same person[5].

On the other hand Pt. Premiji seems to think that Battakera has nothing to do with Kundkund[6]. He suggests that like Kondkund Battakera also derived his name from the place where he resided or came from. He starts with the assumption that Battakera, like Kundkund was also a Kannadiga. He says in the Kannad language, 'Betta' means a small hillock and 'Geri' means a street, and that thus Bettakeri or Bettageri is a kannad place name from which the author of Mulachara derived his name and which in its corrupt forms Vattakera etc. has come down to us. But we do not find the world Bettageri or Bettakeri used for the author either in the original Mulachara, in its Sanskrit and Hindi commentaries or any where else, which might have given some credence to this theory. Besides, in the colophon of the copyist and donor at the end of the mss. referred to above, the word used is Vatteraka which is one of the original three forms given by Vasunandi.

There is also a vast difference, not only in form, but in the meaning as well between the words Betta or Bettageri on the one hand and the words Vatta, Vattaka, Vattakera, Vattakeri or Vatteraka, on the other. Whereas the former ones are Kannad words meaning as above, the latter are pure Prakrit words with quite different meanings. And they ought to have been so if we keep in mind the language of the Mulachara itself, which is Maharashtri Prakrit. As Acharya Mukhtar Sahib has rightly suggested in his learned note reffered to above, in Prakrit these words can be interpreted in several ways, all of which are quite appropriate and full of meaning. Firstly, Vattaka (वट्टक) is nothing but the Prakrit form of the Sanskrit word Vartaka or Pravartaka (वर्त्तक, प्रवर्त्तक), which means a propagator, while Ira (इरा) means Gira

5. Pt. Jugal Kishore Mukhtar's Introduction to Puratana-Jain-Vakya-Suchi (in Press)--note on 'Mulachara and Battakera', pub. in Anekant, year 8, Nos. 6—7.

6. जैन सिद्धान्त भास्कर १२—१

गिरा) Saraswati or knowledge. Hence Vattakera (वट्टकेर) would mean one whose knowledge itself is a propagator or puts the people on the path of piety. Secondly, Iri (इरि) means Giri (गिरि), chief and prominent or capable and powerful; the second form Vattakeri (वट्टकेरि) would, therefore, mean one who is chief or prominent among the Vartakas or Pravartakas, or the one who is capable and powerful among them. Thirdly, Vatta (वट्ट) means Vartana (वर्तन) or conduct and Iraka (इरक) means Preraka (प्रेरक), inspiror or propagator. Vatta also means a path Thus the third form Vatteraka (वट्टेरक) would mean one who inspires and makes others to walk on the path of virtue, or simply the propagator of the true path.

All the three forms, therefore, separately as well as collectively, cclearly point to the quality of Propagatorship (वर्त्तकत्व or प्रवर्त्तकत्व गुण) in the owner of these names. Now we know that Acharya Kundkund himself was a great Propagator of the faith, a great Pravartaka. In his Acharya-Bhakti he calls it a high qualification for an Acharya to be a Pravartaka[7] (वट्टावगागा=वर्त्तावनक, वर्त्तक, प्रवर्त्तक). This Pravartaka is also a special title applied to certain distinguished Jain ascetics, and is so used, even today, in the Swetambara sect. Acharya Kundkund was undoubtedly a great propagator of the faith, so much so that his name is, upto this day, remembered on every auspicious occasion, along with Lord Mahavira and his chief disciple and pontifical successor Ganadhara Gotama[8]. It is, therefore, quite possible and proper that the epithets Vattakera, Vattakeri, and Vatteraka, all signifying him to be a great Pravartaka, were used for him. They are very appropriate in his case and befit him well.

Moreover, from the point of view of the language, style and subject matter of the Mulachara, this work is quite in keeping with and is of the same type as the other known works of Kundkund. Verses in full or part are found quoted in everyone of Kundkund's works from his other works, and the same thing is clearly evidenced in the Mulachara. Therefore, as Mukhtar Sahib says, there is no

7. Acharya-Bhakti of Kundkund—verse 3.

8. मंगलम् भगवान वीरो, मंगलम् गौतमोगणी ।
मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥

reason why the authorship of the Mulachara should not be attributed to Acharya Kundkund, unless and so long as some definite and tangible proof regarding the separate and independent identity of Battakera is not forthcoming.

And consequently, under the present circumstances, we can safely add to the already known aliases of Acharya Kundkund the newly discovered ones, namely Vattakeracharya, Vattakeryacharya, Vatterakacharya and also the Pravartakacharya.

AN ITINERARY OF A PILGRIMAGE TO JAINA BADRI[1].

By

Dr. Banarasidas Jain, M. A. Ph. D.

6 Nehru Street Krishnagar, Lahore.

The partial itinerary of a pilgrimage to Jaina Badri given below is based on a single leaf found among the manuscripts belonging to the *yatiś upāśraya* at Zira in the Punjab. when the yati died leaving no successor his *śrāvakas* stored the MSS into a bag and placed it in a dark room exposed to rain-water through chinks in the walls. There it laid undisturbed for a number of years. As a consequence the leaves of several MSS stuck together so closely that it is now almost impossible to separate them without causing serious injury to the writing.

When I came to learn of these MSS, I requested M. Babu Ram Jain, M A., LLB. Pleader of Zira to let me examine them. After overcoming considerable opposition from other members of the community, he was at last able to send the bag to me. The bag contained a few *pothis* and hundreds of stray leaves and among the latter the leaf under discussion was discovered. It measures about 9″ × 4″ and has 14 lines on each side. The writing is Jaina Script such as was current in Gujarat and Rajputana and is in ordinary hand without any pretence to calligraphy.

The leaf does not give the complete itenerary. Happily along with the leaf a list of MSS which presumably formed part of the collection was also found. From this it appeared that the itinerary covered three more leaves as the entry in the list is जैन बद्री पत्रे ४. Thereupon the stray leaves were carefully searched for the recovery of the missing leave but all in vain.

---

1. I do not know where exactly Jaina Badri is situated. G. Bühler was told that Jain Badri was one of the 16 centres of Digambar learning and was an island in the sea 1500 Kos from Jaipur beyond Rameshwaram. (*Indian Antiquary*, 1878 p. 28. But I think it refers to Śravaṇa Belgol and the country round about it.

The title of the itinerary given on the leaf is जैन बद्री देश की पत्री. It has no date. However the list mentioning the MS of the itineary is dated *sum* 1916. Consequently the MS must be at least as old as the list. From the appearance it may be even 200 years old.

The language of the itinerary is Hindi (Vernacular Hindustāni), and the spelling shows a few inconsistencies. For instance है is sometimes spelt as हइ. In the phrase तिस का दुख्या the word दुख्या is decidedly Panjābī. Again री in the description of सकरपटन is clearly Mārwāṛī.

The subject of the letter is an itinerary of a pilgrimage to Gommat Svāmī undertaken by मजलस राय[2]. It reminds one of the विज्ञप्तित्रिवेणि which describes Upādhyāya Jayasoma's pilgrimage to Nagarkōṭ (Kāngṛā) in Samṃ 1484[3].

The letter was written by one मजलस राय from हैदराबाद to पानीपथ[4]. After greetings[5] it reads "we had gone on a pilgrimage to गोमटस्वामी and returned after a year and a half[6]. Along with this we made a good many other pilgrimages."

Starting from here we paid a visit to Gomaṭ Svāmī. The image of Gomaṭ Svāmī, 18 *hāth* wide and 54 *hāth* high, is standing on a hill and is of undescribable beauty[7].

250 *Kos* to the south of भागनगर[8] there is सुरंगपट्टन[9] in the Karṇāṭ country with 25 beautiful temples on the hill and in the city. Here worship is performed three times every day. The people of the city

2. Personal names formed from Persian words were and are still found among the Hindus of the Punjab and U. P, cf Mushtāq Rai, Ulfat Rai, Gulāb Rai, Jang Bahadur etc.

3. विज्ञप्तित्रिवेणि was edited by Muni Jinavijaya in 1916. A paper describing the pilgrimage was read by Mr. Mul Raj Jain at the 13 th All-India Oriental Conference held at Nagpur (C. P.) in 1946.

4. Panipat in the Karnal district, Punjab.

5. I do not know any other passage where श्रीशब्द is used for greetings.

6. Perhaps the pilgrimage included visits to all the Collossi of Gommat, *e.g.*, Belgoḷ, Kārkaḷa and Venūr.

7. This accords well with the dimensions of the Belgoḷ which is 57 ft. high.

8. भागनगर is Hyderabad (Dn.)

9. सुरंगपट्टन is Seringapatam about 300 miles south of Hyderabad.

know nothing except Dharma. Dharma is conspicuous everywhere. The conditions of the fourth *Ara* prevail here. The total number of the images is between 500 and 700.

13 *Kōs* further is **हसन नगर**[10] with two temples where worship is performed thrice a day and the scriptures are read.

10 *Kōs* further is **हलमड नगर**[11] with two temples of matchless beauty. One image of Śāntinātha is 3 *hāth* wide and another of Pāsvanātha is of the same height. There are numerous other smaller images. The pillars of the temple are of black marble. A second temple like this has not been seen elsewhere.

10 or 15 *Kōs* further is **सकरपटन नगर**[12] with one image of Śāntinātha one *hāth* wide and many other smaller ones. The temple has three domes (**त्रिकूट**).

50 *Kōs* further is **हमसनगर**[13] with a forest near it having twelve temples. There are numerous images of stone, metal, and precious stone of the type described in the scriptures. The condition of the 4 th *Ara* obtains here. There are scholars of scriptures here and the yatis reside in the forest.

18 *Kōs* further is the region of **साधत्रघनव्यर**[14] where the condition of the fourth *Ara* prevails.

Further in **हंसगढ नगर**[15] there is a beautiful temple with a seated image of Ajitanātha one *hāth* wide besides many others.

Descending down 40 *Kos* from there we arrived in the region of **तळघट**[16] with a forest stretching for 100, 150 or 200 *Kōs* along the sea coast and abounding in low bushes of cinnamon and fruits of all sorts. Close by is a thicket of black pepper.

---

10. Evidently Hassan in the Mysore State.
11. *cf* Halebīd (S. R Sharma: *Jainism and Karnāṭaka Culture* p. 41).
12. Not clear. But the name reminds of Sagar.
13. Modern Humca.
14. Not clear
15. Not clear
16. This possibly refers to the region below the Ghàts, the Western range of Sahyadri.

10 *Kōs* higher up is another town[17]. There are more towns in the forest. There is also a lake two kos wide with bottomless water. There are lotus on the water. In the midst of the lotuses there stands a temple in the water. It is furnished with a done and is surrounded by a wall with 16 gates. Four images are of dark colour while others are smaller ones. The temple was reached by a boat.

There is in this town a temple of Nemināthа, 3 pāth wide made of precious store and 200 images.

Text

।। अथ जैन बद्री देस की पत्री लिष्यते ।।[1]

पानीपथ सुथांन अनेक उपमा जोग्य हैदराबाद थी मजलस राय की श्रीशब्द बांचनो जो और आगे ईहां से हम गोमट स्वामी जी की जात्रा गये थे सो वरस दौढ पोछे आरो जात्रा बहुत आछी करी और ही जात्रा बहुत होई ।

तिस काटुस्या गोमट स्वामी का दरसन कोया गोमट स्वामी जी की प्रतिमा जी चौरंस हाथ १८ उंचो[2] हाथ ५४ के परवत उपर षडे योग्य हैं महिमा वर्णी न जाय ।

भागनगर सेती २५० कोस सुरंग पट्टन दणादपसा[3] करणाट देस मांहे चैत्याले २५ परवत उपर वा नगर मां मनोज्ञ है त्रिकाल पूजा जी नित्य होवे है नगर मै धर्म शिवाय और बात कु जानता नहीं धर्म का सारे उद्योत है चौथे काल समान वरतै है सब प्रतिमा जी चैत्याले मै ५०० तथा ७०० मै होयगी ।

ईस तै आगै कोस १३ हसननगर है उहां[4] चैत्यालै २ भगवांन जी के मनौज्ञ है त्रिकाल पूजा जी होवै है शास्त्र जी होवै है ।

और आगै कोस १० वा १५ हलमड नगर है उहां[5] चैत्यालै २ मनोग्य है तारीफ वर्णी न जाय है प्रतिमा जी १ शांतिनाथ जी को चौरंस हाथ ३ की है प्रतिमा जी १ पारस नाथ जी की चौरंस ३ हाथ की है इन शिवाय छोटी मोटी प्रतिमा बहुत है। चैत्यालै के थंभ कसोटी के हैं असा चैत्याला कहू देषण मै आया नहीं ।

---

17. This perhaps refers to Varāng, with its Temple in the Lake.

1. The text in the MS does not show any mark of punctuation except the double bars at the beginning. Division into paragraphs is mine.

2. ओंची, उ is represented by the Jaina Script letter for ओ.

3. Read दषणदसा i.e. in the Southern direction.

4. ओहां

5. ओहां

और आग कौस १० तथा १५ सकरपटन नगर है तिस चैत्याले में शांतिनाथ जी री प्रतिमा १ चौरंस हाथ १ की है। इस शिवाय छोटी २ प्रतिमा जी बहुत है उहां त्रिकूट चैत्याले हे।

उहां[6] आगै कौस ५० हमसनगर है। उहां[6] वनमहै। इस वन मै चैत्याले १२ है। प्रतिमा जी बहुत है। पाषांन की वा अष्ट धात की रतनमई है। बहुत है। और जती शास्त्र मै वर्ण कीयौ है सौ इहां है। चौथा काल को मरजाद चलै है। शास्त्र के पाठी है। इस वन मै जती रहै है।

उस[7] तै आगै कोस १८ साधवंधनव्यर का मुलक है। इस काल मै चौथा सम वर्त्तै हइ।

उहां[8] ते हसंगढ नगर मै चैत्याला १ बहुत मनोग्य है। चैत्याले मै प्रतिमा अजितनाथ की चौरंस १ हाथ वैंटे ओग्य है। और बहुत है बिंब।

इस तै आगै कौस ४० नीचै उतर के गये थे। तलघट का मुलक है। समुद्र के किनार कोस १०० तथा १५० तथा २०० मैं वन है। छोटी २ भूंडी दाल चीनी की हइ। और सर्व जात के मेवै बहुत है। काली मिरच का वन है।

उस[9] तै आगै १० कोस उपर[10] और नगर है। वन मैं नगर वसै हैं। उहां तलाब २ कोस का हइ पानी अगम है। पानी मै कमल है। कवलौं के बीच पांनी मै चैत्याले है। १ शिपर बंध है। चैत्याला के गिरद कोट अरवाजा[11] १६ है। इस चैत्याला मांहि प्रतिमा जी ४ स्याम वर्ण है। उर छोटी प्रतिमा जी बहुत हैं। जात्रा निमत्त नांव मै बैठ के गये थे। जात्रा निमत्त जात्रा करी।

चैत्याला १ इस नगर मैं है प्रतिमा जी १ नेमनाथ जी की है चौरंस हाथ ३ की है रतनमई और प्रतिमा जी २०० तथा।

---

6. ओहां
7. ओस
8. ओहां
9. ओस
10. ओपर
11. Is it for दरवाजा ?

' The Chitaral Rock Temple '

(A JAIN VESTIGE OF NINTH CENTURY IN TRAVANCORE)

By

K. P. Padmanabhan Tampy, B. A.

Of great antiquity and historical importance is the Chitaral Rock Shrine situated five miles to the North of Kuzhithura, tiny and unpretentious village on the Trivandrum-Nagercoil Road, in south Travancore. Chitaral was in days of yore place of pilgrimage most sacred to the Jains. Jain groups had their habitant in Travancore in early times, but disappeared consequent on certain historical circumstances which had their origin outside the state. Jainism which made its appearance in Malabar during the days of Asoka has left its stamp on the temple architecture of Kerala. The temple at Chitaral which was originally a Jain sprine was, later on, converted into a Hindu Temple and an image of Goddess Shree Bhagavati was installed there Today the Jain tradition associated with Chitaral has been entirely forgotten by the people who regard the shrine as a genuine Hindu temple. A number of old epigraphs in the Tinnevelly District go to show that Jainism was once prevalent in South Travancore and the adjoining Districts and that some of the welknown Jain teachers and devotees hailed from Chitaral, a place which was then famous as Tirucharaneam and the seat of a thriving Jain Monastery.

The Shree Bhagavati temple at Chitaral is built at the foot of a huge rock. The rock itself comprises the rear side of the shrine, the other three sides being enclosed by massive walls. The ruins of the original Jain temple perched on the summit of the Chitaral rock attract both pilgrims and tourists The ruins which are most imposing evoke sacred and austere memories. The Jain Shrine at Chitaral which has been ascribed to the 9th. century, illustrates that the creative genius of the Jains asserted itself in architecture.

The Chitaral rock is a sacred relic of the past. On the face of this huge rock have been sculptured many exquisite images which are avowedly Jainistic in origin, demeanour and deportment. The

distinguishing features of those granite images are bald heads, clean shaven faces, a tier of three umbrellas over the head and the absence of holy thread and garments. These characteristic indications prove that the images are of Jain *Teerthankaras* or deified heroes. The images are masterpieces of the sculptor's art. Beneath some of the images are found valuable inscriptions in *Vattezelhu*, an old script which was once popular in Kerala. Some of the finest images of Jain Saints are noticed on the upper half of the rock facing the west. E. B. Havell considers that though the Jain Sculpture is "very noble as art," "Jain figure sculpture seems to lack the feeling and imagination of the best Buddhist and Hindu Art." This criticism is applicable to Jain images at Chitaral, which are distinguished by certain formalism and rigidity. Only the "fixed immutable pose of the ascetic absorbed in contemplation" has been made the subject of sculpture in stone in the Jain Shrine at Chitaral. The figures are treated conventionally, the shoulders being broad, arms hanging straight down to the lap and the waists small. The images symbolise the complete spiritual abstractness of Yatis absorbed and motionless during penance. The full contemplative expression on the face of the images proclaim, the genius of the sculptors. Here and there are seen well executed and lovely images of Goddess Sree Bhagavati and attendants which must have been of a later origin and carved at the time of the construction of the Shrine dedicated to the Goddess. There are over thirty Jain images sculptured on the face of huge Chitaral rock. All these images which are in a sitting posture appear to be replicas in different sizes of the principal images of Jain *Teerthankaras* inside the central and southern compartments of the rocks cut hall of the Shrine. The two large images in the rock cut hall are seated on elevated stone plinths The Hindus however, regard these images as those of *Mahā Vishnu.*

Chitaral is famous for its inscriptions on huge rocks. A number of lengthy inscriptions of great historical and cultural importance are witnessed here. They throw much light on the religious and cultural history of State. Some relics of exquisite mural paintings are also noticed in the Chitaral Shrine which is nearly eleven centuries old. The murals are conceived and executed in a highly conventional style and are delicate in treatment. Their nobility of

expression and perfection of line recall to the connoisseur of art some of the finest frescoes of Ajanta.

A beautiful rock spring, the waters of which form a pretty pool, shoots up in front of the Sree Bhagavati Shrine. A magnificent panorama stretches before the sightseer who ascends the Chitaral rock and surveys the charming landscape around. At a distance he sees the jagged outline of the mountains enveloped in mist, Gleaming pale green lakes and fields, winding rivers and irrigation canals, clusters of pretty villages nestling amidst dense cocoanut and palmyrah plantation and the tall Spires of Churches and lofty Gopurams of temples rising up here and there amidst a landscape of arcadian jollity and exuberance, greet the tourists vision at this delightful spot. A beauty spot where historic, religious and picture--sque elements combine to afford many charms to the pilgrim and tourist, Chitaral is an ideal place for enjoying a quiet holiday for the most greatly prized amenity granted exclusively by Nature here is peacefulness.

—'Modern Review.'

"THE RISE AND PROGRESS OF JAINISM."

By
Prof. D. Kumar M. A., Arrah.

Great amount of Scholarly works have been done to arrive at a correct conclusion regarding the rise and progress of Jainism in India. Steering clear of all conflicting theories, it is still possible to arrive at certain general truths, which the common reader can accept with a safe conscience.

The end of the sixth and the beginning of the fifth century B C. was a period of great religious activity in Northern India. During this period a number of monastic orders sprang up, prominent among them being Jainism, Buddhism and the Ajivakas established by one Gosala, a disciple of Mahavira. The institution of monasticism was nothing new to the religious practices of the day. The religion of the Hindus especially of the Brahmins had ordained the passing of the life of an average Hindu through the four successive stages of Brahmacharya, Garhasthya, Banaprastha and Sanyasa. The last of these stages or Ashrams means the passing of the life as a religious mendicant. The Brahmins tried to limit the entry into this stage to those belonging to the Brahmins alone. This led to the formation of non-Brahmanic orders, which though originally open to Kshatriyas, were later on thrown open to all. The refusal of the Brahmins to look upon these non-Brahmanic orders as their equals, even though they were as orthodox as themselves, begot in the latter a feeling of dissension and later on one of opposition to the Brahmanical order Thus the Buddhists and the Jains* did not only discard the performance of religious ceremonies, observed by the Brahman mendicants but they also went to the extent of discontinuing even the reading of the Vedas. Thus quite a new order of monks was established in the country The prevailing

*The order of the Ajivakas had ceased to exist after some centuries on account of the confusion of religious ideas that pervaved the country at that time.

notion that Buddhism and Jainism were reformatory movements as also the one that they represented a revolt against the tyranny of caste is incorrect. They were only a protest against the caste exclusiveness of the Brahmin ascetics. Caste. as such and as existing outside their orders was acknowledged by them. Even inside their orders, they looked to the guidance of the Brahmins in the performance of ceremonies like those of birth, marriage and death, though in spiritual matters they had their own say. The Buddhist and the Jain Monk were the spiritual guides to their respective lay adherents but the Brahmins continued to be their priests.

Another view, though less widely held, contends that Jainism is an offshoot of Buddhism. But on an examination of the various authorities and evidences we come to the irresistible conclusion that this theory is as erroneous as the above. It has been established beyond doubt that neither sect can lay any claim to originality regarding its moral code. "The Brahmanic ascetic was their model from which they borrowed many important practices and institutions of ascetic life. Neither Jainism nor Buddhism are religious in the strict sense of the word. They were simply monastic organisations, orders of begging fraternities, somewhat similar to the Dominicians and Franciscans in medieval Europe. On a thorough examination of all the testimony adduced before us, we realise that Jainism was not only not an offshoot of Buddhism but may lay its claim to being called one of the earliest home religions of India. In point of time it had an earlier existence and Mahavira may be considered as a reformer of the Jain faith. Mahavira's title as the reformer of the Jain church consists in the fact that he was able to bring the entire order of Parswanath on his way of thinking especially in the matter of wearing clothes. Mahavira stood for complete nudity.

According to the ancient annals of Magadha the Jains were prominent in various places in the North in the first century after the death of Buddh as for as Kalinga. For nearly five centuries after the death of Mahavira, Jainism was making rapid progress in Northern India and its disciples carried aloft the torch of Jain culture far and wide. Mahavira had altogether eleven disciples who

remained faithful to him. Among them Sudharma and Gautama deserve special mention who along with Jambuswami formed the three Kevalis or possessors of true wisdom. These three Kevalis were followed by six others known as the Sruta Kavelis whose names are mentioned in the inscriptions. Bhadrabahu was the last of these six Kavelis and his name is of special interest to us. It was he who led the great Jain Migration to the South and was thus responsible for the spread of Jainism in the Tamil and Canarese countries.

Bhadrabahu from this point of view of Jain history is a most important figure. Born of a brahmin priest, this saint was destined to play a great role in the religious history of India. In due course the child was brought up in the Jain faith—a thing which his father was able to divine from his horoscope. The story goes on to say that this sage by virtue of his penance had acquired the power of discerning the past, the present and the future. He foretold in Ujjain that a period of twelve years of dire calamity and famine would overtake the whole of the Sangha living in the Northern regions. The Jain traditions affirm that Bhadrabahu once had the occasion to meet Chandragupta Maurya in the court of the latter at Pataliputra Chandragupta had a dream the previous night, of the approach of a twelve-headed serpent which Bhadrabahu interpreted as foreboding the approach of 12 years of dire calamity and famine. As thus foretold, a terrible famine broke out in the country. Bhadrabahu collected a huge body of twelve thousand disciples and started on a grand exodus towards the South. In their march southward, the Sruta Kaveli had a strange perception that he would die and at once ordered a halt on the mountain of a populous country. Entrusting his disciples to the care of one Visakhamuni he sent them on further South to the Chola, Pandya and other countries and himself remained behind to die a peaceful death.

This fact of the Jaina migration is very important as it furnishes us the starting point for an account of the Jains in the South and the cause and course of the Jain Migration. This migration is also the initial fact of the Digambara tradition. The Jain Community which was hitherto undivided separated into two sects, the Digambaras and the Svetambars, which is a very important fact in the

early history of Jains. From time to time various schisms had taken place in the Jain faith. In the second century after Mahavira's death, when Bhadrabahu migrated with a huge body of disciples to the South, the other portion that remained in the North, accepted the headship of Stulabhadra. Towords the end of the famine, during the absence of Bhadrabahu, a council assembled at Pataliputra to collect the Jain sacred books. The troubles that had arisen during the period of famine produced also a change in the practice of the Jains. The rule regarding the dress of the Jain monks had been that they should ordinarily go naked, although the wearing of certain clothes appears to have been allowed to certain weaker members of the order. Those monks that remained behind were forced by the exigencies of the situation of the time to abandon the rule of nakedness and to adopt the white dress. By the time peace and plenty was restored, and the exiles returned to their country, the divergence of practice had been fully established. The returned exiles refused to hold fellowship with the portion that had remained at home. Thus the foundation was laid of the two sects of the Digambaras and the Swetambars. Each of these sects were further subdivided into various minor sects according to the differences in their interpretation of the religious sects.

Among the Digambaras the name of one missionary, Samantabhadra deserves special mention. His appearance in South India marks an epoch in the annals of the Digambara tradition. He was a great scholar as well and is eminently known for the most authoritative exposition of the Syadvada doctrine. After Samantrbhadra a large number ot Jain Munis carried on the work and contributed much for the uplift of the Jain world in litrature and secular affairs. One Akalanka is believed to have confuted the Buddhists at the court of Himasitala in Kanchi and thereby procured the expulsion of the Buddhists from South India.

From an examination of ihe memorable poetry and prose of the Tamil literature much information can be gleaned for the reconstruction of South Indian History. The first two centuries of the Christian Era, saw, the appearance of a new religion in the Tamil country. This new religion was devoid of elaborate exegetics and

had a simple moral code. It appealed to the Dravidian mind greatly and was destined to play an important role in the religious history of South India. The Jains fostered the vernaculars of the country out of opposition to the Brahmins and infused Aryan thought and learning among the Southern people which had the effect of awakening Dravidian literature to proclaim the new message it had received from Northern lands. Under the fostering care of the Jains, the South was inspired with new ideals and literature, enriched with new forms and expressions. The then Dravidian had developed a civilisation of his own. His religion consisted in sacrifices, prophecies, ecstatic dances and demon worship. This was attacked by the first batch of Brahmin immigrants from the North who settled at Madura and at other cities who tried to introduce their own notions of religion among them. Horses and cows were sacrificed with elaborate ceremonies and the flesh of the victims were eaten by the Brahmans. They were anxious to spread the Vedic religion among them but kept the Vedas a sealed book to them. As in the North, so in the South, the non Aryan races began to cultivate a contempt for the Brahmanis whose worship of the elements did not find favour with the masses. At this very period, the non-Brahmaanical orders, Jainism and Buddhism entered the country. Their less complex forms of worship and their doctrines embodying some of the noblest and highest principles of human conduct found favour with the Dravidians. The latter not only tolerated them but even accorded them positions of great trust and respect in their religious life. There was great religious toleration and Jainism advanced till it was embraced by the members of the Royal family and by large and ever increasing numbers of the Dravidians.

There are some reasons why Jainism became so popular in those days. The masses of the Dravidians were remnants of the great Naga race that was sovereign over the land before the Tamils had conquered it. The Tamils themselves borrowed from the Nagas some of their elements of worship. Traces of the Tree and the Serpent worship, characteristic of the Turanian race are also to be seen in Jainism that was introduced in the Tamil country. Buddhism had no such charm at this period as the worship of Buddha had not yet been introduced. The worship of a pair of feet, which

at that time was the only object of worship by the Buddhists, was too abstract for a people already accustomed to worship idols of some of the Aryan and the non-Aryan dieties. The comparative simplicity of the Jain worship and the exclusive character of the Brahamanical rites accentuated the movement and progress of the new sect among the natives. The Jain Community had a perfect organisation and it was not only popular but it had taken deep roots into the soil. The privilege of entering the monastery was not denied to women and both men and women took vows of celibacy. The third and the fourth Centuries of the Christian era seem to be a perfect blank in the history of the Jains in the Tamil kingdom. At the end of the 5th Century A. D. and the opening of the 6th, the political fortunes of the Tamil kingdom underwent a rapid change. It is the period of the Kalabhra invasion and occupation of the Pandyan kingdom of the South These Kalabhras were Dravidians in their origin and had nothing to do with the Aryan culture. The moment they came to this country they embraced Jainism. Influenced by the Jains, who were innumerable, they began to persecute the Saiva Saints and disregard the worship of the Saiva gods. The probability cannot be easily ruled out that the Jains had themselves invited the Kalabhras into the kingdoms of Chela, Chora and Pandya with a view to establish Jainism more firmly in the country. The period of the Kalabhras and that succeeding it may therefore be looked upon as one when the Jains had reached the Zenith of their glory and prosperity

The period which begins from the Sixth Century A. D. is marked by a great revival of Brahmanism which shook the sects of Buddhism and Jainism to their very foundation. The Jains had acted their part well, but they had stayed in the Tamil country too long. The mild teaching of the Jain system had become very rigorous and exacting in their application to daily life. The exclusiveness of the Jains and their lack of adaptability to circumstances soon rendered them objects of contempt and ridicule and they were able to hold tneir own only with the help of the state patronage. No longer, therefore, did the Tamilian embrace the Jain faith out of open conviction. Force and religious persecution were resorted to by over-zealous state officials who were always ready to execute the

commands of the bigoted Jain kings. No wonder therefore, that the followers of the Brahaminical religion looked forward eagerly to the day when their religious leaders would bring the monarchs round to their own path of Dharma and thus wipe the Jains out of the Tamil country. During the time of an important Saint Sambandar, Jainism received a mortal blow, from the effects of which it never recoverd. It is said that the Brahmin had begun to sing hymns in praise of Siva when he was only three years old. Gifted with brilliant learning he began the opposition againt jainism. By his unbounded influence at the courts of the Pandyan and Chola kings, he contrived to bring about a complete downfall of jainism. The Pandyan king fell seriously ill and the Jain Saints were asked to cure him. On their having failed to bring him round Samabander was asked to treat him who sang a hymn or two and the king was cured, so the legend goes. Elated with success, the clever Sambander took full advantage of this opportunity to prove to the king the utter futility of Jain mantras and the uselessness of the Jain religion. The doubting severeign ordered the Jains to accept the challenge thrown bv the Brahmin saint. Two tests were employed by mutual agreement, to decide the superiority of their faith—the ordeals of fire and water. The legend goes on to add that the sacred books of both the religions were thrown alternately into fire and water. The Saiva books were saved and the jain books were destroyed in both the ordeals. This was,a great blow to the Jains. From this time on they not only lost the confidence of the kings but hudreds of them were impaled. Amidst fables and mythical accounts, there stands the historic personality of Sambander who brought about the conversion of the king of Madura from Jainism to saivisim. This was the death blow to jainism in the South. A contemporary of Sambander, named Appor drove the jains out of the Pallava contry.

But it is not to be supposed that the Jains were completely rooted out of the country. The 8000 jains who were impaled were all leaders and not followers It is evident that both in the Pandya and the Pallava countries they were cruelly persecuted. Many of them migrated to their favourite religious centre Sravan Belgola in Mysore, where they received royal patronage. The few that remained in the Tamil land were devoid of all practical influence in the

contry although they retained thetr intellectual vitality and produced works of classical importance. The Jains were thus able to hold on till the Mahomedan conquest of the South and shared with other religious sects persecution and humiliation at the hands of the idol-breakers. The Mahomedan domination arrested the propogation of Hinduism and contributed to the religious, political and social dismemberment of the nation every where, but it conserved the minorities, small associations and small religions congregations. Buddhism no doubt almost died out of its land of birth but the torch of the Jain order was kept on burning and it can still account for a great number of its adhrents, spread most widely throughout the country.

The Jains are scattered in Southern India but the majority of them are poor cultivators, ignorant, illiterate and and all unconscious of the noble history and spacious traditions of their fathers. Their brothren in the North who represent a survival of early Jainism are comparatively better in life, most of them being wealthy traders and merchants. The vast Jain remains in South India of mutilated statues, deserted caves and ruined temples recall to our mind the greatness of the religion in days gone by and the rancour of the Brahmins who wiped it out of all active existence. The Jains had been forgotten, their traditions have been ignored. but the memory of that bitter struggle between Jainism and Hinduism is preserved on the walls of the Minakshi temple at Madura. The paintings illustrate the persecution and impaling of the jains at the instance of Sambander, the arch-enemy of jainism. It is indeed sad to note that beyond the lingering legends in secluded spots and wayside statues of her Saints and martyrs, Jainism in the South has left little to testify to the high purposes and political influences which she inspired in her fiery votaries of ancient days.

The jains had been great students and they loved literature and art for their own sake. The Jain contribution to Tamil literature forms the most precious possessions of the Tamils. Some of the works of the Jain Tamil literature like Kural and Naladujar have become classical. Not only Tamil literature but Canarese literature also owes a great deal to the Jains. The Jains wrote not only from

sectarian motives but also from a love of science and reproduced several Sanskrit scientific works in canarese.

Ahimsa or non-killing of living beings has been the essential principle of Jain moral conduct. No Hindu sect has carried Ahimsa or Sanctity for life further than the jains. Not only they abstain absolutely from all kinds of flesh but the more rigid of them drink only filtered water, breathe only through a veil and go sweeping the ground before them. for fear of unconsciously swallowing or crushing any invisible creature. This Jain respect for the life of living beings has influenced the vedic rites and ceremonies in that animal sacrifices in certain religious functions were completely stopped and images of beasts made of flour were substituted for the real ones required in conducting the Yagyas. Idol worship and temple building on a large scale in South India have been attributed to Jain influence. The essence of Brahmanism was not idol worship. The Jains had erected statues to their Tirthankeras and other spiritual leaders and worshipped them in large temples. The method of worship being highly impressive and attractive was at once imitated.

Besides, we find that the Dravidians had loved war and adventurous life and their literature is full of references to their martial habits. With the advent of the Buddhists and the jains a change in the tone of the literature of the South came. The Jains and the Buddhists who entered the Tamil country in largs numbers disliked the military habits and the hunting pursuits of the Tamils as being contrary to the spirit of their religions which proclaimed above all the message of Ahimsa. Their simple life, their intense piety, and the zeal with which they propogated their faith soon won for them royal patronage and court favour These they fully took advantage of. Well versed in Sanskrit and Prakrit literature, they imposed their ideals, their expressions and forms of life on the literature of the place—giving rise to the Augustan Age in the Tamil literature. The groundwork is non-Aryan whereas the superstructure is necessarily Aryan. Besides their influence in the literary annals of the south, the Jains had wielded considerable political influence as well But the prohibition of blood-shedding so emphatically preached by the Jain moral code had led to the political debasement of the

whole Jain race. The states of the South could hold their own for sometime but the continued adherance to the faith of non-injury to living beings gradually undermined the powers of states and contributed to their decline ultimately, just as the non-violent faith of Asoka had sapped the foundations of the Mauryan Empire The Jains had great authority specially with the states of Mysore, Cholas, Chalnkyas, Rashtrakutas and Hoysalas. The state of Vijoynagar had afforded special protection to the Jains. The rivalry between the Saivas and the Jains had been carried to the bitter extreme in certain states. The Hindu kingdom of Vijoynagar had arisen out of the disorder and anarchy that arose out of the Mahomedan rule and Jainism might have expected a revival under its rulers. It is to be noted however that most of the Hindu rulers were controlled in their state policy by the Brahmins. Still it is pleasing to note that the kings of Vijoynagar had not only never persecuted the Jains but in a way patronised them also The Saivas and the Jains were allowed to pursue their religious practices with perfect freedom. Evidences go to prove even this that some of them professed the Jain faith. The fact that Jainism could make great headway even in the midst of adverse forces is an evidence of the liberalism of the Jains and the followers of the Vaidic Dharma towards each other.

We shall close this narrative after mentioning and paying our homage to the women stalwarts to the cause of Jainism. The names of Jakkiyabbe, Atlinubbe, Jakki Sundari, Pambabbe, Padmavatiyakka, Malala Devi, Cattala Devi, Lakshmimati, Santala Devi, Siriya Devi Somala Devi who held aloft the torch of the Jain Dharma in spite of all the obstructions and calamities, shall always remain the noblest examples of woman hood in all its beauty, delicacy, bravery and powers of endurance.

The Jaina Chronology.

By

Syt. B. Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S.

(*Continued from Vol. XII, No. II, page 75.*)

No.	Period & date.	Events.
189	510 A. D.	Tormāṇa, the Hūṇa aggressor occupied northern part of India. A Jainācārya converted him to Jainism. Huṇas were defeated in 528 A. D. by Yasho-dharman. —Jainism in North India, pp. 210—221
190	528—533 A. D.	Yasho-dharma of Mālwā ruled. According to late MM. K. P. Jāyaswāla's version Yaso-dharma was the King Kalki of the Purāṇas, who persecuted Jainas. He was destroyed by an Asura and his son Ajitanjaya succeeded him and favoured the Jainas. —SJI, II, 2, 103—104.
191	500 *Circa*	Pātrakesari flourished. He was converted to Jainism and was a famous āchārya of Digambara Jainas' Dramila Saṁgha. He was a great logician and author of "Jinendra-guṇa-saṁstuti" and "Trila-Kṣana-Kadarthana." —Anekānta, I, 68—78.
192	526—535 A. D.	King Dhruvasena I ruled at Vallabhi and Devardhi-gaṇi Kṣamāśramaṇa flourished. He called a conference of the Śvetāmbara Jaina Saṁgha at Vallabhi in order to discuss the

No.	Period & Date.	Events.
		extant Anga literature; which he got written in book form with due modifications and additions for the first time —*Jacobi*, Kalpasütra, p. 67 & SJI, II, 2, 116.
193	545 A. D.	Vikrama Saṁvat 601. Meghachandra (24) Succeeds Māṇikyanandi (23) as pontiff in the Nandi Saṁgha on thronement at Bhaddilapura (Deccan). *loc cit.*
194	571 A. D.	Vik: Saṁ 627. Śāntikirti (25) succeeds Meghachandra (24) as pontiff at Bhaddilapore. *Ibid.*
195	586 „	Vik: Saṁ. 642. Merukirti (26) scceeds Śāntikirti (25). *Ibid.*
196	587 „	Śaka era 509. Death of the Hindu astronomer Varāhamihira, according to Ātmarāja: mentions *Nirgranthas* (Digambara Jainas) as one of the seven classes of religious mendicants (Brihaj jātaka and Laghu-jātaka) and refers to the Jaina astronomer Siddhasena. —*Jacobi*, Kalpasūtra, Intro: and *Hoerule* Ajivikas, Ency: of Religion & Ethics, I, p. 266.
197	606—647 A. D.	Harśavardhana Śilāditya ascended to throne at Kanauja and became a great monarch of northern India. He was a cosmopolitan ruler and stopped the killing of animals. Bāṇa was his court poet, who composed the "Harṣa-çarit", in which he

No.	Period & Date.	Events.
		mentions naked Arhatas (Digambara Jainas). Harśa himself was an scholar and composed works in Sanskrit. He died in 647 A. D —SJI, II, 2, 104—108.
198	643 A. D. *Feb. March.*	Harśavardhana convened a conference of all faiths, in which four thousands Buddhist Bhikkus and three thousands Brāhamaṇa and Jaiṇa scholars participated. Hieun-Tsāng, the Chinese pilgrim was also present in it. Harśa honoured all the assembled Jaina and other mendicants. —Ibid, p. 109—110.
199	610 A D	Mahendravarmana, the famous Pallava King and a devout Jaina flourished. On his conversion to Śaivism, he destroyed the large Jaina monastery at Pāṭaliputṭinam in South Arcot. —*Smith*, *Early History of India*, p. 472.
200	„	Jaina cave temples at Sittannavasal (Puddukottai State) were built which are famous for their paintings and Pallava art. —Annual Bibles Indian Archacology, 1930, pp. 9—10.
201	„	Nidhipannā and Chandipannā, sons of Mangala Seṭhī caused a Jaina Temple built at Tagadūra during the reign of Mahendravarmana. On their request King Mahendra grauted the villagc of Mūlaśalli, which they

No.	Period & Date.	Events.
		donated to Kanakasena disciple of Vinayasēnāchārya for the repairs of the temple. —SJI, II, 2, page II.
202	623 A. D.	Vik: Sam, 680. Kalachuri King Śankara Gaṇa established the Tirtha of Kulapāka. *Ibid*, 122.
203	630 A. D.	630—644 A. D. The Chinese Buddhist pilgrim Hieun Tsāng in India: records valuable observations about the Jainas showing their geographical distribution etc. He notices a good number of Nigrantha (naked Jaina) ascetics in Afghānistāna, testifies to the flourishing condition of Jainism in Kalinga and meets the adherents of the Digambara sect everywhere in Bengal, Orissa and Southern India. —*Beal* Seyuki, I, 144 and Vol. II p. 205, and हुएनसांग का भारत भ्रमण (इं० प्रे)
204	"	Vik: Saṃ: 686. Mahākirti (27) succeeds Merukirti (26) as pontiff in the Nandi-Saṁgha: enthronement at Ujjain in Mālavā. —IA, XX, 353 ff.
205	634 A. D.	Saka 556. Aihole inscription of the reign of the Western Chālukya Pulakesin II Satyāśraya recording the construction of a Jaina temple: composed by the Jaina poet Ravikirti, who claims equality with Kālidāsa and Bhārāvi. —Ep. Ind., VI p. 4.

No.	Period & Date	Events.
206	634 A. D.	Ādur (Dhārawar) inscription of Chālukya King Rājakirtivarmā records his gift to a Jaina temple, which was built by the Nagarasetha. —SJI., II, 2, 122.
207	648 A. D	Vik: Sam: 704, Viṣṇunandin (28) succeeds Mahākirti (27) as pontiff in the Nandi Saṁgha at Ujjain. —*loc. ceted.*
208	650 A. D.	The Jaina caves at Dabarwali or Torlā Lenā may for the present be assigned to about this period, but perhaps they belong to a somewhat earlier date. —*Burgess*, Arch: Sur: of West India, III, p. 11.
209	655 A. D.	Terrible persecution of the Jainas in the Deccan by Kūṇa Sundara or Nedumāran Pāndya, a Jaina convert to Śaivism: assigned to about this date by the Scholars. Sundara married the Chola-princess, the sister of Rājendra Chola, who was a devout Śaiva. She invited her preceptor Tirujñāna Sambandara and they both were instrumental in getting the King converted to Śaivism. Scenes of Sundaras atrocity against the Jainas are depicted in the paintings which are on the walls of a Śaiva temple at Tivatūra (Dist. Arcot). —EHI. (19, 14) pp. 454-5 and SSIJ., I, pp. 64-68.

No.	Period & Date.	Events.
		Earlier Pāndya rulers were devout Jainas. A branch of them ruled at Bārakura and another at Kārakala. Most of these Pāndya Kings followed Jainism. —SJI., III, I, 116-117.
210	660 or 678 A D.	A. Vira. 1204. Raviṣeṇa, pupil of Lakṣamaṇasena composes "Padmapurāṇa." — *Jacobi* Kalpasūtra, Intro. p. 30.
211	655—660 A. D.	Ganga King Muṣakara flourished. He followed the religion of Jinas with devotion and built a Jaina temple near Bellary, known as "Mokkara-Basti" —The Gangas of Talkād, p. 45 and Mysore and Coorg from Inscripts: p p. 37
212	660—665 A. D.	Sri Vikrama was the son of Muṣakara and succeeded him on the Ganga throne. He was a scholar and under him Jainism prospered. —Ibid. pp. 204-205 & SJI., III, 2. 100.
213	670 A D	Bhū Vikrama ascended the Ganga throne. His feudatory was a King of Bāṇa family, who was known as Mahābali-Bāṇa-Vikrmādity-Govinda Sachindra, He was a devout Jaina. —Ibid. pp. 46-48 and Mysore and Coorg: p. 37.
214	670 A. D.	Vik: Sam: 726. Śri Bhūṣaṇa (29) succeeds Viṣṇunandin (28) as pontiff in the Nandi

No.	Period & Date.	Events.
		Saṁgha at Ujjain (Mālavā). *loc. cit.*
215	670—715 A. D.	Śiva Māra succeeded Bhū Vikramā on the throne of the Ganga dynasty. He fought with the Pallavas bravely, who attacked Gangavādi and defeating them, he forced them to pay homage He was a brave soldier and Chālukyas treated him with due honour. —The Gangas: p. 50.

—To be continued.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in year.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4s. 8*d*. per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history-geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type, written, and addressed to. K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M A , D. Litt.

B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

Pt. NEMI CHANDRA JAIN SHASTRI, SAHITYARATNA

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य-दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं:—

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल. एल. बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पण्डित के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण
पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यरत्न

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १४ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XIII No. II

Edited by
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d Single Copy Rs. 1/8.

JANUARY, 1948.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १४ | पौष | किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३।) | एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४८

विषय सूची।

—:०:—

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १४	जनवरी १९४८। पौष, वीर नि० सं० २४७३	किरण २

ग्वालियर में जैन पुरातत्त्व

[ले० श्रीयुत पं० परमानन्द शास्त्री]

---o---

भारतीय इतिहास में ग्वालियर का स्थान महत्त्वपूर्ण है, वहाँ प्राचीन अवशेषों की कमी नहीं है, उसके प्रसिद्ध सूबों और किलों में इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। ग्वालियर का यह किला पहाड़ की एक चट्टान पर स्थित है। कहा जाता है कि इसे सूरजसेन नाम के राजा ने बनवाया था, वहाँ ग्वालिय नाम का एक साधु रहता था जिसने राजा सूरजसेन के कुष्ठ रोग को दूर किया था। अतः उसकी स्मृति में ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ग्वालियर के इस किले का अस्तित्व विक्रम की छठी शताब्दी में था; क्योंकि ग्वालियर की पहाड़ी पर स्थित 'मात्रिचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिर के शिलालेख में उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है। दूसरे किले में स्थित चतुर्भुज मन्दिर के वि० सं० ९३२-३३ के दो शिलावाक्यों में भी उक्त दुर्ग का समुल्लेख है। हाँ, शिलालेखों से इस बात का पता जरूर चलता है कि उत्तर भारत के प्रतिहार राजा मिहिरभोज ने जीत कर इसे अपने राज्य कन्नौज में शामिल कर लिया था और उसे विक्रम की ११ वीं शताब्दी के प्रारंभ में कच्छप या कछवाहा वंश के वज्रदामन नाम के राजा ने कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा से ग्वालियर को जीत कर अपना अधिकार कर लिया था। इस वंश ने ग्वालियर पर लगभग दो सौ वर्ष तक अपना शासन किया है; किन्तु बाद में पुनः प्रतिहारवंश की द्वितीय शाखा के राजाओं का उस पर अधिकार हो गया था; परन्तु वि० सं० १२४९ में दिल्ली के शासक अल्तमस ने ग्वालियर पर घेरा डालकर दुर्ग का विनाश किया, उस समय राजपूतों की शक्ति कुछ क्षीण हो चुकी थी, घोर संग्राम हुआ और राजपूतों ने अपने शौर्य का पूरा परिचय दिया; परन्तु मुट्ठी भ-

राजपूत उस विशाल सेना से कब तक लोहा लेते, आखिर राजपूतों ने अपनी आन की रक्षा के हित युद्ध में मर जाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियों ने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्व का परिचय दिया—वे अग्नि की विशाल ज्वाला में जल कर भस्म हो गईं—और राजपूत अपनी वीरता का परिचय देते हुए वीरगति को प्राप्त हुए और किले पर अल्तमस का अधिकार हो गया।

सन् १३९८ (वि० सं० १४५५) में तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया, तब अवसर पाकर तोमरवंशी वीरसिंह नाम के एक सरदार ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वंश के आधीन सन् १५३६ (वि० सं० १५९३) तक रहा। इसके बाद उक्त दुर्ग पर इब्राहीमलोदी का अधिकार हो गया, मुसलमानों ने अपने शासन काल में उक्त किले को कैदखाना ही बनाकर रक्खा। पश्चात् दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया. और अनन्तर जब बाबर उस दुर्ग को देखने के लिये गया, तब उसने उरवाही द्वार के दोनों ओर चट्टानों पर उत्कीर्ण हुईं नग्न जैन मूर्तियों के विनाश करने की आज्ञा दे दी थी—उसका यह कार्य कितना नृशंस एवं घृणापूर्ण था, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं।

सन् १८११ में दुर्ग पर मराठों का अधिकार हो गया, और तब से वहाँ पर उन्हीं का शासन चल रहा है। यह किला कला की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। किले में कई जगह जैन मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इस किले में से शहर के लिये एक सड़क जाती है, इस सड़क के किनारे दोनों ओर विशाल चट्टानों पर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तियाँ अंकित हैं, ये सब मूर्तियाँ पाषाणों की कर्कश चट्टानों को खोद कर बनाई गई हैं। इन मूर्तियों में भगवान् आदिनाथ की मूर्ति सब से विशाल है. उसके पैरों की लम्बाई नौ फीट है और इस तरह यह पैरों से पांच-छह गुणी ऊँची है। मूर्ति की कुल ऊँचाई ५७ फीट से कम नहीं है। मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजय ने अपनी तीर्थमाला में इस मूर्ति का प्रमाण बावन गज बतलाया है[1], जो किसी तरह भी संभव नहीं है, और बाबर ने अपने आत्म-चरित में इस मूर्ति को करीब ४० फीट ऊँची लिखा है[2], जो ठीक नहीं है, साथही, उसमें उन मूर्तियों के खंडित कराने का आदेश भी निहित है। यद्यपि अधिकांश मूर्तियाँ खंडित करा दी गई हैं, फिर भी उनमें की अधिकांश मूर्तियाँ अखण्डित मौजूद हैं। किले से निकलते ही उरवाही द्वार की भगवान् आदिनाथ की उस विशाल मूर्ति का दर्शन कर के

१ "बावन गज प्रतिमा दीसती, गढ़ गुवालेरि सदा सोभती" ॥३॥

शीलविजय तीर्थमाला, पृ० १११।

"गढ़ ग्वालेर बावन गज प्रतिमा वंदू ऋषभ रंगरोली जी ॥" १४-२॥

—सौभाग्यविजय तीर्थमाला पृ० ९८।

२ देखें—बाबर का आत्म चरित। इसमें उक्त मूर्ति का प्रमाण ४० फीट लिखा है जो किसी गलती का परिणाम जान पड़ता है।

दर्शक का चित्त इतना आकृष्ट हो जाता है कि वह कुछ समय के लिये सब कुछ भूल जाता है और उस मूर्ति की ओर एकटक निर्निमेष देखते हुए भी तबियत नहीं हटती। सचमुच में यह मूर्ति बहुत ही सुन्दर, कलात्मक और शान्ति का पुंज है। इसके दर्शन से ही परम शान्ति का स्रोत बहने लगता है। यद्यपि भारत में जैनियों की इस प्रकार की और भी कई प्राचीन मूर्तियाँ विद्यमान हैं। उदाहरण के लिये श्रवणबेल्गोला की बाहुबली स्वामी की उस विशाल मूर्ति को ही ले लीजिये, वह कितनी आकर्षक, सुन्दर और मनमोहक है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। एक बार टाटा कम्पनी का प्रसिद्ध व्यापारी टाटा अपने कई अंग्रेज मित्रों के साथ दक्षिण की उस मूर्ति को देखने के लिये गया, ज्योंही वह मूर्ति के समीप पहुंचा और उसे देखने लगा, तो मूर्ति को देखते ही समाधिस्थ हो गया, और वह समाधि में इतना तल्लीन हो गया कि मानों वह पाषाण के रूप में स्थित है, तब उसके साथी अंग्रेज मित्रों ने उसे निश्चेष्ट खड़ा हुआ देख कर कहा कि मिस्टर टाटा तुम्हें क्या हो गया है जो हमलोगों से बात भी नहीं करते, चलो अब वापिस चलें; परन्तु टाटा व्यापारी उस समय समाधि में लीन था, मित्रों की बात का कौन जबाब देता, जब उसकी समाधि नहीं खुली तब उन्हें चिन्ता होने लगी; किन्तु आध घंटा व्यतीत होते ही समाधि खुल गई और उसने यह भावना व्यक्त की कि मुझे किसी चीज की आवश्यकता नहीं है; किन्तु मरते समय इस मूर्ति का दर्शन हो। इससे पाठक जैन मूर्तियों की उपयोगिता का अंदाज लगा सकते हैं। ये मूर्तियां वैराग्योत्पादक और शान्ति की आयतन हैं। इनकी पूजा वंदना करने से जीव परम शांति का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार की कलात्मक मूर्तियों का निर्माण करने वाले शिल्पियों की अटूट साधना, अतुलित धैर्य और कला की चतुराई की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इसी प्रकार की मूर्तियाँ भगवान् नेमिनाथ और भगवान् महावीर की हैं।

इन सब मूर्तियों का निर्माण ग्वालियर के तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंह या करणसिंह के राज्यकाल में हुआ है, ये तोमर वंश के प्रसिद्ध शासक थे, इनकी जैनधर्म पर बड़ी आस्था थी, और तत्कालीन भ० गुणकीर्ति आदि के प्रभाव से प्रभावित थे। इनके राज्य में वहाँ जैनधर्म ने खूब समृद्धि पाई। राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह का राज्यकाल वि० सं० १४८१ से वि० सं० १५३६ तक सुनिश्चित है। जैन मूर्तियों की खुदाई का कार्य राजा डूंगरसिंह ने शुरू किया था, वह उसे अपने जीवन-काल में पूरा नहीं कर सका, तब उसे उसके पुत्र कीर्तिसिंह ने पूरा कराया था। जैन-मूर्तियों की खुदाई का यह कार्य ३३ वर्ष पर्यन्त चला है, इतने लम्बे अर्से में सैकड़ों मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई हैं और उनपर सहस्रों रुपये व्यय किये गये हैं। यद्यपि ग्वालियर में जैनाचार्यों, मुनियों, भट्टारकों और विद्वानों का सतत समागम रहा है उनकी निस्पृहता एवं निरीहता, त्याग और तपश्चर्या तथा अहिंसा और सत्य की निष्ठा का महत्त्व वहाँ की

जनता में व्याप्त था और उससे जैन संस्कृति के प्रचार में बड़ी मदद मिली है। वहाँ के पुरातत्त्व की विपुल सामग्री को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ग्वालियर में जैन शासन का प्रचार एवं प्रसार प्राचीन समय से रहा है। इसकी पुष्टि दूबकुण्ड वाले वि० सं० ११४५ के उस शिलावाक्य से होती है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है, और उससे वि० की १२ वीं सदी में जैनाचार्यों के विहार और धर्मोपदेश आदि का कितना ही परिचय मिल जाता है।

शिलालेख में महत्त्व की बात तो यह है कि ग्वालियर में कच्छप वंश के शासकों के समय में भी वहाँ जैन मंदिर मौजूद थे और नूतन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था, साथ ही शिलालेख में उल्लिखित लाडबागड गणके देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अंबरसेन और शांतिषेण इन पाँच दिगम्बर जैनाचार्यों का समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्ति के लेखक एवं शांतिषेण के शिष्य विजयकीर्ति से पूर्ववर्ती हैं। यदि इन पाँचों का समय १२५ वर्ष भी मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है तो उसे ११४५ में से घटाने पर देवसेन का समय १०२० के करीब आयगा। ये देवसेन अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे।

ग्वालियर में भट्टारकों की प्राचीन गद्दी रही है, और उसमें देवसेन, विमलसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रादि नाम के अनेक भट्टारक हुए हैं। इनमें से भ० यशःकीर्ति और गुणभद्र ने विविध ग्रंथों की रचना भी की है। और इनके समय में कवि रइधू ने भी विविध ग्रंथों का निर्माण किया है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि विक्रम की १५ वीं १६ वीं शताब्दी में ग्वालियर में जैन शासन का बड़ा प्रचार था, वहाँ के श्रावक जनों में धार्मिक प्रेम और परोपकार की वृत्ति पाई जाती थी।

ग्वालियर स्टेट के वर्तमान क्षेत्र में भेलसा, (विदिशा) उदयगिरि, पद्मावती (पवाया) कुंतलपुर[1] (कोतवाल), मंदसौर[2] (दशपुर), अवन्ति (उज्जैन), चंदेरी और नरवर आदि नगरों में बौद्ध और हिन्दुओं के प्राचीन पुरातत्त्व अवशेषों के साथ जैनियों के पुरातत्त्व के अवशेष भी उपलब्ध होते हैं यद्यपि जैनियों के पुरातत्त्व के सम्बन्ध में कोई विशेष अन्वेषण नहीं किया गया और न जैनमूर्तियों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी ही प्राप्त की गई, जिसके किये जाने की खास जरूरत है। फिर भी, गुप्तकालीन दो दिगम्बर मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं,

१ पद्मावती (पवाया) और कुंतलपुर (कोतवाल) ये दोनों नगर नाग राजाओं की राजधानी रहे हैं। पद्मावती नगरी से ही पद्मावती पुरवालों का निकास हुआ है। इस नगरी की महत्ता का उल्लेख खजराहे के वि० सं० १०५२ के शिलालेख में किया गया है।

२ यह दशपुर (मंदसौर) वही प्राचीन नगर है जहाँ पर विक्रम की दूसरी, तीसरी शताब्दी के प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य समन्तभद्र ने वाद भेरी बजाई थी। जैसा कि—'दशपुरनगरे भेरी मया ताडिता' वाक्य से प्रकट है। इससे यह स्पष्ट है कि दशपुर नगर में जिसे वर्तमान में मंदसौर कहते हैं जैन विद्वानों का प्रभुत्व रहा है, वहाँ आज भी जैनमन्दिर व शास्त्रभंडार पाया जाता है।

जिनमें एक मूर्ति बेसनगर से प्राप्त हुई थी, जो इस समय ग्वालियर किले के गूजरी महल के संग्रहालय में विद्यमान है। यह मूर्ति लगभग ७ फीट की ऊँचाई को लिये हुए है जो बड़ी ही सुन्दर तथा चित्ताकर्षक है[३]। और दूसरी उदयगिरि गुफा की है, जो अब खंडित रूप में है—केवल फणमात्र अवशिष्ट रह गया है[४]। यह जैनियों के तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ की भव्य मूर्ति थी।

जैन मूर्तियाँ ग्वालियर किले के अतिरिक्त नरवर और चंदेरी के किले में भी पाई जाती हैं, जिसमें नरवर के किले में वे नष्ट कर दी गई हैं। चंदेरी के किले में जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं वे विक्रम की १२ वीं १३ वीं शताब्दी की हैं। यदि जैन समाज ग्वालियर स्टेट में जैन पुरातत्त्व के अन्वेषण का कार्य प्रारंभ करे, जो भारी अर्थव्यय को लिये हुए है, तब तो वहाँ उसे अन्य स्थानों की अपेक्षा मूल्यवान जैन पुरातत्त्व के मिलने की संभावना है। यदि समग्र ग्वालियर के मूर्तिलेखों का ही संग्रह किया जाय तो उससे भी अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है। क्या जैन समाज इधर ध्यान देगा।

कतिपय जैन मन्दिर व मूर्ति निर्मापकों के समुल्लेख

(१) वर्तमान दूबकुंड (चडोभ) के उक्त शिलालेख में, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है; मुनि विजयकीर्ति के उपदेश से जैसवाल वंशी श्रावक दाहड, कूकेक, सूर्पट, देवधर और महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने वि० सं० ११४५ में विशाल जैन मन्दिर का निर्माण कराया था और जिसके पूजन, संरक्षण एवं जीर्णोद्धार आदि कार्यों के लिये कच्छपवंशी राजा विक्रमसिंह ने महाचक्र ग्राम में कुछ जमीन आदि भी प्रदान की थी[१]।

(२) जैसवालवंशी कुशराज ने, जो तोमरवंशी राजा वीरमदेव के महामात्य थे भगवान् चन्द्रप्रभ का एक चैत्यालय बनवाया था। और पद्मनाभ नाम के कायस्थ विद्वान से 'यशोधर चरित्र या दयासुन्दर' नाम का काव्य भी बनवाया था, जिसे पद्मनाभ ने महामुनि गुणकीर्ति के उपदेश से पूर्व सूत्रानुसार रचा था[२]।

---

३ देखो, विक्रमस्मृति ग्रंथ पृ० ७०४।

४ देखो, फ्लीट गुप्त अभिलेख पृ० २५८।

1 See Epigraphica India Val 11. P. 237.

२ ज्ञाता श्रीकुशराज एवं सकलक्ष्मापालचूडामणिः,
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान्।
मंत्री मंत्रविचक्षणः क्षणमयः क्षीणारि पक्षः क्षयात्,
क्षोण्यामीक्षणरक्षणक्षममति जैनेन्द्रपूजारतः॥
स्वर्गस्पर्द्धि समृद्धिकोऽतिविमलश्चैत्यालयः कारितो,
लोकानां हृदयंगमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभोः।

(३) अग्रवाल कुलावतंश, संसार शरीर भोगों से उदासीन, धर्मध्यान से संतृप्त, शास्त्रों के अर्थ रूपी रत्नसमूह से भूषित तथा एकादश प्रतिमाओं के संपालक खेल्हा नाम के ब्रह्मचारी श्रावक ने चन्द्रप्रभ भगवान की विशाल मूर्ति का निर्माण ग्वालियर में करवाया था[१]।

(४) साहू खेमसिंह के पुत्र कमलसिंह ने, दुर्गति की नाशक, मिथ्यात्व रूपी गिरीन्द्र को विनष्ट करने के लिये वज्र के समान, और रोग, शोक आदि दुःखों की नाशक भगवान् आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था और उसकी प्रतिष्ठा भी करवाई थी[२]।

(५) वि० सं० १५२१ में साहू पद्मसिंह ने महाकवि पुष्पदन्त का आदिपुराण लिखवाया था, उसमें ग्रंथ लिखाकर दान देनेवाले की दातृप्रशस्ति में पद्मसिंह के परिवार का परिचय कराते हुए लिखा है कि—पद्मसिंह ने एक लाख ग्रंथ लिखवाये थे और चौबीस जिनालय (जिनमंदिर) भी बनवाए थे, जैसा कि उक्त प्रशस्ति[३] की निम्न पंक्तियों से प्रकट है :—

ये नैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्यं तथा,
साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थापकम् ॥

× × × ×

उपदेशेन ग्रंथोऽयं गुणकीर्तिमहामुनेः ।
कायस्थपद्मनाभेन रचितः पूर्वसूत्रतः ॥

—यशोधरचरित्रप्रशस्ति ।

१ तातम्मि खवि बंभवय-भार-धारेण, सिरिअयरवालंक वंसम्मि सारेण ।
संसार-तणु-भोय-णिव्विरण चित्तेण, वर धम्मझाणामयेणेवतित्तेण ।
खेल्हाहिहाणेण णमिऊण गुरुतेण, जसकित्ति विणयत्त मंडिय गुणोहेण ।
भो मयणदाण दावग्गिउल्हवण वण दाण, संसार-जलरासि-उत्तार-वर जाण ॥
तुम्हं पसाएण भव-दुह कयंतस्स, ससिपहजिणेंदस्स पडिमा विसुद्धस्स ।
काराविया मई जि गोवाहले तुंग, उड्डुचावि णामेण तित्थम्मि सुहसंग ।

—सम्मइजिनचरिउ प्रशस्ति ।

२ जो देवाहि देव तित्थंकरु, आइणाह तित्थेस सुहंकरु ।
तहु पडिमा दुग्गइ णिण्णासणि, जामिच्छत्त गिरिंद सरासणि ।
जो पुण भव्वह सुह गइ सासणि, जामहि रोय-सोय-दुह णासणि ।
सा एयारह कर अविहंगि, काराविय णिरूवम अइ तुंगी ।
अरु णाय अणाइम को लक्खइ, सुरगुरुताह गण ण जइ अक्खइ ।
करि विपयट्ठ तिलउ पुण दिण्णउ, चिरु भवि पविहिउ कलिमलु छिण्णउ ।
चउविह संघहं विणय पयासिउ, कज्जु सयलु जासिद्धु सुहासिउ ।

—सम्मतगुणनिधान प्रशस्ति ।

३ देखें, जैन साहित्य संशोधक खण्ड २ अंक १ पृ० ८०

"एयाहि मज्झि सिरि पोमसिंह, जिण सासण णंदण वण सुसिंहु ।
विज्जुल चंचल लच्छी सहाउ, आलोइवि हुउ जिणधम्म भाव ॥
जिणगंथ लिहाविउ लक्ख एक्कु, सावण लक्खाहागति रिक्कु ।
मुणि भोयणु भुंजाविय सहासु, चउवीस जिणालउ किउ सुभासु ॥

ये पद्मसिंह ग्वालियर के निवासी थे, और देव शास्त्र-गुरु के भक्त थे और विपुल धनादि से सम्पन्न थे। इस समुल्लेख पर से स्पष्ट है कि १६ वीं शताब्दि में भी वहाँ जैनधर्म का विशेष प्रचार था।

(६) भ० गुणभद्र ने संघवइ (संघपति) उद्धरण के जिनालय में ठहर कर लब्धि-विधान कथा की रचना साहु सारंगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से की थी[1]। जिससे स्पष्ट है कि संघपति उद्धरण ने जिनमंदिर भी बनवाया था।

ग्रन्थ रचना के कतिपय उल्लेख

विक्रम की १५ वीं और १७ वीं शताब्दी में भ० यशःकीर्ति, कवि रइधू, भ० गुण-भद्र, कवि तेजपाल, कवि पद्मनाभ कायस्थ, कवि परिमल्ल और कवि ब्रह्मगुलाल ने, जो ग्वालियर के भट्टारक जगभूषण के शिष्य थे, त्रेपनक्रिया, और कृपण जगावन आदि कितने ही ग्रंथों को रचना सं० १६६५ और १६७१ के मध्य में की है।

(१) विक्रम की १५ वीं शताब्दी के उपान्त्य समय में भ० यशःकीर्ति ने वि० सं० १४९७ वे में पाण्डव पुराण और सं० १५०० में हरिवंश पुराण की रचना की है। तथा जिनरात्रि कथा और रविव्रत कथा भी इन्हीं की बनाई हुई है। और चन्द्रप्रभ चरित भी इनका बनाया हुआ कहा जाता है। स्वयंभूदेव के हरिवंशपुराण की जीर्ण-शीर्ण प्रति प्राप्त हुई थी जिसका समुद्धार भी इन्होंने किया था। यह भ० गुणकीर्ति के लघुभ्राता और शिष्य थे[2]।

(२) कवि रइधू ने, जो हरिसिंह संघवी के पुत्र थे। इनकी जाति पद्मावतीपुरवाल थी। इन्होंने भ० यशःकीर्ति के प्रसाद से अनेक ग्रंथों की रचना वि० सं० १४२२ से लेकर सं० १५२१ से पूर्व की है। इनकी अभी तक २३ कृतियों का पता चला है जिनमें १८ रचनाओं को मैंने देखा है; दो रचनाएँ और भी उपलब्ध हैं पर वे अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। शेष तीन कृतियाँ अभी अप्राप्य हैं, जिनके अन्वेषण होने की जरूरत है। रइधू और उनकी कृतियों का परिचय 'वर्णी अभिनन्दन' ग्रंथ में प्रकाशित मेरे लेख में देखना चाहिये।

---

१ देखें, लब्धि विधानकथा प्रशस्ति।

२ भ० यशःकीर्ति और उनकी रचनाओं के परिचय के लिये देखें, जैन-सिद्धांत-भास्कर भाग ११ कि० २ में प्रकाशित 'भट्टारक यशःकीर्ति' नाम का मेरा लेख।

(३) भ० गुणभद्र ने, जो भ० मलयकीर्ति के शिष्य थे, इन्होंने अपभ्रंश भाषा में छोटी छोटी १५ कथाओं की सृष्टि की है। इनका समय वि० की १६ वीं शताब्दी है।

(४) कवि तेजपाल ने, संभवनाथ चरित की रचना भी अपभ्रंश भाषा में की है और ग्रंथप्रशस्ति में भ० गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्र का उल्लेख किया है। ब्रह्मगुलाल का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(५) कवि परिमल ने सं० १६५१ में, जो ग्वालियर के निवासी थे, आगरे में आकर श्रीपाल चरित की रचना की है। इसके सिवाय और भी कितने ग्रंथों का वहाँ निर्माण हुआ है, जिनके सम्बन्ध में मेरा अन्वेषणकार्य चालू है, प्राप्त होने पर उनका परिचय भी कराने का प्रयत्न किया जावेगा।

इसके अतिरिक्त ग्रंथों की अनेक प्रतिलिपियाँ वहाँ की गई हैं जिनमें पद्मसिंह के द्वारा एक लक्ष ग्रन्थ लिखवाने का उल्लेख किया जा चुका है। उसके सिवाय और भी बहुत-से ग्रन्थ समय समय पर लिखवाये गये हैं। वि० १४८६ में भ० यशःकीर्ति ने डूंगरसिंह के राज्य काल में कवि श्रीधर का सुकमालचरित और विबुध श्रीधर के संस्कृत भविष्यदत्त चरित की प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयार्थ करवाई थी। सं० १५२१ में ज्ञानार्णव और महाकवि पुष्पदन्त के आदिपुराण की प्रतिलिपि भी कराई गई है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ की गई हैं। ग्वालियर के स्वयं भट्टारकीय शास्त्रभंडार में सहस्रों ग्रन्थ हैं जिनकी प्रतिलिपियाँ भी प्रायः वहाँ हुई हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में भी अनेक उल्लेख ग्रन्थ रचना, मंदिर और मूर्ति-निर्माण के होंगे, जिनका मुझे परिचय नहीं है।

इस तरह ग्वालियर में जैन पुरातत्त्व का यह संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यदि वहाँ के दिगम्बर, श्वेताम्बर सभी जैन पुरातत्त्व का संकलन किया जाय, जिसके किये जाने की महती आवश्यकता है तो उससे वहाँ विपुल ऐतिहासिक महत्वपूर्ण सामग्री के मिलने की संभावना है।

—०—

विश्व इतिहास और भूगोल के लिये जैन-साहित्य की महत्ता

(४)

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.]

(क्रमागत)

गताङ्क में विद्याधर-वंश की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला गया है; जिससे स्पष्ट है कि इस वंश के आदि पुरुष भारतवर्ष के ही मूल निवासी थे, यद्यपि वे राजशासन सम्बन्ध में वैताढ्य पर्वत पर जा रहे थे। कालान्तर में उनके अनेक वंश चारों ओर फैलगये थे। उनमें ही राक्षस और वानरवंशी विद्याधर नरेश हुए थे; किन्तु गलती से दूसरे लोग इन विशिष्ट मानवों को साक्षात् राक्षस और बन्दर समझते हैं। अतः राक्षसवंश और उसके निवास-स्थान के विषय में लिखना उपयुक्त है, जिससे जैन साहित्य का महत्व स्पष्ट होगा।

राक्षस-आदि विद्याधर वंश और उनकी भौगोलिक स्थिति

श्री रविषेणाचार्य कृत 'पद्मपुराण' में राक्षस और वानरवंशों का वर्णन मिलता है। रावण और हनुमान इन्हीं राजवंशों के नर-रत्न थे। 'पद्मपुराण' से स्पष्ट है कि दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के समय में विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी के चक्रवाल नगर के राजा पूर्णधन को विहायोतिलक नगर के राजा सहस्रनयन ने सम्राट् सगर की सहायता से हरा दिया था। पूर्णधन का पुत्र मेघवाहन भागकर भ० अजितनाथ की शरण में पहुंचा। समवशरण में राक्षस देवों के इन्द्र उससे प्रसन्न हुए और उसे लवण समुद्र के राक्षसद्वीप का राजा बना दिया। मेघवाहन का पुत्र महारक्ष उसके पश्चात्—उसके जैनमुनि हो जाने पर राजा हुआ और उसकी सन्तान उस द्वीप पर बराबर राज्य करती रही। इन राजाओं में एक राजा राक्षस नाम का बड़ा पराक्रमी हुआ। उसीके कारण यह विद्याधर वंश 'राक्षस' कहलाने लगा था। राक्षस के पुत्र कीर्तिधवल को मेघपुर के विद्याधर नरेश श्रीकंठ की पुत्री व्याही थी। एक संग्राम में श्रीकंठ अपने राज्य से हाथ धो बैठा था। इसलिये कीर्तिधवल ने उसे लंका से उत्तर भाग तीन सौ योजन समुद्र के मध्य वानर द्वीप का शासनाधिकारी बनाया। उस द्वीप में वानर मनुष्यों के समान क्रीड़ा करते थे अर्थात उसमें वनमानस रहते थे। श्रीकंठ ने उन वनमानसों को पाला और वहां किहुकंद पर्वत पर किहुकंद नगर बसाया। इसके उत्तराधिकारियों में एक अमरप्रभ राजा हुआ, जिसने अपनी ध्वजा में 'वानर' का चिन्ह रखना प्रारंभ किया। इसी कारण वह 'वानरवंशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह लाल मुखवाले विद्याधर राजा थे। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय में विद्याधरों में इन्द्र नाम का राजा महापराक्रमी हुआ। इसने सब ही विद्याधर राजाओं को अपने आधीन

करके उन्हें संगठित बनाया और उनका संगठन देवलोक की शाश्वतरचना के अनुरूप किया; देवों में जितने भेद हैं, वे सब उसने यहीं विद्याधर राजाओं में निश्चित किये। इस अनुरूप ही सुर, असुर, नाग, यक्ष, राक्षस आदि भेद राजाओं में मिलते हैं। राक्षसद्वीप अथवा लंका और पाताललंका का पराक्रमी राजा रावण हुआ, जो अहिंसाधर्म का अनुयायी था और जिसने पशुयज्ञों का अन्त किया था। सीता-अपहरण के कारण उसकी सच्चरित्रता पर काला धब्बा लगा था। इस प्रकार राक्षस और वानरवंशी राजाओं की उत्पत्ति उनको मानव घोषित करती है।

हिन्दू पुराणकारों ने भी राजा इन्द्र का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार इन्द्र की राजधानी और उद्यान आदि उत्तरीय ध्रुव प्रदेश में थे। वहाँ पर ही इन्द्र ने स्वर्गादि की कल्पना की थी।[1] किन्तु गलती से उपरान्तकालीन लेखकों ने इन्द्र और उसके देवनामधारी सामन्तों को वस्तुतः देवयोनि का समझ लिया। वास्तव में वह विद्याधर राजा थे। इस समीकरण को दृष्टि में रखने पर जैन शास्त्रों का विजयार्द्ध पर्वत उत्तरीय ध्रुव में कहीं पर अवस्थित अनुमानित होता है। उत्तरीय ध्रुव की जो खोज हुई है, उससे पता चला है कि किसी जमाने में वहाँ सभ्य मनुष्य रहते थे...उजड़े हुये नगरों के खंडहर वहाँ मिले हैं। संभवतः शीतके अधिक प्रकोप के कारण वहाँ के निवासी यूरुप और मध्यएशिया में आ रहे थे[2]। संसार में एक समय शीत के अत्यधिक प्रकोप का पता वैज्ञानिकों को चला है[3]। उसी समय विद्याधर लोग अपने नगरों को छोड़कर चले आये होंगे[4]। मध्य एशिया, तुर्किस्तान और तातार देशवासी अपने को 'काश्यप' नामक पूर्वज का वंशज बतलाते हैं[5], जो कि भ० ऋषभदेव के गोत्र का एवं उग्रवंश के मूल नायक काश्यप का द्योतक है।

जैन शास्त्रों में विजयार्द्ध पर्वत भरत क्षेत्र के बीच में बतलाया है। इस पर्वत और गंगा-सिन्धु नदियों से भरत क्षेत्र के छः खण्ड हो जाते हैं; जिसमें बीच का एक आर्यखंड है। भरतक्षेत्र का विस्तार ५२६$\frac{6}{19}$ योजन है और एक योजन २००० कोस का माना जाता है। अतः भरतक्षेत्र का विस्तार उपलब्ध लोक से बहुत बड़ा होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि भारतवर्ष को भरतक्षेत्र नहीं समझा जा सकता और न भारत की गंगा सिन्धु नदियां वे महागंगा और महासिन्धु नाम की नदियाँ हैं। हाँ, भारतवर्ष सहित सब ही उपलब्ध और ज्ञात लोक का समावेश भरतक्षेत्र के आर्यखंड में हो जाता है। स्व०

---

१ एसियाटिक रिसर्चेज़, भाग ३ पृ० ४२।

२ "वीर", भाग २ अंक १०-११।

३ प्री-हिस्टॉरिक इंडिया, पृ० ४३।

४ "पद्मपुराण" (पृ० ५२-१२५) पढ़ने से यही बात स्पष्ट होती है।

हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग २, पृ० २८।

पं० गोपालदास जी बरैया भी उपलब्ध दुनियाँ को आर्यखंड के अन्तर्गत मानते थे[1]। श्रवण बेलगोल के स्व० पंडिताचार्य जी ने आर्यखंड को जिन ५६ देशों में विभक्त किया था, उनमें चीन, अरब आदि देश भी शामिल थे[2]। मध्य एशिया, अफ्रीका आदि देशों को पुराने साहित्य में 'आर्यबीज' कहा भी गया है[3]। अतः इन सब देशों को आर्य-खंड के अन्तर्गत मानना ठीक है ? इस अवस्था में जैन शास्त्रों में जिन स्थानों का वर्णन मिलता है, जैसे भरतचक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन, तो वह विश्वभूगोल का परिचय पाने के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। योग्य विद्वानों को इस दिशा में विशेष अध्ययन और अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

उदाहरणरूप में राक्षसवंशी विद्याधरों के मूल निवासस्थान राक्षसद्वीप को लीजिये। भारतवर्ष अथवा मध्यएशिया में इस नाम का कोई देश नहीं मिलता है। किन्तु यूनानी लेखकों ने मिश्रदेश में कतिपय ऐसे प्रदेशों का उल्लेख किया है जिसे राक्षस-द्वीप कहा जा सकता है। यूनानी लेखक उस प्रदेश को रॉकोटिस (Rhacotis) कहते थे[4]। यूनानी भूगोलवेत्ता केडरेनस (Cedrenus) ने उसे 'रॉखास्तेन' (Rakhasten) (= राक्षस्थान) कहा है। यह प्रदेश सिकन्दरिया के निकट स्थित था[5]। प्लिनी (Pliny) ने लिखा है कि मेसफीस (Mesphees) नामक मिश्र के एक प्राचीन राजा ने यहाँ पर दो स्तंभ बनवाये थे और उससे पहले अनेक राजाओं ने वहाँ दुर्ग वगैरह बनवाये थे[6]। यह प्रदेश अन्तरीय कुशद्वीप के किनारे पर 'त्रिशृङ्ग' अर्थात् तीनकूट वाले पर्वत से सटकर विद्यमान था[7]। जैन शास्त्रों में भी राक्षसद्वीप में तीनकूटवाला 'त्रिकूटाचल' पर्वत बतलाया गया है। वहाँ पर कमलों से मंडित उद्यान और वन भी बताये गये हैं। मिश्र के उस भाग में जहाँ सिकन्दरिया बसी है, पुराने जमाने में बहुत से वन थे, जिनके कारण वह 'अटवी' कहलाता था। नील नदी का यह मुहाना गहन वन से भरा था। यूनानी लोग उसे अपनी देवी का पवित्र स्थान (Sacred to the Goddess Diana) मानते थे[7]। इन सादृश्यों को देखकर यदि राक्षसद्वीप मिश्र की ओर माना जाय तो अनुचित नहीं है। भारत में तो वैसा कोई स्थान दिखता नहीं ! हमारे लिखने का अभिप्राय यह है कि यदि जैन शास्त्रों के कथनों का अध्ययन तुलनात्मक रूप में किया जावे, तो एक नया प्रकाश विद्वत् जगत को प्राप्त हो।

---

१ जैनहितैषी, भा० ७ अंक ६।

२ एसियाटिक रिसर्चेज़, भा० ९ पृ० २८२।

३ हिन्दी विश्वकोष, भा० २ पृ० ६७१-६७४ एवं एशि० रि०, भा० ३ पृ० ८८।

४ ऐशियाटिक रिसर्चेज़, भाग ३ पृ० १०० व १८६।

५ पूर्व०, पृ० १८६।

६ पूर्व०, पृ० १५४।

७ पूर्व०, पृ० ६७ व १६४।

प्राचीन भूगोल के विषय में भी बहुत सी नई बातें मालूम हों। विद्याधर वंश के राजाओं का सम्पर्क भारत-बाह्य देशों से रहा है। इसलिये उनके कथानकों का मध्य एशिया आदि देशों की कथाओं से तुलना कर के अध्ययन करना आवश्यक है।

इक्ष्वाकु आदि वंश

भारत के अवशेष मुख्य राजवंशों में कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंश और नाथवंश रहते हैं। कुरुवंश के ही अर्धचक्र जयसेन प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत के सेनापति थे। वह मेघेश्वर भी कहलाते थे। कुरुक्षेत्र के वह शासक थे और उनकी राजधानी हस्तिनागपुर थी। शान्ति, कुन्थु, और अरह तीर्थङ्कर और चक्रवर्ती भी इस वंश में हुये थे। वात्सल्यधर्म के आदर्श के संस्थापक मुनि विष्णुकुमार भी इसी वंश के रत्न थे। 'महाभारत युद्ध' में कौरव पांडवों के वंशिष्ठी थे। सारांश कुरुवंश एक अत्यन्त प्राचीन और महत्वशाली राजवंश रहा है। इसका इतिवृत्त इकट्ठा करके देखने की आवश्यकता है कि विश्व इतिहास में उनका क्या स्थान है?

हरिवंश संभवतः कुरुवंश इतना प्राचीन नहीं है। 'हरिवंश पुराण' में इस वंश की उत्पत्ति राजा हरि द्वारा भ० मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में हुई बताई जाती है। विद्याधर वंश का एक राजा इस देश में आ गया था। उसका पुत्र हरि हुआ, जो अपने पराक्रम के लिये प्रसिद्ध था[1]। किन्तु 'आदिपुराण' में (१६।३४१-२७५) 'हरिवंश' की उत्पत्ति भी भ० ऋषभ द्वारा हुई निर्दिष्ट है। वहाँ राजा हरिकान्त को इस वंश का मूलनायक बनाया है। इसी 'हरिवंश' में उपरान्त राजा यदु हुये थे, जिनसे 'यादव' वंश प्रसिद्ध हुआ था। इन यादवों का जनतन्त्रात्मक राजसंघ था, जिसका प्रत्येक सदस्य राजा कहलाता था। इन वंशों के विषय में भी विशेष अध्ययन की आवश्यकता है। विदेशों से इनका सम्पर्क रहा है।

इक्ष्वाकुवंश भ० ऋषभनाथ का मूल राजवंश था। 'आदिपुराण' में लिखा है कि "जिस समय कल्पवृक्ष नष्ट हुए थे, उस समय भगवान ने मनुष्यों के लिये प्रथम ही इक्षुरस ग्रहण करने का उपदेश दिया था, इसलिये लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु कहते थे। 'इक्षून् आकयति कथयतीति इक्ष्वाकुः' अर्थात् जो ईख लाने को कहे उसे 'इक्ष्वाकु' कहते हैं"। (आदिपुराण संक्षिप्त, पृ० ७७-७८) इस वंश में बड़े २ पराक्रमी राजा हुए थे। पश्चात् इसी वंश से 'सूर्य' और 'चन्द्र' वंशों की भी उत्पत्ति हुई थी। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के शिलालेख भी मिलते हैं; जिनको अध्ययन करने की जरूरत है। विदेशी 'किश' राजवंशावली में भी इक्ष्वाकु का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि इस वंश के महापुरुषों ने विदेशों में भी राज्यस्थापना की थी!

---

१ हरिवंशपुराण' (मा० चं० ग्रं०) सर्ग १५ श्लो० ५२—५८, पृ० २४६।

<u>**काश्यपवंश**</u> का ही अपर नाम 'उग्रवंश' है। 'संक्षिप्त आदिपुराण' (पृ० ७७) में लिखा है कि "काश्यप ने अपना नाम मघवा रक्खा और 'उग्रवंश' का मूल नायक हुआ।" तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ भी उग्रवंश के थे। उपरान्त नागवंश के राजाओं का सम्पर्क उग्रवंश से माना जाता है। उरग या उग्र नागवंश के समान ही 'उइगरस्' (Uigurs) नामक जाति के लोग मध्य एशिया में रहते थे[1]। संभव है, यह मूलतः उग्रवंश से सम्बन्धित हों। मध्य एशिया के यह लोग अपने पूर्वज का नाम काश्यप ही बताते हैं[2]।

<u>**नाथवंश**</u> में अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ था। 'आदिपुराण' में लिखा है कि सती सुलोचना के पिता अकम्पन ने अपना नाम श्रीधर रक्खा था और वही 'नाथवंश' का मूल नायक हुआ था। यह वंश 'ज्ञातृकुल' नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। इस वंश की ऐतिहासिक स्थिति प्रकट करने वाले कई लेख 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुए थे।

इस प्रकार विज्ञ पाठक देखेंगे कि जैन साहित्य विश्वइतिहास और भूगोल के अध्ययन के लिये कितने महत्व की वस्तु है। क्या ही अच्छा हो कि योग्य जैन विद्वानों द्वारा इस दिशा में विशेष अन्वेषण कराया जावे। इतिशम्।

---

१ इंडियन हिस्टॉरीकल कारटर्ली, भा० १ पृ० ४६०।

२ इं० हि० का०, भा० २ पृ० २८।

नीतिवाक्यामृत और उसके कर्त्ता

[लेखक—श्रीयुत पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री, पो० महरौनी, जिला झाँसी]

(गताङ्क से आगे)

अर्थशास्त्र और नीतिवाक्यामृत में कहाँ कहाँ और किस बात में अन्तर है इस बात के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) चाणक्य की राय मे राजनीति अर्थ पुरुषार्थ में है, जबकि नीतिवाक्यामृत के कर्त्ता उसे धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों में शामिल करते हैं, इसीलिए उन्होंने ग्रन्थ का नाम अर्थशास्त्र न रख कर नीतिवाक्यामृत रक्खा है क्योंकि पुरुषार्थ भरी नीति त्रिपथगा है।

(२) चाणक्य की राय में जब व्यसन सात हैं तब सोमदेव सूरि की सम्मति में व्यसन अठारह हैं।

(३) अर्थशास्त्र में सामाजिक सम्बन्ध के लिए जब कोई स्वतंत्र प्रकरण नहीं है तब नीतिवाक्यामृत में व्यवहार समुद्देश नामक स्वतंत्र प्रकरण है।

(४) अर्थ शास्त्र में जबकि राजा की दिनचर्या राज्यकार्योन्मुखी है अर्थात् केवल अर्थ साधने वाली है तब नीतिवाक्यामृत में धर्म, अर्थ और कामोन्मुखी है।

(५) आर्य चाणक्य ने राजमण्डलों की संख्या जब कि १२ लिखी तो नीतिवाक्यामृतकार ने १३।

(६) कौटिल्यादि नीतिकारों ने अनन्तर राज्य को मित्रमाना है पर सोमदेवसूरि ने एकान्ततः ऐसा नहीं माना है।

(७) दोनों शास्त्रों के उदाहरण भी भिन्न भिन्न हैं। प्रकीर्णक समुद्देश के विषयों की चर्चा आर्य चाणक्य ने नहीं की है जबकि सोमदेव सूरि ने इसके लिये स्वतंत्र ही समुद्देश लिखा है इस समुद्देश को आप नीतिवाक्यामृत का परिशिष्ट ही समझिये।

और विशेषता यह है कि आर्य चाणक्य ने जब कि "औपनिषदिकम्" नामक प्रकरण लिखकर हिंसात्मक गुप्त विधानों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है, तब सोमदेवसूरि ने उसे सर्वथा ही छोड़ दिया है। हाँ यह बात सच है कि अर्थशास्त्र जाने बिना नीतिवाक्यामृत का अर्थ ठीक ठीक नहीं लग सकता। कारण अनुग्रह, परिहार, विष्टि, कृत्य, उपधा, शिष्ट, आत्मसम्पत्ति, द्रव्यप्रकृति आदि ऐसे अनेक शब्द आये हैं जो कि राजनीति में पारिभाषिक हैं उनका यथार्थ अर्थ समझने के लिए अर्थशास्त्र भाष्य का काम देता है।

एक शंका का समाधान

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पं० सतीशचन्द्र जी विद्याभूषण एम. ए., पी. एच. डी. ने नीतिवाक्यामृत को देख कर शंका की थी कि जब यह जैन-धर्माचार्य की रचना है तब इसमें वैदिकधर्म की छाप क्यों? इसी प्रकार अन्य अजैन विद्वानों ने भी यही शंका की थी। उसके उत्तर में नीचे लिखी चार बातें समझने में आई हैं, पाठक उनके ऊपर विचार करें।

(१) न जाने कब से इस देश में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित है सारे भारत का संगठन इसीकी न्यू पर खड़ा है। आज जब यह दशा है तब सोमदेव आचार्य के समय में तो उसका और प्रबल रूप होगा। कारण राजा और प्रजा दोनों ही उस समय उसके शासन में थे। वर्णाश्रमधर्म के परिपोषक वेद हैं अतः उन्हीं के आधार पर देश के रीतिरिवाजों का चलन था इसलिए वह लोक-धर्म कहलाता था। रूढ़ि अर्थात् रिवाज कानून न होने पर भी कानून का ही दर्जा रखता है। वह रिवाज तीन तरह का होता है—देशीय, जातीय और लौकिक, तीनों प्रकार के रिवाज वैदिक क्रियाओं से ओत-प्रोत थे।

(२) नीतिवाक्यामृत जिनके अनुरोध से लिखा गया था वे कन्नौज के महाराजा महेन्द्र-देव भी स्वयं वैदिक धर्मानुयायी थे।

(३) प्राचीन राजनीति का यह साहित्य जिसके मसाले से नीतिवाक्यामृत रचा गया है उसके बनाने वाले अधिकतर वैदिक-धर्मानुयायी ही थे।

(४) सोमदेवसूरि जैनधर्माचार्य होकर भी स्वयं इस बात के प्रचारक थे कि यदि लौकिक क्रियायें वैदिक रीति से प्रचलित हैं; जन साधारण में उनका स्थान जमा हुआ है तो हम उसका क्यों विरोध करें। राजा और प्रजा अपनी परम्पराओं को पालते हुए शान्ति से सुखोपभोग करे यही हम राजनीतिकारों को इष्ट है। लौकिक क्रियाओं के यदि वे वेद या अन्य शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं तो इसमें हमारी क्या क्षति है। हमें तो उनकी मन-स्तुष्टि से तात्पर्य है। यदि कोई ईसाई हिन्दुओं के लिए लॉ लिखेगा तो वह हिन्दू लॉ ही होगी और यही कार्य ऊपर के तीन कारणों को देखते हुए श्रीसोमदेवसूरि ने किया है। अतः नीतिवाक्यामृत में वैदिक धर्म के आन्वीक्षिकी और त्रयीविषयों का सन्निवेश होना ही चाहिए था। हाँ यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि इतना करने पर भी उन्होंने वेद को ईश्वरीय प्रणीत तथा स्वतः प्रमाण नहीं माना है वे उन्हें "ऐतीह" कहते हैं। ऐतीह का अर्थ होता है परम्परागत उपदेश और साथ में वे यह भी कहते हैं कि वेदों के सभी अंशों को सज्जन प्रमाणभूत न माने किन्तु उन्हीं अंशों को कि जिनमें सुनिश्चित प्रमाणों से कोई बाधा नहीं आती है अथवा पूर्वापर विरोध नहीं है। कुछ लौकिक क्रियायें ऐसी भी हैं कि जिनमें वास्तव में न तो धर्म है और न अधर्म; परन्तु लोक में प्रचलित होने से लौकिक धर्म में शामिल हैं।

ग्रन्थनिर्माण का कारण

नीतिवाक्यामृत की हिन्दी टीका लिखने के कुछ मास पश्चात् माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में बम्बई से संस्कृत टीका सहित नीतिवाक्यामृत प्रकाशित हुआ। उसके देखने के लिए तब हमारी उत्कण्ठा बढ़ी क्योंकि हमारी टीका गोपाल नारायण कम्पनी द्वारा मुद्रित प्रति पर से थी। हमारे मांगने पर ग्रंथमाला के मंत्री श्रीयुत पं० प्रेमी जी ने वह हमारे पास भेज दी। संस्कृत टीका को देख कर तो हमारा मन प्रसन्न न हुआ क्योंकि उसकी रचना शिथिल थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र की अप्राप्ति से उसके टीकाकार सूत्र का अर्थ नहीं खोल सके। बल्कि कई जगह तो वह विपरीत ही हो गया। विशेषज्ञ पाठक दोनों की तुलना कर जान सकते हैं। उदाहरण के तौर पर एक स्थल बताता हूँ:—

षाड्गुण्य समुद्देश में विजिगीषु का लक्षण आया है उसमें "आत्मदैव द्रव्यप्रकृति सम्पन्नः" ऐसा पद आया उसका अर्थ संस्कृत टीकाकार ने इस प्रकार लिखा है:—"आत्म शब्द से राज्याभिषेक, दैव से पुरातन शुभकर्म, द्रव्य से भाण्डागार और प्रकृति से अमात्य आदि जानना चाहिये।" पर वास्तव में इसका अर्थ यह नहीं है। प्रकृति शब्द से यहाँ अमात्यादि अर्थ इष्ट नहीं है किन्तु प्रकृति शब्द से उत्तर भेद अर्थ ही इष्ट है। जैसे कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ होती हैं। यहाँ प्रकृति शब्द से द्रव्य शब्द भी पृथक् नहीं है वस्तुतः अर्थशास्त्र के अनुसार द्रव्य, प्रकृति एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ होता है—अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष और सेना। इन पाँचों का एक नाम द्रव्यप्रकृति है और विजिगीषु आदि १२ राजमण्डल को मिलकर ये सब कुल ६० द्रव्यप्रकृतियाँ होती हैं। द्रव्य शब्द प्रकृति निर्पेक्ष नहीं किन्तु प्रकृति सापेक्ष है ऐसी दशा में द्रव्य का अर्थ भाण्डागार कैसे किया जा सकता है। इसी प्रकार आत्म शब्द का अर्थ राज्याभिषेक कैसे ठीक कहा जा सकता है। यद्यपि यहाँ राज्याभिषेक के बाद दिग्विजय करने की प्रथा थी तथापि राज्याभिषिक्त होते ही दिग्विजय करने के लिये योग्य नहीं हो जाता उसके लिए अन्य गुण बड़े आवश्यक हैं उन्हीं को यहां आत्मसम्पत्ति के नाम से कहा है। नीचे लिखे गुण आत्मसम्पत्ति में शामिल हैं:—प्रज्ञा, प्रगल्भ, स्मृति, मति और बल का होना। उन्नत शरीर से सुन्दर, कलाकुशल, अल्पभाषी, दृढ़, उपकार, और अपकार में दृष्ट प्रतीकारी, लज्जालु, प्रकृति (अमात्यादि) का विनियोगी, दीर्घदर्शी, दूरदर्शी, देश, काल, पुरुषार्थ और कार्य को विचार कर आरम्भकारी, संधि, विक्रम, दान, संयम, धन और शत्रु के छिद्र का विभागकारी, मुखविकार, परिहास, भ्रकुटिविक्षेप और नेत्र विकार को दबानेवाला, काम, क्रोध, लोभ, चापल्य और पैशून्य से शून्य, शक्यसामन्त, हँसमुख, स्पष्टभाषी और वृद्धोपदेशानुगामी होना चाहिए।

अर्थ शास्त्र में भी यह सूत्र कुछ शब्दों के हेर फेर से इसी प्रकार का है और इसका भाष्य भी वैसाही है जैसा कि ऊपर हमने लिखा है।

जहाँ कुछ पारिभाषिक शब्द आये हैं और लेखक के दोष से यदि उनका रूपान्तर हो गया है तो उसका ही अर्थ इस टीका में कर दिया गया है। जैसे "विष्टि" शब्द कुछ परिगणित मजदूरों का नाम है परन्तु लेखक-दोष से या समझ की कमी से वहाँ विशिष्ट पाठ हो गया है तो उसका ही अर्थ कर दिया गया है ऐसी अनेक त्रुटियाँ इस टीका में हैं। और जो उद्धरण भी दिये गये हैं उनकी रचना प्रशस्त नहीं, एक मामूली पंडित द्वारा एक ही भाषा में ढले हुए दिखते हैं। आर्य चाणक्य ने उन्हीं ऋषियों के जो वाक्य अपने यहाँ उद्धृत किये हैं वे कितने महत्त्व तथा ओज से पूर्ण हैं। इसलिए इस टीका के विषय में मेरी प्रेमी जी जैसी राय नहीं है। पर इस टीका से इतिहास की एक खोज के लिए नया प्रकाश मिला। इसके लिये हम बहुत कृतज्ञ हैं। इसमें लिखा है कि नीतिवाक्यामृत कन्नौज के महाराजाधिराज महेन्द्रदेव के लिये बनाया गया था। महेन्द्रदेव प्रतिहार वंशीय सार्वभौम सम्राट् थे। कौटिलीयअर्थशास्त्र की क्लिष्टता तथा विस्तार से वे खिन्न थे इसलिये उससे संक्षिप्त तथा सरल कोई अर्थशास्त्र बनाने के लिये उन्होंने श्रीसोमदेव सूरि से अनुरोध किया और उसी के फलस्वरूप यह ग्रंथ है।

"आर्य चाणक्य ने जिस प्रकार मौर्य चन्द्रगुप्त के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र लिखा उसी प्रकार आप हमारे लिए कोई अर्थशास्त्र लिखिये, जिससे दोनों की स्मृति बनी रहे।"

हमारी समझ में यह भावना भी महाराज महेन्द्रदेव के मन में होनी चाहिए अस्तु इस टीका के उपर्युक्त कथन से उस समय माननीय प्रेमी जी सहमत नहीं हुए उन्होंने आपत्ति की कि दोनों में समय का मेल नहीं खाता। एक दिन हम एक छात्र को यशस्तिलकचम्पू पढ़ा रहे थे। पढ़ाते पढ़ाते जब हमारी दृष्टि (सोऽयमाशार्पितयशा महेन्द्रामरमान्यधीः। देयात्ते सन्ततानन्दं वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः।) इस श्लोक पर गई तब हमारे हर्ष का ठिकाना न रहा। क्योंकि श्लोक से संस्कृत टीका की उक्त बात का समर्थन होना था। वह द्व्यर्थक है। जिनेन्द्र अर्थ के साथ प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षर को लेने से ग्रन्थकर्त्ता सोमदेव का भी अर्थ आता है और महेन्द्रामरमान्यधीः पद से महेन्द्रदेव से मान्य प्रतिभा वाले यह भी बात ध्वनित होती है। यद्यपि यह बात यशस्तिलक के टीकाकार ने नहीं लिखी है। इसके बाद मंगलाचरण के जिस प्रथम श्लोक पर हमारी दृष्टि पड़ी वह श्लोक यह है "श्रियं कुवलयानन्दप्रसादितमहोदयः। देवश्चन्द्रप्रभः पुष्याज्जगन्मानसवासिनीम् ॥" इस श्लोक के भी दो अर्थ हैं। "महोदय" का दूसरा अर्थ कन्नोज है क्योंकि उसका यह नाम भी महाकवि राजशेखर आदि के ग्रन्थों से प्रसिद्ध है। देव का अर्थ है "महेन्द्रदेव" आचार्य ने प्रेमवश मंगलाचरण में मंगल कामना कर इस सम्राट् को संक्षिप्त नाम से आशीर्वाद दिया है। सोमदेव कृत एक ग्रन्थ का भी नाम महेन्द्रमातलि संजल्प है। इस नाम में भी महेन्द्र पद आया है। यशस्तिलक में महेन्द्रदेव और महीपाल के वंश का भी नाम (रघुवंशमिव माघधीः प्रसूतम्) कहकर लिखा है। ये दोनों रघुवंशी थे। महेन्द्रदेव के

पिता "आदिवराह का" जिनका कि अपर नाम भोज भी था उल्लेख एक श्लिष्ट पद से हुआ है (आदिवराहदंष्ट्रामुक्ताफलमिव आ० ३ पृ० ५३) यशस्तिलक में सैकड़ों ऐतिहासिक बातों का कथन श्लिष्ट पदों में छिपा हुआ है, जिसके गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। यशस्तिलक के पाठ से ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य ने यशोधर महाराज के वैभव के व्याज से अपने स्नेह पात्र महाराज महीपाल के वैभव का स्वयं दृष्ट वर्णन लिखा है। वैभव में दोनों की समता स्पष्ट झलकती है। एक जगह आचार्य ने यशोधर महाराज को स्पष्ट शब्दों में "अहिच्छत्रक्षत्रीय चूडामणि" लिखा है। पक्ष में सम्राट् महीपाल की भी ध्वनि प्रकट होती है क्योंकि अहिच्छत्रक्षत्रीय शाखा के वे भी थे। इसके सिवाय यशस्तिलक के द्वितीय आश्वास पृ० ११३ में "कलिकालव्यालधर्मावलोकमहीपाल" वाक्य से वे महीपाल का सम्बोधन करते हैं और उसकी प्रशंसा में कहते हैं कि हे महीपाल तू कलिकाल के लिए व्याल अर्थात् नाग है। महीपाल का एक पूर्वज महाराजा नागावलोक भी था जो कि धर्म तथा प्रताप के लिए अति प्रसिद्ध था अतः कलिकाल व्याल इस पद से यह भी ध्वनित होता है कि हे महीपाल तू कलिकाल का व्याल अर्थात् नागावलोक है क्योंकि तेरे गुण भी उसके समान ही हैं। धर्मावलोक (जिसका अर्थ होता है रक्षक) पद से पता लगता है कि यह महीपाल का दूसरा नाम था। धर्मावलोक, नागावलोक आदि नामों से ज्ञात होता है कि इस वंश के कुछ राजाओं के नाम में अवलोक पद लगाने की एक प्रथा थी। महान "अशोक" का नाम भी "धर्माशोक" पाया जाता है। "अस्मिन्महिपाल गजे सदाने जगत्यभूत्कस्य न दानभावः। क्षितिः सदानार्थिजनः सदानस्तवारिवर्गश्च यतः सदानः। 'अये' विग्रहाग्रहग्रहिल एव स महीपालः आ० ३" इन स्थलों में भी महीपाल का संकेत पाया जाता है। यशस्तिलक में महेन्द्रपाल और महीपाल के दरबारी कवि तथा उपाध्याय "राजशेखर" का नाम भी प्रसिद्ध महाकवियों की नामावली में लिखा है अतः उपर्युक्त कथन से तथा संस्कृत टीकावाली जनश्रुति के आधार से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि श्री सोमदेव सूरि का तथा कान्यकुब्जेश्वर सार्वभौम सम्राट् महेन्द्रदेव का तथा उनके उत्तराधिकारी महीपाल का अवश्य घनिष्ट स्नेह सम्बन्ध था, महेन्द्रदेव प्रथम ही नीतिवाक्यामृत के निर्माण में कारण हैं।

समय निर्णय।

सोमदेवसूरि कब हुए? और यशस्तिलकचम्पू तथा नीतिवाक्यामृत कब बने? यह जानने के लिये विशेष ऊहापोह करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि ग्रंथ में दी हुई प्रशस्तियों से ही हमें इस बात का पता लग जाता है। यशस्तिलकचम्पू में नीचे लिखी हुई एक प्रशस्ति दी है :—

"शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थ-संवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्यसिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेल-

पाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्द-महासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेशरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वग्गराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गंगाधारायां विनिर्मापित मिदं काव्यमिति।" अर्थात् शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में पाण्ड्य, सिंहल, चोल तथा चेरम आदि देशों के राजाओं को जीतनेवाले महाराजाधिराज श्रीकृष्णराजदेव जब मेल्पाटी में साम्राज्य संभाल रहे थे तथा उनके पादपद्मोपजीवी चालुक्य नरेश श्रीअरिकेशरि के प्रथम पुत्र महासामन्त महाराज श्री वद्दिगराज गंगाधारा में राज्य कर रहे थे तब यह यशस्तिलक चम्पू नाम का महाकाव्य सिद्धार्थ नामक संवत्सर में चैत्र की मदन त्रयोदशी को गंगाधारा में पूर्ण हुआ।

इस प्रशस्ति में जिस कृष्णराजदेव का नाम आया है और जिनको पाण्ड्य, चोल, आदि देशों का विजेता लिखा है वे दक्षिण के इतिहास के अनुसार राष्ट्रकूटवंशीय तृतीय श्रीकृष्ण राजदेव के हैं इनका अपर नाम अकालवर्ष भी था। इनके पिता का नाम तृतीय अमोघ वर्ष था ये दक्षिण के सार्वभौम सम्राट् थे और मेल्पाटी या मान्यखेट में इनकी राजधानी थी। चालुक्य नरेश इनके आधीन महासामन्त थे। कन्नड़ भाषा का प्रसिद्ध कवि "पोन्न" शान्ति पुराण का कर्त्ता है। इसकी रचना पर प्रसन्न होकर इन्हीं तृतीय कृष्णराजदेव ने इसको अपने दरबार से "उभयभाषा कविचक्रवर्ती" की पदवी दी थी। "कन्नड साहित्य" के इतिहास के लेखक ने तृतीय कृष्णराजदेव का राज्यकाल ई० सन् ९३९ से ९६८ (वि० सं० ९९३ से १०२२) तक लिखा है। यह समय यशस्तिलक की प्रशस्ति से ठीक मिलता है।

इसी प्रकार चालुक्य नरेश द्वितीय अरिकेशरी के समय में कनड़ी भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि "पम्प" हो गया है। इसके बनाये हुए दो ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं :—आदिपुराणचम्पू, भारत या विक्रमार्जुनविजय। इसकी रचनाओं पर मुग्ध होकर महाराजा अरिकेशरी ने कवि को धर्मपुर नामक ग्राम तथा पालकी आदि राजचिह्न पुरस्कार में दिये थे। पिछले ग्रंथ में कवि ने अपने आश्रयदाता अरिकेशरी की वंशावली इस प्रकार दी है :

युद्धमल-अरिकेशरी-नारसिंह-युद्धमल-वद्दिग-युद्धमल-नारसिंह और अरिकेशरी।

कवि का यह दूसरा ग्रंथ शक स० ८६३ (वि० सं० ९९८) में समाप्त हुआ। इसके १८ वर्ष बाद यशस्तिलकचम्पू काव्य पूर्ण हुआ तब उसके समय में द्वितीय अरिकेशरी का प्रथमपुत्र श्री वद्दिगराज राज करता हो यह बात बिलकुल ठीक जंचती है। यद्यपि वद्दिगराज वंशावली में एक और बतलाया गया है पर वह अरिकेशरी का पुत्र न था जिसकी ओर प्रशस्ति संकेत करती है किन्तु वह द्वितीय युद्धमल का पुत्र है। यह तो हुई यशस्तिलक की समाप्ति की बात, पर यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत का बनना कब और कहाँ प्रारम्भ हुआ यह जानने के लिए हमारे पास कोई सुगम साधन तो नहीं है तथापि

ग्रन्थ के भीतरी साहित्य से जो हमारे विचार उत्पन्न हुए हैं उन्हें सहृदय पाठकों के लिए नीचे लिखता हूँ :—

(१) श्री सोमदेव सूरि ने बहुत समय तक न्याय विद्या का अभ्यास कर अपने संघ गुरुओं की प्रथा के अनुसार पहिले पहल खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थ लिखे और वे प्रायः दक्षिण में ही लिखे गये यह बात प्रशस्ति तथा यशस्तिलक के (आजन्म समभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिममास्याः) पद से स्पष्टतया समझ में आती है। न्यायविद्यामें परिणत बुद्धि हो जाने के कारण जब उनको उसमें कोई नवीनता न रही तब उनका नित्य अपूर्व ज्ञान संग्रह के लिये उत्सुक मन अन्य विषयों की ओर झुका। उन्होंने उपलब्ध समस्त संस्कृतसाहित्य का बिना किसी भेद भाव के तथा बिना किसी परहेज के पर्यवेक्षण किया। जब कोई उनसे जैन दि० मुनि होने के कारण ऐसे ग्रंथों को देखने के लिये कुछ कहता तब वे उसका समाधान इस प्रकार कर देते कि "सज्जन पुरुषों के लिए संसार की सब विद्यायें तीर्थस्थान के समान है।" (लोकोयुक्तिः कलाश्छन्दः इत्यादि श्लोक को देखिये यह इसी बात को सूचित करता है) सच्चा ज्ञान पिपासु इसके सिवाय और उत्तर ही क्या दे सकता है। उन्होंने वेदों को भी पढ़ा था यह बात उनके "जुहूराण" 'भूर्भुवः' आदि शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होती है। इस समय भी उनका न्याय का विषय कुछ न कुछ फिर भी चालू रहता ही था क्योंकि यह विषय उनका जन्म सिद्ध था। समस्त संस्कृत वाङ्मय का अवलोकन करते समय उन्हें ऐसे हजारों शब्द मिले जो एक तरह से लुप्त हो गये थे। उनका उद्धार करने के लिए उनके मन में कल्पना उठी। साथ ही उनको अहिंसा का विषय बड़ा प्रिय था क्योंकि अहिंसा के समर्थन के लिये ही तो उन्होंने यशस्तिलकचम्पू को लिखा है। नीतिवाक्यामृत में भी उन्होंने जहाँ तक शक्य था अहिंसा का समर्थन किया है। वे सोचते थे कि न्याय से कुछ विद्वान् ही लाभ उठाते हैं साधारण प्रजा तथा राजा न्यायविद्या से अनभिज्ञ होने के कारण लाभ नहीं उठाते। उससे केवल खण्डन-मण्डन ही होता है इसलिये ऐसा साहित्य रचा जावे जिससे सभी लोग सहज में सभी सम्प्रदाय के ऋषियों के वचनों से लाभ उठावें। उससे हमारे दोनों उद्देश्यों की सिद्धि होगी ऐसा विचार कर ही उन्होंने किसी साहित्यिक ग्रन्थ के रचने की ठानी। दक्षिण के तुलुदेश (दक्षिण कन्नड़) तथा महाराष्ट्रों में जैनियों का अधिक पाबल्य था। राजाश्रित या राजभक्ति पाये हुए उनमें बहुत बड़े-बड़े समर्थ विद्वान् मौजूद थे। कुछ अजैन जो उनके इस वैभव को नहीं देख सकते थे, कभी कभी संघर्ष भी कर बैठते थे। इस तरह सारा दक्षिण उस न्यायविद्या की चर्चा में अधिकतर लीन था। सोमदेव को भी संघाधिपति होने के कारण उसमें भाग लेना पड़ता था। इसलिए दक्षिण उस समय यशस्तिलकचम्पू जैसे समयसाध्य महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त न था। उत्तर भारत ही उसके लिये उपयुक्त था। कारण वहाँ शास्त्रार्थों की धूम न थी साहित्यचर्चा ही अधिकतर थी।

मालवा, कन्नौज तथा त्रिपुरी के राजदरबार इस साहित्यिक गोष्ठी के बड़े पोषक थे। बाण, पद्मगुप्त, धनपाल, बिल्हण, धनञ्जय, राजशेखर आदि महाकवि इन्हीं स्थानों में आगे पीछे हुए हैं। इन सब कारणों को सोच कर श्री सोमदेव सूरि उत्तर भारत में आये होंगे, ऐसी कल्पना उठती है। उत्तर भारत में आकर जब से इसके यौधेय (जोहिये) प्रदेश में आये तब उन्होंने सोचा कि महाराज यशोधर इसी यौधेय देश के राजा थे। उन्होंने अपनी माता को अहिंसा के लिए बहुत समझाया पर माता ने नहीं माना और झूठी हिंसा करवाई, जिसके फलस्वरूप दोनों की कुगति हुई। अतः इसी विषय पर उन्होंने अपना महाकाव्य बनाना निश्चित किया जिसका कि नाम हम यशस्तिलकचम्पू देख रहे हैं। यशस्तिलक चम्पू के भीतरी साहित्य के सिवाय नीतिवाक्यामृत के "टिरिट्टलितम्" (टिर्राना) "कुरकील" "कोकल[१]" (पहाड़) "झँपाण" (झंपाण) "हरीतकी" (दातों के मसूड़े जिन्हें देशी बोली में में हरिया कहते हैं) "बाह" (बाँहमुजा) 'बुस' (भुसा) 'पेटक' (पेट) 'जामि' (जमाई) आदि शब्द तथा घत्ता चतुष्पदी आदि उत्तर प्रान्त के छन्द उनका उत्तर प्रान्त में प्रवास अवश्य सूचित करते हैं। उस समय के उपलब्ध काव्यों में कवियों ने अपनी कल्पना की कलाही प्रदर्शित की है। प्राचीन ज्ञान विज्ञान का उनमें कुछ भी संग्रह नहीं, भारत का यह महाधन यों ही लुप्त हो रहा था। काव्यों में दिल बहलाव के सिवाय लोक चतुराई, सदाचार, परोपकार आदि विषयों को कुछ स्थान नहीं था। अतः इन विषयों को अपने काव्य में स्थान देने का निश्चय किया। पाठक देखेंगे कि यशस्तिलक को आचार्य ने इन्हीं खूबियों के कारण असहाय और अनादर्श कहा है। जो लोग इस प्रथा को पसन्द नहीं करते थे, प्रचलित प्रथा के विरुद्ध इसे कहते थे। ऐसे लोगों को खुले शब्दों में आचार्य सरस्वती द्रोही कहते थे। उनको कविता सुनाना भी पसन्द नहीं करते थे, कारण वे सरस्वती विकास को रोकते थे। ढर्रेबाज लोग जनता को बौद्धिक दासत्व से जकड़ते हैं। आचार्य के इस भाव को जानने के लिए पाठक प्रथम आश्वास के "गुणेषु ये दोषमनीषयान्धाः" इत्यादि श्लोक को देखें। अस्तु आचार्य ने उत्तर भारत में रहकर यशस्तिलकचम्पू का बड़े श्रम से बहुत सा अंश रचा और हमारा अनुमान है कि वह अंश पाँचवें[२] आश्वास तक है। ग्रन्थ के समाप्त प्रायः होने से आचार्य को भी बड़ी खुशी हो रही थी। कारण वे जैसा चाहते थे वह वैसा ही काव्य बना था और स्वयं भी उसे वे अपने बूते से बाहिर समझते थे उसके बनने में सज्जनों का पुण्य ही एक कारण मानते थे।

टि० (१) उत्तर भारत में विध्यराज, विध्यवर्मा, पर्वत सिंह, पर्वतक आदि नाम राजाओं के रक्खे जाते थे। कक्कोल स्वयं एक त्रिपुरी के महाराजा का नाम था।

(२) पाठक प्रमाण के लिये नीचे लिखे श्लोक को देखें :—

"इयता ग्रन्थमथाप्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य। इति उत्तरंतु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम् ॥
(आ० ५)

दिगम्बर जैन मुनि चौमासे के सिवाय अन्य समय में एक स्थान में बहुत समय तक न रह कर इधर उधर विहार करते रहते हैं। इस विहार में आत्मकल्याणार्थ ध्यानादिक तपस्या करते हुए परोपकार, धर्मोपदेश भी करते रहते हैं सोमदेवसूरि ने भी ऐसा ही किया होगा। बहुश्रुत तथा लोकानुभवी होने से उनका यश सारे उत्तर भारत में भी दक्षिण भारत की तरह छा गया था और वे सर्वप्रिय साधु हो गये थे। उत्तर भारत में उस समय कन्नौज के राजा ही सार्वभौम थे। श्री सोमदेव सूरि इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि अहिंसाधर्म को प्रबल बनाने के लिए राजाश्रय, विद्वानों का सहयोग तथा सर्वसाधारण का विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये ये इन्हीं बातों के उपार्जन में लगे हुए थे। अपना व्यक्तित्व भी बढ़ा रहे थे और वह भी इतना महान् हो चुका था कि क्या राजा और क्या प्रजा, क्या मूर्ख और क्या पण्डित, क्या अमीर क्या गरीब, सभी लोग अत्यन्त श्रद्धा से बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के उनकी बात को सुनते तथा मानते थे। ऐसी स्थिति में मालूम पड़ता है कि कन्नौज के महाराजा महेन्द्रदेव ने कन्नौज या साम्राज्य के अन्य किसी स्थान में श्री सोमदेवसूरि के दर्शन किये तथा हार्दिक आनन्द के साथ अपनी अपार भक्ति प्रगट की और हमारी समझ में भेंट का यह स्थान प्रायः कर के "महोदय" अर्थात् कन्नौज ही था क्योंकि यशस्तिलक में आचार्य ने अपने श्लिष्ट पदों में महोदय अर्थात् कन्नोज की भी बहुत प्रशंसा लिखी; वे कहते हैं :—नृपनृपतीश्वर भूरमणीश्वर यदिदमखिल-गुणासंश्रय। उक्तं किञ्चित्त्वत्स्तुतिकृतिचित्तच्चित्रं न महोदय।" इसका अर्थ यह है कि हे महोदय तू सचमुच राजराजेश्वर है (कारण बहुत से सामन्तराज इसी के अधीन हैं) और तू ही इस भूरमणी का स्वामी है तेरे में अखिल गुणों का बास है इसलिए हमने जो कुछ तेरी प्रशंसा में कहा है वह कुछ आश्चर्य कारक नहीं है कारण तू ऐसाही है। यद्यपि जैन मुनि किसी राजा के राजदरबार में नहीं जाते प्रत्युत राजा महाराजा तथा अन्य रईसगण अपने दलबल सहित उनके स्थान पर ही जाकर उनका दर्शन करते हैं। यह बात हमने वर्तमान में भी अपनी आँखों से देखी है। दक्षिण में जिस प्रकार जैनियों की कई राज-गद्दियाँ थीं वैसी उस समय उत्तर भारत में कोई जैन राजगद्दी नहीं थी। उत्तर भारत के राजा प्रायः सभी वैष्णव तथा शैव ही थे। इन निमित्तों के सिवाय फिर जिसका व्यक्तित्व असाधारण हो उसके मान सम्मान का क्या कहना।

श्री महाराज महेन्द्रदेव ने दर्शन के पश्चात् कठिन परिश्रम से बनाये हुए आचार्य के यशस्तिलकचम्पू काव्य को अपने दरबारी पण्डितों के साथ अवश्य सुना होगा और उसमें राजनीति के कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि के तत्वों को सुन कर यदि इच्छा प्रकट की हो कि आप हमारे लिए संक्षिप्त तथा सरल नवीन ही कोई अर्थशास्त्र लिख दें तो बहुत अच्छा हो और अधिकतर संभव है कि आचार्य ने उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसका बनाना स्वीकार भी कर लिया हो क्योंकि वे अधिकारी थे। परन्तु दैवघटना बड़ी प्रबल है कि इस प्रथम

महेन्द्रदेव ने इस घटना के कुछ समय पश्चात् स्वर्गारोहण कर लिया। श्रद्धेय पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र जी ओझा के राजपूताना इतिहास के पहिले भाग में इस राजा का राज्यकाल विक्रम सं० ९५० से ९६४ लिखा है। इसके बाद इनका पुत्र महीपाल वि० सं० ९७१ में राजसिंहासन पर बैठा। इसने भी अपने पूज्य पिता जी की तरह श्री सोमदेव सूरि की अधिक भक्ति की। पाठक प्रथम आश्वास के अन्तिम श्लोक के "सोऽमासार्पितयशा-महेन्द्रामरमान्यधीः।" सोऽयं पद पर ध्यान दें हिन्दी में इसका अर्थ यह होता है कि कवि "महेन्द्रामरमान्यधीः" और आसार्पितयशा' कह कर महेन्द्रदेव वाले पिछले सम्बन्ध की स्मृति दिलाता है। वे महीपाल को सूचित करते हैं कि जिसका यश दिगन्तव्यापी है और जिसका पाण्डित्य तुम्हारे पिता महेंद्रदेव से मान्य था वही मैं सोमदेव आचार्य तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि सतत आनन्द देनेवाली अभीष्ट वस्तु तुम्हें प्राप्त हो। महेंद्रदेव बड़े गुणी तथा भक्त सम्राट् थे।

आचार्य उन्हें अब भी न भूले थे। पाठकों को यह जानना भी ठीक होगा कि यद्यपि यशस्तिलकचम्पू एक प्रकार के पूर्ण हो गया था (पाँचवें आश्वास तक) और आचार्य, महीपाल की मुलाकात के समय उसका पुनः संशोधन तथा घटनावश कहीं कहीं फेरफार कर रहे थे। यह बात हमें यशस्तिलकचम्पू की प्रारम्भिक प्रस्तावना पढ़ते समय झलकती है। आचार्य इस प्रस्तावना में यशस्तिलक के लिये भूतकाल की क्रिया का प्रयोग करते हैं अन्यथा आगे बननेवाली चीज के विषय में भविष्यत् काल की क्रिया का प्रयोग करते और चीज अभी सामने है ही नहीं उसके विषय में पहिले से ही प्रचुर प्रशंसात्मक पद्य स्वयं नहीं लिखते। यशस्तिलक के जो "देव" "महेन्द्रदेव" "धर्मावलोकपहीपाल" और "राजेश्वर" "भोज" आदि ऐतिहासिक नाम हैं। वे सब इसी संशोधन काल के हैं। नीतिवाक्यामृत बनाया तो गया प्रथम महेन्द्रदेव के लिए पर उनके स्वर्गवासी हो जाने के कारण उनकी चर्चा कर आचार्य ने उनके पुत्र तथा प्रजा को दुःखित करना उचित नहीं समझा। प्रथम भोज महेन्द्रदेव के पिता थे। इन सब बातों का सार यही निकलता है कि यशस्तिलक के पाँच आश्वास तथा नीतिवाक्यामृत उत्तर भारत में ही बने और यह समय प्रथम महेन्द्रदेव और महीपाल के शासन का था और संभव है कि आचार्य की वय इस समय ५० के लगभग हो। राजशेखर कवि के बनाये हुए पाँच ग्रंथ उपलब्ध हैं—(१) काव्यमीमांसा (२) कर्पूरमञ्जरी (३) बालरामायण (४) बालभारत और (५) विद्धशालभञ्जिका। इसने कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में अपने को महेन्द्रदेव का गुरु लिखा है और बालभारत की प्रस्तावना में अपनी विद्धशालभञ्जिका नाटिका का अभिनय इनके पुत्र महीपाल के सामने महोदय में होना सूचित करता है तथा इसी विद्धशालभञ्जिका का दूसरा अभिनय वह त्रिपुरी के राजा युवराज देव के दरबार में भी बताता है यह युवराज देव प्रथम था जिसका कि नाम कर्पूरवर्ष भी था। इसका अब तक कोई शिलालेख तो नहीं मिला है तो भी श्री युवराजदेव

(द्वितीय) की बिल्हरी में मिली हुई बृहत् वंशावली में लिखा है कि श्रीयुवराजदेव प्रथम के प्रपितामह कोकल्ल ने अपने दो बड़े कीर्तिस्तम्भ स्थापित किये थे। उत्तर भारत में महाराजा भोज और दक्षिण में कृष्णराज (जित्वा कृत्स्नां येन पृथ्वीमपूर्व्वकीर्तिस्तम्भद्वन्द्वमारोप्यतेस्म । कौम्भोद्भव्यान्दिश्यसौ कृष्णराजः कौवेर्याञ्च श्रीनिधिर्भोजदेवः) एफिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १ पृ० २५६) यशस्तिलक चम्पू की समाप्ति के समय जो दक्षिण में कृष्णराज है वह तीसरा है क्योंकि अरिकेशरी के प्रथम पुत्र वद्दिग के साथ उसीका मेल खाता है न कि अन्य किसी कृष्णराज का। इसका राज्यकाल वि० सं० ९९३ से १०२२ तक रहा है ऐसा हम पहिले ही लिख आये हैं तब इनकी समकालीनता न तो कोकल से बनती है और न कन्नोज के भोज से क्योंकि भोज (आदिवराह मिहिर) का राज्यकाल वि० सं० ९३८ तक ही समाप्त हो जाता है। भोज की क्या, उसकी तो महेन्द्रपाल (निर्भयनरेन्द्र) के साथ भी संगति नहीं बैठती क्योंकि इसका राज्यकाल भी वि० सं ९६४ में ही पूर्ण हो जाता है। अतः यशस्तिलक की समाप्ति के समय महेन्द्रपाल था न कि और। इस विवरण से हमारा मन यह नतीजा निकालता है कि श्री सोमदेव सूरि, धवला के टीकाकार वीरसेनाचार्य तथा पं० आशाधर जी के समान ही दीर्घवयी थे और संभव है कि ९० वर्ष के ऊपर भी वय का भोग उन्होंने किया था। दक्षिणापथ से उत्तरापथ आने के समय उनकी वय ४० के लगभग होनी चाहिये। इसके उपरान्त ही उन्होंने यशस्तिलकचम्पू पाँचवें आश्वास तक तथा नीतिवाक्यामृत की रचना की। यह समय प्रथम महेन्द्रदेव तथा महिपाल का था। महेन्द्रदेव के गुरु राजशेखर के साथ उनकी अवश्य मित्रता होगी। महेन्द्रदेव और महिपाल जैन न होते हुए भी जैनधर्मानुरागी अवश्य थे। तभी जैनाचार्यों ने तथा जैनों ने जैनग्रंथों और मन्दिरों व मूर्तियों में उनका उल्लेख किया।

जब आचार्य उत्तरापथ से दक्षिणापथ चले आये तब उन्होंने छठे आश्वास से समाप्त्यन्त यशस्तिलकचम्पू पूरा किया और नीतिवाक्यामृत का सम्भवतः पुनः संशोधन भी। यह समय वद्दिग तथा कृष्णराज तृतीय का था उत्तर भारत में उस समय द्वितीय महेन्द्रदेव या देवपाल का शासन था। हमारी समझ में ऐसी संगति बैठती है। पाठक इस पर विचार करेंगे।

कन्नोज के प्रतिहार वंशीय राजाओं के जो दानपत्र या शिलालेख हमें अब तक ज्ञात हुए हैं उनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है :—

प्रथम शिलालेख राजशाही की वारेन्द्र सुसायटी द्वारा खुदाई करने पर पहाड़ पर मिला है। यहाँ पहिले कोई मन्दिर था। इस खुदाई में दो खम्भे लेख सहित मिले हैं जिनमें से एक में प्रतीहारवंशीय राजा महेन्द्रपाल के राज्यारोहण से पांचवें साल का है। दूसरा सीरौन (जिला झाँसी ललितपुर डिवीजन) के दिगम्बर जैन मंदिर में है, बहुत बड़ा है। शिलालेख में प्रतिहार वंशीय महाराजा महेन्द्रपाल के नाम के साथ "सम्वत्सरशतेषु नवसु

षष्ठ्यधिकेषु चतुरन्वितेषु मार्गशिशिरमास बहुलपक्ष तृतीयाम्" खुदा हुआ है। जिसका अर्थ है महाराजा महेन्द्रपाल के राज्यकाल में वि० सं० ६६४ मगशिरवदी ३। तीसरा हड्डाला (काठियावाड़) में मिला है। जो कि दानपत्र के रूप में है इसमें कन्नोज के प्रतिहार राजा महिपालदेव के सामन्त धरिणी वराह के शक सं० ८३६ (वि० सं० ९७१) पौष वदी ४ उत्तरायणे खुदा हुआ है।

उक्त भोजदेव (प्रथम) के पाँच लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं जिनमें सब से प्रथम दौलतपुरा (जोधपुर राज्य) में मिला हुआ वि० सं० ९०० फाल्गुन सुदी १३ का दानपत्र है जो राजपुताना म्युजियम (अजमेर) में सुरक्षित है।

ग्वालियर से मिले हुए कन्नोज के प्रतिहार राजा भोजदेव के शिलालेख में "नवसुत्रायस्त्रिंशधिकेषु माघशुक्ल द्वितीयाम्" अर्थात वि० सं० ९३३ माघ सुदी २ मिलता है।

उसका सब से पिछला शिलालेख पेहोआ से मिला है, जो हर्ष सं० २७६ (वि० सं० ९३८) वैशाख सुदी ७ का है। इन तीनों शिलालेखों से निश्चित है कि वि० सं० ९०० से ९३८ तक तो कन्नोज का स्वामी भोजदेव था और सम्भव है कि वि० सं० ९३८ के पीछे भी कुछ वर्षों तक जीवित रहा हो।

श्रद्धेय ओझा जी के राजपूताना इतिहास से उतार कर बम्बई से श्रीयुत पं० प्रेमी जी ने कृपाकर कन्नोज के प्रतिहार वंशीय कुछ राजाओं की जो नामावली भेजी है उसे भी हम उद्धृत करते हैं।—

(१) नागभट या नागावलोक वि० सं० ८१३ (२) काकुस्थ (३) देवराज (४) वासराज वि० सं० ८४० (५) नागभट द्वितीय वि० सं० ८७२ से ९० (६) रामचन्द्र (७) भोज (आदिवराह मिहिर) वि० सं० ९०० से ३८ तक (८) महेन्द्रपाल (महेन्द्रायुध, निर्भयनरेन्द्र) वि० सं० ९५० से ६४ (९) महीपाल वि० सं० ९७१-७५ (१०) भोज द्वितीय (११) विनायकपाल वि० सं० ९८८ (१२) महेन्द्रपाल द्वितीय वि० सं० १००३ (१३) देवपाल वि० सं० १००५ (१४) विजयपाल वि० सं० १०१६ (१५) राज्यपाल वि० सं० १०७५ (१६) त्रिलोचन पाहम वि० सं० १०८४ (१७) यशपाल वि० १०९३।

इन विवरणों को पढ़कर पाठक स्वयं इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत के कर्ता के साथ प्रथम महेन्द्रदेव का अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध था पर इसकी संगति तभी बैठ सकती है जब कि श्री सोमदेवसूरि को दीर्घवयी माना जाय।

अस्तु इसके बाद आचार्य उत्तरापथ से फिर दक्षिणापथ को लौट गये और वहाँ उन्होंने यशस्तिलकचम्पू के अन्तिम तीनों आश्वास जिनमें उपासकों के आचार का वर्णन है, पूर्ण किये। इसके बाद आचार्य ने सम्भव है नीतिवाक्यामृत को वह सुसंस्कृत रूप दिया जिसको कि हम देख रहे हैं।

आचार्य को वहाँ के संघर्ष पसन्द नहीं थे वे जानते थे कि वैदिक ब्राह्मणों की आजीविका वेदों पर ही निर्भर है उनके बिना समाज में उनका स्थान ही क्या रहता है। अतः जनता में उनके प्रति अटल विश्वास जमाये रखने के लिए वे उन्हें भगवत वाक्य उद्घोषित करते थे। इधर जैन लोग हिंसा से बड़ी घृणा करते थे वे मूढ़ जनता में होती हुई हिंसा का कारण इन्हीं वेदों को मानते थे अतः वे वेदों को पसन्द नहीं करते थे। एक पक्ष आजीविका का प्रधान कारण समझ कर उन्हें प्यार करता था तो दूसरा पक्ष हिंसा के कारण उन्हें कुप्यार करता था। लोकमान्य सार्वजनिक ग्रन्थ भी साम्प्रदाय दोष से हेय हो रहे थे। इसके लिए आचार्य ने जो समझौता अपने मन में तैयार किया था वह अब यहाँ आकर यशस्तिलक के उपासकाध्ययन में लिखा और अपने भक्त श्रावकों को उसके द्वारा समझाया कि यदि वैदिक ब्राह्मण लौकिक रीतियां वेद के अनुसार करते हैं अपनी आजीविका चलाते हैं या जनता उसमें रुचि प्रगट करती है तो करने दो यह तो उनका कुल परम्परा का कार्य है इसमें हमारी क्या हानि है। इसमें न धर्म है न अधम, यह तो लौकिक कार्य है। इधर दूसरे पक्ष के वैदिक लोगों को भी उन्होंने समझाया कि आप लोग भी सारे वेद को प्रमाण न मानें जो बातें प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध हैं या जिनमें पूर्वापर विरोध है उन्हें छोड़ देवें। वेद भी मनुष्यकृत ही हैं भले ही उनके कर्त्ताओं को हम नहीं जानते हैं, पर वे ईश्वरकृत नहीं हैं क्योंकि ईश्वर का ज्ञान असीम है वह इन सीमित पुस्तकों में नहीं आ सकता। अतः वेद पौरुषेय हैं जैसे अन्य धर्मों के अन्य शास्त्र।

यशस्तिलक के चतुर्थ आश्वास में आचार्य लिखते हैं :—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्याप्रदेयं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतोविबन्धोगुरुषु च विनतिः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेषमार्गः॥

इसका अर्थ यह है कि प्राणी हिंसा निवृत्ति, परधन का हरण नहीं करना, सत्यवचन बोलना, समय पर यथाशक्ति दान देना, पराई स्त्री में कुदृष्टि नहीं रखना, उनकी निन्द्यचर्चा नहीं करना, परिग्रह परिमाणव्रत रख कर तृष्णा के ऊपर नियंत्रण रखना, गुरुजनों की विनय और सर्व भूतानुकम्पा ये सब ऐसे शुभाचार हैं कि इनका पालन करना किसी भी धर्म के किसी भी शास्त्र में मना नहीं है। सर्वसम्मति से निश्चित कल्याण मार्ग है अतः एकमत होकर हम सब को इसी मार्ग पर चलना चाहिए इसी में हम सब की भलाई है इसमें किसी का विरोध भी नहीं है।

——:०:——

हुंबुज का ग्रन्थभाण्डार

[ले० श्रीयुत विद्याभूषण, पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री]

बहुत दिनों से विद्वानों की यह प्रबल इच्छा रही कि हुंबुज जैन मठ के ग्रंथागार के ताड़पत्र एवं कागज पर लिखे गये भिन्न-भिन्न भाषा के कुल ग्रंथों को एकबार बारीकी से अवलोकन किया जाय। क्योंकि अन्यान्य जैन मठों की तरह यह भी प्राचीन है और यहां पर कुछ अलभ्य एवं दुलभ्य प्राचीन ग्रन्थों की प्राप्ति की अधिक संभावना है। परंतु कारणवश अभी तक इस पवित्र कार्य के लिये सुयोग ही प्राप्त नहीं हुआ था।

बड़े हर्ष की बात है कि वर्तमान विद्वान् भट्टारक श्रद्धेय श्री देवेंद्रकीर्तिजी के सिंहासनारूढ़ होते ही सर्वप्रथम आपका लक्ष्य इसी आवश्यक लोककल्याणकारी, पुनीत कार्य की ओर गया और तुरंत ही आपने इस कार्य के लिये मुझे याद किया। भट्टारकजी की आज्ञानुसार डेढ़ दो माह हुंबुज में रह कर द्राविड़ लिपि में लिखे गये कुछ ग्रंथों को छोड़ कर शेष कन्नड तथा नागरी लिपि में लिखे गये कुल ग्रंथों को मैंने अन्य सहायकों के साथ यथाशक्ति और यथावकाश सावधानता से देखा।

इस बीच में हम लोगों ने २०२ बंडल और ३५१ ग्रंथों की सविवरण तालिका तैयार की है जो कि यथाशीघ्र वारंग मठ की ग्रंथतालिका के साथ प्रकाशित होने वाली है। ग्रंथतालिकानिर्माण के समाचार से अवगत होते ही मित्रवर डॉ० ए० एन० उपाध्ये आदि विद्वानों के पत्र आये कि ग्रंथागार के अवलोकन के उपरांत शीघ्र ही इस संबंध में 'जैन सिद्धांत-भास्कर' में आप एक लेख अवश्य प्रकट कर दें। इसी आशयानुसार 'भास्कर' के विज्ञ पाठकों के समक्ष भाण्डार में उपलब्ध कुछ अप्रकाशित प्राकृत, संस्कृत तथा कन्नड ग्रंथों की एक तालिका और कुछ प्रशस्तियाँ नीचे दी जाती हैं।

नं०	ग्रंथनाम	कर्त्ता	विषय	भाषा
१	आस्रवसंतति	श्रुतमुनि	सिद्धांत	प्राकृत
२	तत्त्वार्थसारदीपक	सकलकीर्ति	,,	संस्कृत
३	द्रव्यसंग्रहटीका	बालचंद्र	,,	कन्नड
४	परमागमसारटीका	चंद्रकीर्ति	,,	,,
५	[1]द्रव्यसंग्रहटीका	सुंदरवर्णी	,,	,,
६	सिद्धांतसारटीका	प्रभाचंद्र	,,	संस्कृत

१ इसका नाम 'भावनासार' है।

७	गोम्मटसारटीका	पद्मप्रभ त्रैविद्य	सिद्धान्त	कन्नड
८	,,	केशवण्ण	,,	,,
९	तत्त्वार्थवृत्ति	दिवाकरनंदी	,,	भाषा
१०	आत्मानुशासनटीका	केशवार्य	अध्यात्म	संस्कृत
११	जीवसंबोधन	बंधुवर्मा	,,	कन्नड
१२	परमात्मप्रकाशटीका	बालचंद्र	अध्यात्म	कन्नड
१३	पंचपरमेष्ठिस्वरूप	श्रीनंदी	,,	,,
१४	षट्समाचारलक्षण	×	,,	संस्कृत
१५	[२]उपदेशरत्नमाला	सकलभूषण	आचार	,,
१६	प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण	कुमुदचंद्र	प्रतिष्ठा	,,
१७	जिनसंहिता	एकसंधि	,,	,,
१८	,,	ब्रह्मसूरि	,,	,,
१९	मृत्युञ्जयाराधना	×	आराधना	,,
२०	सहस्रनामाराधना	×	,,	,,
२१	न्यायमणिदीपिका	×	न्याय	,,
२२	प्रमाणप्रमेयकलिका	नरेंद्रसूरि	,,	,,
२३	प्रमाप्रमेय [अपूर्ण]	भावसेन त्रैविद्य	,,	,,
२४	लघीयस्त्रयवृत्ति	अभयचंद्र	,,	,,
२५	विश्वतत्त्वप्रकाश	भावसेन त्रैविद्य	,,	,,
२६	मंत्रव्याकरण	समंतभद्र	व्याकरण	,,
२७	रूपावतार	[३]धर्मकीर्ति	,,	,,
२८	रूपावतारवृत्ति	[४]वीरसेन	व्याकरण	संस्कृत
२९	शाकटायन अमोघवृत्ति	शाकटायन	,,	,,
३०	चंद्रप्रभटीका	×	काव्य	,,
३१	यशोधरटीका	लक्ष्मण	,,	,,
३२	राघवपाण्डवीयटीका	सूरि	,,	,,
३३	कर्णामृतपुराण	विजयकीर्ति	पुराण	हिंदी

२ इसका अपर नाम 'गुणषट्कर्मप्रकाशिका' है। कर्त्ता सकलभूषण शुभचंद्र के शिष्य हैं।

३ यह नाम 'जिनरत्नकोश' के आधार पर दिया गया है।

४ यह भैरवेश का आस्थान कवि था।

३४	आदिपुराण	हस्तिमल्ल	,,	संस्कृत
३५	,,	सकलकीर्ति	,,	,,
३६	*हरिवंशपुराण	×	,,	कन्नड
३७	जंबूस्वामिचरित	जिनदास	चरित	संस्कृत
३८	ज्ञानचंद्रचरित	कल्याणकीर्ति	,,	कन्नड
३९	सुविचारचरित	नेमण्ण	चरित	कन्नड
४०	नांपिकथाए	×	कथा	,,
४१	मरणकालज्ञान	×	ज्योतिष	संस्कृत
४२	†भैरवपद्मावतीकल्प	मल्लिषेण	मंत्रशास्त्र	,,
४३	†विद्यानुवाद	मतिसागर	,,	,,
४४	त्रिभुवनचूडामणि	×	लोकविज्ञान	कन्नड
४५	उपन्यास	×	समीक्षा	संस्कृत
४६	आदीश्वरयक्षगान	×	गीत	कन्नड
४७	पद्मावतीयक्षगान	×	,,	,,

ग्रंथ नं० १७७, शाकटायन अमोघवृत्ति—शाकटायन ।

जम्बूद्वीपमहीशहेममुकुटप्रोत्तुंगदेवाचल-
प्रांचद्दक्षिणभारतावनिसतीताटंकवृत्ताकृति ।
अस्ति क्षेमपुरं पुरंदरपुरीसौंदर्यगर्वापहं
देवेंद्रो नृपतिः प्रशास्ति तदिदं देवेंद्रवृंदोपमः ॥१॥
तद्भागिनेयपद्मभागतुलप्रतापदावाग्निदग्धरिपुभूधरभूरिवंशः ।
सत्कीर्तिफुल्लततिमंडितचंडमल्लः प्रोत्फुल्लगल्ललितोऽस्ति हि साल्वमल्लः ॥२॥
श्रीमज्जैनमतोदयाचलकनद्बालार्कबिंबोर्जित
स्फूर्जत्कीर्तिसुधाप्रवाहधवलत्रैलोक्यसौधालयः ।
नानाशास्त्रकलाकलापकुशलः प्रत्यर्थिपृथ्वीपति-
प्रोत्तुंगाद्रिततींद्रशस्त्रसदृशः श्रीसाल्वमल्लोऽस्ति सः ॥३॥
तस्य प्रधानपुरुषः पुरुषोत्तमश्री श्रीजैनमार्गगगनांगणबालभानुः ॥
सम्यक्त्वचंदिरसुधांबुधिचारुचेताः बाभाति भासुरवचाः व्रसंगमंत्री ॥४॥

---

* यह षट्पदि छंद में है ।

† यह प्रकाशनीय है । ग्रंथ सटीक एवं शुद्ध है ।

घनतरमरुमार्गे मारकासारपूरः ततिमिग्नभोद्वप्रौद्गपीयूषभानुः ।
दवदहनवृतोर्वीजातपाथोदकल्पः कलयति बुधवृंदं बंधुरः संगमंत्री ॥५॥
अथास्ति देशे गणपूर्वशैले दिगंबरस्फारमहाप्रभावः ।
व्यराजत प्राग्विजयादिकीर्तिस्तदग्रशिष्यः श्रुतकीर्तिदेवः ॥६॥
तत्पूर्वशिष्यो विमलादिकीर्तिस्तस्मादभूद्दिग्विमामृताब्धेः ।
सुसंयमाचारविशुद्धमूर्तिः प्रबुद्धशास्त्रो विजयादिकीर्तिः ॥७॥
तस्मै विशुद्धचिदमोघमनोज्ञवृत्तिं प्रादान्मुदा विजयकीर्तिमुनीश्वराय ।
सत्कीर्तये विमलपुण्यमहाधनाय बोधाय सल्लनृपतेवरसंगमंत्री ॥८॥
श्रीमद्दुंदुभिवत्सरे सुखकरे चाषाढमासे वरे
पक्षे चंद्रमरीचिमंडिततले श्रीद्वादशीसत्तिथौ ।
वारे शुक्रसमाह्वये विजयकीर्त्यार्याय धैर्यालयः
प्रदात्प्रांचदमोघवृत्तिमतुलां ज्ञानाप्तये संगमः ॥९॥
शुभकरवरमूर्तिः स्फारचारित्रपूर्तिः प्रशमितभुवनार्तिश्चारुचंद्राभकीर्तिः ।
अतिजितमदनार्तिः सद्दयामारपूर्तिर्विनुतविजयकीर्तिर्भामिते पुण्यमूर्तिः ॥१०॥
सद्धर्माबुधिपोषकः कुवलयानंदाय नित्योदयः
सद्वृत्तो मुखसंगतिद्रवदति (?) स्वच्छेंदुकांतो व्यधात् ।
चित्रं शत्रुपक्षनिघोरतिमिरप्राग्भारनालाचलं
नापच्छारदपार्वणाखिलकलः श्रीमाल्लमल्लो विधुः ॥११॥
श्रुतविनुतविनोदः पात्रदानानुमोदः परहितकृतिशीलः सद्यशः श्रीविशालः ।
समुपचितसुपुण्यः सज्जनौघाग्रगण्यः स जयतु कुलदीपः संगमः कामरूपः ॥१२॥

[अंतिम अंश]

ग्रंथ नं० १८० गोम्मटसार [कर्मकाण्ड] कन्नडटीका—केशवण्ण ।

श्रीमद्वंशसमुद्भवाः प्रविलसद्वृत्तोज्ज्वला निर्मला
प्रांचत्कांतिभराः सदाप्तरुचयो भव्याः सुसेव्याः सताम् ।
एते लोकशिरोमणित्वमधिकं संप्राप्य मुक्तोपमाः
भांतु स्वात्ममलामृतोदयभवैर्भास्वद्गुणैर्भूषिताः ॥१॥
श्रीसर्वज्ञसुबोधरत्नतलभाक् स्यात्कारधीरोद्धुरो
गंभीरो वरनेमिचंद्रविसरद्वाक्चंद्रिकावर्द्धितः ।

विस्तीर्णो गुणरत्नभूषणभरः सारार्थपूर्णो महान्
नित्यं गोम्मटसारसंहितसुधाम्भोधिः शिवायास्तु नः ॥२॥
[अंतिम अंश]

ग्रंथ नं० २०२, यशोधरकाव्यटीका—लक्ष्मण ।

वादिराजकृतकाव्यभावनं साधुजैनमुनिपादसेवनम् ।
वीतरागचरणाब्जलोकनं प्रीतयेऽस्तु मम जन्मजन्मनि ॥१॥
श्रीमत्पद्मणगुम्मटेत्यभिमता श्रावणिना भूतले
भातिश्चारु [?] चरित्रवार्द्धिहिमगुरुस्तत्प्रीतये लक्ष्मणः ।
मन्दो बन्धुरवादिराजविदुषः काव्यस्य कल्याणदम्
टीकां क्षेमपुरेऽकरोद्गुरुतरश्रीनेमिनाथालये ॥२॥
[अंतिम अंश]

ग्रंथ नं० १७४, पद्मचरित—रविषेण ।

कल्याणोत्सवमन्दिरे समभवत्कल्याणनाम्ना पुरे
विख्याते शुभचन्द्रदेवमुनिपश्रीपादसेवारतः ।
साहित्याम्बुजषट्पदः क्षितिगतः कल्पद्रुमो वादिनाम्
निष्पिश्रेष्ठितनूभवो हरिहरः सम्यक्त्वरत्नाकरः ॥१॥
तेन श्रीमदशेषशास्त्रनिपुणप्रज्ञाय कल्याणकी-
र्त्याचार्यप्रवराय पद्मचरितं पद्मावहं सर्वदा ।
श्रोतॄणां भवदुःखभीतमनसां स्याल्लेखयित्वार्पितम्
लोकालोक... वस्तुकलनप्रोद्दामबोधाप्तये ॥२॥
[अंतिम अंश]

ग्रंथ नं० ३८, पूर्वपुराण—जिनसेन ।

दुर्वारमारागिरिभेददक्षश्रीशान्तणाख्योत्तमवर्णिना मुदा ।
दत्तं नितान्तं सुचिरं सुजीयात्सुज्ञानदं पूर्वपुराणमेतत् ॥१॥
श्रीमदम्भोलिभृद्वन्द्यो गणभृद्भक्तिभावितः ।
जीयाच्छान्तिजिनाधीशः कोणसूरुपुराधिपः ॥२॥
[अंतिम अंश]

ग्रंथ नं० १६, त्रिलोकसारटीका—माधवचन्द्र ।

तत्र [कारंजामहाधर्मक्षेत्रे] श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीअमरकीर्तिदेवास्तद-नुक्रमेण भ० श्रीधर्मचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीविशाल-कीर्तिदेवास्तत्पट्टे श्रीधर्मचन्द्रदेवास्तेषु विद्यमानेषु ब्रह्मगुणसागराय बघेरवालवंशे चामरीयागोत्रे साजस्सा, तद्भार्या बाई गंगाई, तयोः सुतः पुतलासा, तद्भामिनी ऐसा बाई, तयोः पुत्रः सर्वोपमायोग्यः माहिरासा, तत्प्रिया मालाई, तयोः सूनू द्वौ पुतलासा वर्धसा नामानौ, तयोर्मध्ये ज्येष्ठो धर्मभारधुरंधरः पुतलासाख्यस्तेनेयं त्रैलोक्यसारमहाग्रंथटीका ज्ञानावरणकर्मक्षयार्थं लिखाप्य दत्ता ।

[अंतिम अंश]

तारण स्वामी और उनके उपदेश

[ले० श्रीयुत ज्ञानचन्द्र जैन बी० ए०, एल०-एल० बी० नागपुर]

अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले अनेक विद्वान समय-समय पर हुए हैं। उन्होंने काल के मांग की पूर्ति की और मानव धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में एक धार्मिक क्रान्ति मची हुई थी। मुसलमानों के शासन काल में धर्म का पालन करना एक कठिन कार्य हो गया था। आवश्यकता ऐसे महात्माओं तथा सुधारकों की थी जो भगवान महावीर के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रचार कर प्राणीमात्र का कल्याण कर सकें। भगवान महावीर के निर्वाण काल के बाद अनेक आचार्यों तथा महात्माओं ने इन सिद्धान्तों का प्रचार किया और ऐसे अमूल्य ग्रन्थों की रचना की जो विश्व-साहित्य-गगन में हमेशा चमकते रहेंगे और अपने जाज्वल्यमान प्रकाश द्वारा मानव मात्र का उद्धार करेंगे। उस समय भारतवर्ष में जैन धर्म का बहुत प्रचार था। राजा और महाराजाओं ने भी उसे अपनाया था और उनके संरक्षण में भी उसका प्रचार हुआ। परन्तु कुछ समय के बाद जैन विद्वानों ने धर्म को इतना संकुचित बना दिया कि उसमें बाहर से आने वालों के लिये कोई स्थान नहीं रहा। ऊँच नीच का भेद फैल गया। फलतः मानव मात्र का कल्याण करने वाला जैनधर्म कुछ लोगों की ही संपत्ति बन गया। अन्य धर्मों का प्रचार हुआ परन्तु जैन-धर्म का क्रमशः ह्रास ही होता गया। यह क्रम कई वर्षों तक चलता रहा और जैन धर्मानुयायियों की संख्या घटती ही गई। उस समय आवश्यकता ऐसे महात्माओं की थी जो समस्त भेदभाव मिटा कर, जैन धर्म का विशाल द्वार सबके लिये खोल दें।

पन्द्रहवीं शताब्दि में तारण स्वामी नाम के एक आचार्य और सुधारक हो गये हैं। उनका जन्म पुहुपावती नगरी में सन् १४४८ (विक्रम संवत् १५०५) में हुआ था। आप सन्त कबीर, गुरु नानक, लोकाशाह तथा अन्य सुधारकों के समकालीन थे। स्वामी जी के पिता का नाम गढासाव था। वे बहलोलखां लोधी के दरबार में जो कि उस समय देहली के बादशाह थे किसी ओहदे पर थे। बाद में कुछ कारणवश वे देहली छोड़ पुहुपावती नगरी में बस गये। वहां पर ही स्वामी जी का जन्म हुआ। बाल्यकाल से ही आपके होनहार होने के लक्षण दिखलाई देते थे। आपकी स्मरण शक्ति बहुत तीव्र थी। आपकी शिक्षा श्री श्रुतसागर मुनि के पास हुई। अल्पकाल में ही आपने बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे तथा महान अध्यात्मवादी तथा योगाभ्यासी थे। आप धर्म के बाह्य आडम्बरों को पसन्द नहीं करते थे और इसी कारण आपने मूर्तिपूजा का विरोध किया।

यदि हृदय पवित्र भावना से रिक्त है तो जड़ पूजा से क्या लाभ होगा। वास्तव में आत्मा ही सब कुछ है। वह ही परमात्मा है यदि हम उसे उस योग्य बना लें। आपने कहा कि जैन धर्म में समस्त प्राणियों के लिये स्थान है, वह सबका कल्याण करने वाला है। भगवान महावीर के समवशरण में पशु-पक्षियों तक को स्थान प्राप्त था। सत्त्वेषु मैत्री का पाठ पढ़ाने वाले जैनधर्म में नीच, ऊंच का भेद कभी भी नहीं हो सकता।

इन सब सिद्धान्तों को लेकर स्वामी जी ने फिर से धर्म प्रचार का बीड़ा उठाया। आपने भगवान महावीर की संघ योजना का अनुसरण किया।

उस समय के संकीर्ण हृदय वाले लोगों को आपके ये सिद्धान्त पसन्द न आये। उन्होंने स्वामी जी का विरोध किया। आपको कई प्रकार के प्रलोभन दिये गये, दबाव भी डाले गये कि आप इस प्रकार का प्रचार न करें परन्तु जब स्वामी जी अपने मार्ग से विचलित न हुए तो आपको मार डालने का भी प्रयत्न किया गया। मल्हारगढ़ किले के पास बेतवा नदी है उसके आसपास घने जंगल हैं। स्वामी जी इन्हीं जंगलों में निवास करते थे, क्योंकि वे सामायिक तथा ध्यान के लिये उपयुक्त स्थान थे। इस नदी के घाट से पार उतारने वाले मल्लाह को जिसका नाम चिदानन्द चौधरी था, यह कहा गया कि वह स्वामी जी को अपनी नाव में बैठा कर नदी के गहरे जल में ले जाकर छोड़ दे। उसने ऐसा ही किया और एक के बाद एक तीन गहरे स्थानों में ले जाकर स्वामी जी को डुबाने का प्रयत्न किया परन्तु जहां २ आपको डुबोने के लिये नाव उलटाई गई वहीं २ पर पानी के बीच स्वामी जी चबूतरे पर बैठे पाये गये। यह आश्चर्य जनक घटना देखकर चिदानन्द ने समझा कि स्वामी जी को अवश्य ही कोई महात्मा होना चाहिये और उसे अपने कार्य पर पछतावा हुआ। उसी दिन से चिदानन्द स्वामी जी का शिष्य बन गया। ये चबूतरे अभी भी बेतवा नदी के बीच मौजूद हैं और तारण पंथियों द्वारा पवित्र माने जाते हैं। प्रतिवर्ष हजारों यात्री इन चबूतरों के दर्शनों को जाते हैं और स्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलियां अर्पण करते हैं।

धीरे २ स्वामी जी का विरोध घटने लगा। आप निर्भय होकर अपने मिशन में लगे रहे। आपने मध्यभारत, गुजरात, संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्त का भ्रमण किया और अनेक लोगों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। बहुत से राजाओं ने भी जैन धर्म के सिद्धान्तों को अपनाया। इनमें गुजरात के राजा शिवकुमार, शाहकुमार तथा रायसेन गढ़ के राजा मुख्य थे। इस तरह अपने जीवन में आपने ५५३५१९ व्यक्तियों को अपने आम्नाय में दीक्षित किया। आपके शिष्य भी अनेक हो गये। इनमें मुख्य चिदानन्द चौधरी, लक्ष्मण पाण्डे, परमानन्द विलासी, सुन्दर शाह तेली और लुकमान शाह नाम के मुसलमान भी थे। स्वामी जी की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने इस सम्प्रदाय को तारण पंथ नाम से घोषित

किया और वे तारण पंथी कहलाने लगे। इस पंथ के मानने वालों में छह जातियां शामिल हैं, इनके नाम ये हैं:—चरणागार, समैया, असेठी, अयोध्या वासी, गोलापूरब और दोसके। ये समस्त जातियां एक हो गई हैं और उनमें रोटी बेटी व्यवहार होता है।

स्वामी जी द्वारा रचित ग्रन्थ

तारण स्वामी ने कुल १४ ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दि में प्रचलित संस्कृत हिन्दी मिश्रित भाषा में है। बहुत समय तक इन ग्रन्थों की टीका तथा प्रकाशन की ओर ध्यान नहीं दिया गया परन्तु बाद में स्वर्गीय श्री ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया और ७ ग्रन्थों की टीकाएं सरल हिन्दी भाषा में कीं। ये ग्रन्थ जैन मित्र कार्यालय सूरत से प्रकाशित भी हो गये हैं। बाकी ७ ग्रन्थों की टीका तथा प्रकाशन का कार्य अभी बाकी है। सारे ग्रन्थों में अध्यात्मवाद और जैन सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन किया गया है और उनमें आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग बतलाया गया है। उन सब में निश्चय नय की प्रधानता है। ग्रन्थों के नाम ये हैं:—

१ श्रावकाचार, २ मालारोहण, ३ पंडित पूजा, ४ कमल बत्तीसी, ५ न्याय समुच्चयसार, ६ उपदेश शुद्ध सार, ७ त्रिभंगी सार, ८ चौबीसठाणा, ९ ममल पाहुड, १० सुन्न स्वभाव, ११ सिद्ध स्वभाव, १२ खातिका विशेष, १३ छद्मस्थ वाणी, १४ नाममाला।

निर्वाण हुलसी ग्रन्थ के १८ वें श्लोक में जिसकी रचना तारण स्वामी की मृत्यु के बाद किसी शिष्य द्वारा हुई है, यह कहा गया है कि स्वामी जी ने ग्रन्थ रचना का कार्य माघ सुदी ५ संवत् १५६६ को समाप्त किया। छद्मस्थवाणी ग्रन्थ की अन्तिम कारिका में लिखा है कि 'थानों मैंने लिख प्रयोग दिये लेहरे पढ़े प्रिय प्रमाण धूर' अर्थात् जो ग्रन्थ मैंने लिख दिया है उन्हें प्रमाण मान उनका उपयोग करो। समस्त ग्रन्थों में कथन जैनाचार्यों के अनुकूल है।

निर्वाण काल

स्वामी जी का निर्वाण काल सन् १५१५ (ज्येष्ठ सुदी ६ दिन शुक्रवार विक्रम संवत् १५७२) है और आपका देहावसान श्री निसई क्षेत्र (मल्हारगढ़) में हुआ। उस समय इस क्षेत्र पर स्वामी जी के ५००० शिष्य एकत्रित हुए थे। मृत्यु के पूर्व स्वामी जी ने सब शिष्यों को धर्मोपदेश दिया।

स्वामी जी के जीवन से सम्बन्धित पवित्र स्थान

श्री निसई जी (मल्हारगढ़)

यह स्थान ग्वालियर स्टेट में मलहारगढ़ के किले के पास बेतवा नदी के तट पर स्थित है। यह बीना कोटा लाइन के मुंगावली स्टेशन से ६ मील की दूरी पर है। यहां पर प्रतिवर्ष

हजारों की तादाद में तारण पंथी यात्री आते हैं। यहां पर सुरम्य वन के बीच बड़े २ मन्दिर बने हुए हैं। बेतवा नदी के तट पर स्वामी जी के सामायिक करने का चबूतरा भी स्थित है। स्वामी जी के जीवन का अधिक भाग मल्हारगढ़ में ही बीता और उनका देहावसान भी यहां ही हुआ।

श्री सेमर खेडी

यह मध्यभारत की रियासत टोंक की सिरोंज तहसील में जंगलों के बीच स्थित है। यहां पर भी बड़े २ मन्दिर बने हुए हैं। स्वामी जी इन्हीं जंगलों में सामायिक करते थे, और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने मुनि पद की दीक्षा यहां पर ली थी।

श्री सूखा निसई

यह स्थान मध्यप्रान्त के दमोह डिविजन में पथरिया स्टेशन से ७ मील दूर स्थित है। यह एक अतिशय क्षेत्र है। यहां पर स्वामी जी ने कुछ काल निवास किया था और आसपास के लोगों को उपदेश दिया था। यहां ४०० वर्ष पुरानी विशाल वापिका है और बगीचे के चारों ओर पक्का परकोटा है। खोज करने पर और भी प्राचीन बातें सामने आ सकती हैं।

नोट:—तारण स्वामी छद्मस्थ ज्ञानी थे, इस कारण मूर्त्ति पूजा की महत्ता को बिना समझे ही उसका उन्होंने खण्डन किया है। यदि वे गम्भीरता से विचार करते तो उन्हें अध्यात्मवाद के समान उसकी उपयोगिता भी मालूम पड़ जाती। जहाँ स्वामी जी ने अनेक सुधार के कार्य किये वहाँ उनसे एक गलती यह हो गई। — नेमिचन्द्र शास्त्री

भावदेवसूरि एवं लाहौर के सुलतान सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य

[लेखक—श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा]

जैनसिद्धान्तभास्कर की गत किरण में श्री मूलराज जैन का "भावदेवसूरि का भक्त लाहौर का सुलतान" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें जीराभंडार मे प्राप्त भावदेवसूरि-रास की प्रति के आधार से एतद्सम्बन्धी इतिवृत्त दिया गया है। करीब ६ वर्ष हुए हमें इस रास की पूर्णप्रति[1] बीकानेर राज्य की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में उपलब्ध हुई थी हमने उसका संक्षिप्तसार भी मुनिमाल रचित बृहद्गच्छ गुर्वावली (विशेष वृत्तांत) के साथ जैनसत्य प्रकाश को प्रकाशनार्थ भेजा था पर संपादक जी ने उसमें से गुर्वावली को ही (वर्ष ७ अं० ५) प्रकाशित किया। राससार एवं विशेष वृतान्त उन्होंने प्रकाशित नहीं किया अत: इतने वर्षों पहले लिखे जाने पर भी यह वृत्तांत अद्यावधि प्रकाश में नहीं आ सका। समय समय पर उसे प्रकाशित करने की अन्तः प्रेरणा होती रही पर अन्य कार्यों में व्यस्त रहने आदि के कारण वह कार्य यों ही पड़ा रहा और अब श्रीमूलराज के लेख ने उसे शीघ्र ही प्रकाशित करने का सुयोग उपस्थित कर दिया। यद्यपि उन्हें रास का अंतिम अंश ही प्राप्त हुआ पर वह ऐसे स्थल से प्राप्त हुआ जिससे मूल वृत्तांत के समझने में कोई असुविधा नहीं हुई। फिर भी इस घटना का मूल कारण एवं विशेष वृत्तांत (रास के अपूर्ण प्राप्त होने एवं अन्य साधनों की ओर ध्यान न जाने के कारण) वे नहीं लिख पाये अतः अपनी ६ वर्ष पूर्व लिखित सामग्री का इस लेख में उपयोग कर रहा हूँ।

लेख के मूल विषय पर विवेचन करने के पूर्व श्रीमूलराज के लेख की कतिपय बातों का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूँ। यद्यपि आपको और मुझे प्राप्त रास एक ही रचना है पर उसके पद्यों की संख्या में बहुत अंतर है। हमें प्राप्त प्रति के अनुसार इसके पद्य १२६ हैं तब जीरा की प्रति में २२६ है। इसका कारण पद्यों की न्यूनाधिकता न होकर उसकी गणना का तारतम्य है। हमारी प्रति में ४ पंक्तियों का एक पद्य माना गया है तब जीरेवाली में २ पंक्तियों का १ पद्य माना गया प्रतीत होता है क्योंकि वर्णित घटना में तनिक भी अन्तर नहीं है एवं रचना संवत् व रचयिता की परम्परा एक ही है[1]।

---

१ अभी एक दूसरी प्रति भी इसी ग्रंथालय में इस रास की और प्राप्त हुई है उसमें भी पद्यों की संख्या इतनी ही है।

२—खेतसी के सम्बन्ध में आप को कुछ ज्ञात न हो सका पर बीकानेर का इतिहास एवं मुहणोत नैणसी की ख्याति से स्पष्ट है कि वे कांधल... उय की ओर से उस समय भटनेर के अधिकारी के रूप में नियुक्त थे।

३—रास के नायक भावदेवसूरि को आपने कालकाचार्यकथा के रचयिता होने की संभावना की है पर वह संभावना ही नहीं, निश्चित ही है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में सूरि जी के शिष्य भालदेव रचित कल्पान्तर्वाच्य (सं० १६१२ या १४ में रचित) की सं० १६२० की लिखित प्रति है उसमें बृहद्गच्छ की गुर्वावली भी दी गई है जिसे हमने मुनि जिनविजय जी को भेजकर विविध गच्छीय पट्टावलि संग्रह (अप्रकाशित) में छपवा भी दी है, उसकी प्रशस्ति में भावदेवसूरि रचित कालकचरित्र का स्पष्ट उल्लेख है—

"तत्पादपद्ममधुपाः विज्ञाः श्री भावदेवसूरीशाः।
श्री कालकाचरितं पुन कृतं यैः रचना पूर्व्यैं ॥२॥

४—भावदेव सूरि के पट्टधर शीलदेव सूरि जी ने समूने (?) नगरि पर सम्भूनर' या समाणापुर में अकबर की आज्ञा से अनंतनाथ मंदिर का उद्धार कर प्रतिष्ठित किया था इसकी पुष्टि भी उपर्युक्त ग्रंथालय में प्राप्त तत्कालीन (१ पत्र में) लिखित समाणापुर मंडन अनंत जिनछंद से भली भांति हो जाती है। छंद में इस प्रसंग का संवत् भी १६४२ दिया हुआ है।

"इकु हुकमु छत्रपति, अकबर भूपति दीयउ।
उद्यम मुख तूरि, सीलदेव सूरि कीयउ॥
कीयउ उद्धार नगर सिणगार, मणोहर जिणहर संधि कर्यउ।
ऐहिणिऊ जवणइं जिन भुवणइं, प्रतिमा थापी पुन्यभर्यउ॥
जब जगत बखाणइ नगरि समाणइ, सोकर तेतालई कीयउ।
श्री अनंतमालप्रभु भेट्यउ, हुकमु साहि अकबरि दीयउ॥
इति श्री समाणापुरचैत्य मंडन श्री अनंत जिन छंदसि ॥१॥

५—सूरि जी का भक्त लाहोर का सुलतान कौन था इसका निर्णय आप नहीं कर सके हैं पर जैसा कि आगे बतलाया जायगा वह हुमायूं का भाई कामरान था।

६—फुटनोट में रासकार की परम्परा के नाम दिये हैं। उनमें भी वीरमदेव के शि० सावलदास का नाम छूट गया है एवं शुभकरण के पिता का नाम (राजा) भी छोड़ दिया

१ रास में—ले हुकम आयो सार को, गुरुदेव सम्भूनेर।
मसीत सैर प्रासाद कीनों, कीयो जग जस ढेर ॥११॥

गया है। इसी प्रकार रासकार का नाम भी वे संभवतः समझ नहीं पाये अतः नहीं दिया गया; रास में इनका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार है :—

१ तसु पट्टि सांवलदास नमियै, सोभवंत सुजाण।

२ धन माता रूपादेवी गुरु की, ताता 'राजा' धन्न।

३ तस सीस मुनिगुरु चरण सेवक, कहै इम जगरूप।

७—राससार में "तब खेतसी ने दलपत राय को आज्ञा दी" लिखा गया है पर वास्तव में दलपति (राजा) के फरमान से खेतसी ने पुसाल बना दी यही भाव मालूम देता है।

"फुरमान दलपति राइ कौ करवाइ भेज्यो ताम।

तिन लिख्यौ द्यौ करवाइ जागा लाइ मेरे दाम ॥११०॥

तब खेतसी पुस्याल गुरु को दई तुरत कराइ।

उपर्युक्त प्रासंगिक विवेचन के अनन्तर अब रास का सार एवं अन्य साधनों से इसके सम्बन्ध में जो विशेष ज्ञातव्य प्राप्त होता है उसे दिया जा रहा है।

भावदेवसूरि रास सार

मंगलाचरण में शारदा, ऋषभादि तीर्थंकर, पुंडरीकादि गणधर, गौतम, गणेश, गौरी, महेश सद्गुरु को नमस्कार कर भावदेवसूरि का रास बनाने का कहा गया है। इसके इसके पश्चात सं० ९९४ में बड़गच्छ की उत्पत्ति, सं० १५६६ में पुष्पप्रभसूरि के सूरिपद प्राप्त कर, विमलगिरि की यात्रा करने, उनके पट्टधर शि० भावदेवसूरि जो कि लोटा डूमा पत्नी लक्ष्मी के पुत्र थे, होने का उल्लेख किया गया है। सं० १६०४ में इन्हें प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। शीलदेवादि १८ स्थिवर उनके शिष्य थे। क्षेत्रपाल इसके सहायक था। लाहौर से कामरा को ये भटनेर चढ़ा लाये उसकी कथा कही जाती है :—

दिल्ली के बादशाह अकबर (? हुमायूं) का लघुभ्राता कामरा लाहौर का सुलतान था। इधर बीकानेर में कल्याण के पुत्र सूरसिंघ (रायसिंह) राजा थे। उनके दलपत कुमार पुत्र था उसे भटनेर राड़ दिया गया। उसने अपने प्रधान खेतसी कंधलौत को भटनेर भेज अपनी आज्ञा फिरवा दी। खेतसी वहां का अधिकारी नियुक्त हो गया। १०।२० वर्ष राज करने के अनन्तर किसी कारण वश उसने महाजन लोगों को कैद कर लिया। खेतसी को भूख ठीक से लगती नहीं थी, अतः वैद्यों से पूछने पर गुरु (भावदेव सूरि) के पास एक धातु भूख लगने की है ज्ञात कर उसने गुरु से वह मांगी। गुरु जी ने श्रावकों को छोड़ देने की सरत पर देने को कहा पर खेतसी ने वह बात नहीं मानी अतः गुरु ने वह औषधि नहीं दी। इसी बात को लेकर दोनों में तना तनी हो गई। खेतसी ने क्रोधित हो रस्सी से बाँध कर गुरु को कुँए में लटका दिया। कुँए के चारों ओर चौकी बैठा दी गई। रात्रि के समय क्षेत्रपाल ने आकर गुरु के बंधन खोल बाजोट पर बैठा दिये। उसने राजपूत को शिक्षा देने की आज्ञा

मांगी पर गुरु ने कुएँ से निकालने को ही कहा। गुरु के आंखें बंद करते ही क्षेत्रपाल ने उन्हें बाहर निकाल दिया वे वहाँ से पुसाल (उपासरे) जा क्षेत्रपाल को गढ़ के बाहर पहुंचाने की आज्ञा दी तत्काल झोली में बैठा वीर ने वैसा ही किया। गुरु ने गढ़ के बाहर आ परिचित श्रावक को पुकारा। उसने हाजिर होकर रात्रि में आने व याद करने का कारण पूछा। गुरु ने अपना वृत्तान्त सुना उसे साथ ले लाहोर की ओर चल पड़े। ११-१२ कोस जाने पर खेतसी मेरी तेरी खोज करेगा अतः तू वापिस चला जा कह विसर्जित किया और आप एक वृक्ष के नीचे बैठ गये।

इधर खेतसी ने गुरु को कुँए में नहीं पाने पर इधर उधर ढूढ़ा। उसके सवार गुरु के पास जा पहुंचे उन्हें दूर से बैठा देखा पर पास जाने पर नहीं मिले। तब गुरु को चमत्कारी जान वे वापिस लौट गये और गुरु हमें कहीं नहीं मिले खेतसी को कह दिया। क्रोधान्ध खेतसी ने हुक्म दिया कि उनकी पुसाल को तोड़ उनके शिष्यों को बंदी बना लो। वैसा ही किया गया।

इधर गुरु जी सरसें पहुँचे और एक शिष्य को वहाँ से साथ लेकर लाहौर पधारे। श्रावकों ने गुरु का आगमन सुन कर सम्मुख जा प्रवेशोत्सव किया। गुरु ने व्याख्यानादि द्वारा श्रावकों को सन्तुष्ट कर १०।२० दिन के बाद सुलतान से मिलने का उपाय पूछा। श्रावकों ने कहा उसका दीवान गलित कुष्टी है उसे आराम करने से काम बन जायगा। गुरु ने उसे बुलाकर ७ पुडी दवा दे नीरोग बना दिया। स्वस्थ होने पर वह दरबार में पहुँचा और सुलतान ने उससे स्वस्थ होने का कारण पूछने पर उसने गुरु का परिचय दिया, शुभ मुहूर्त्त में गुरु सुलतान से मिले और चमत्कार दिखा सम्मान पाया। गुरु ने सुलतान को पारद धातु की औषधि दी इससे उसे बड़ी भूख लगने लगी। एक दिन हवाखोरी में गुरु को साथ ले कामरां बाहर गया। वहाँ एक सघन अब वृक्ष की छाया में बैठे और यह वृक्ष अपने साथ चले तो कैसा अच्छा हो कहा। गुरु ने क्षेत्रपाल के द्वारा सुलतान की इच्छानुसार वृक्ष को साथ चला दिया। इसी प्रकार एक दिन २९ वें रोजे के दिन शिष्य को गुरु ने सुलतान के पास भेजा। सुलतान ने शिष्य से पूछा कहिये चेला जी चंद्र कब दिखेगा। शिष्य ने भूल से आज ही चंद्र दिखेगा उत्तर दिया। यह सुन कर दरबारी लोगों ने कहा चेला झूठा है और उससे वाद-विवाद करने लगे। सुलतान ने उन्हें समझाया कि चेला जी के गुरु बड़े करामाती हैं अतः चेला का वचन झूठा नहीं होने देंगे

वहाँ से आकर शिष्य ने सारी बात गुरु से कही और अपनी लाज रखने का निवेदन किया। गुरु जी ने भी वीर की सहायता से थाली को आकाश में चढ़ा उसी दिन चंद्रोदय कर दिखाया। इससे सुल्तान व नगर निवासी बड़े चमत्कृत हुए। सुलतान ने बहुत प्रसन्न हो गुरु से अपने योग्य कोई काम फरमाने की विनती की। मौका देख गुरु ने भटनेर में अपने श्रावकों को बंदी करने, पुसाल को ढाहने आदि खेतसी की सारी करतूतों को सुना

भटनेर अधिकृत कर श्रावकों को छुड़ाने के लिये सुलतान को उत्साहित किया[1]। सुलतान ससैन्य रवाने हो भटनेर पहुंचा। गढ़ घेर खेतसी को दूत भेजा पर वह न माना; इधर महीनों बीत गये गढ़ तोड़ न सके और पानी की भी कमी हो गई तब गुरु की विनती की गई। उन्होंने मंत्रबल से मेह बरसा दिया और सवारों को साथ ले मंत्रित चावलों से बुर्ज भी तोड़ डाला। सुलतान की सेना ने गढ़ में प्रवेश कर खेतसी को हाथी के पग से बांध श्रावकों को छोड़ दिया। अब तो खेतसी सुलतान से छुड़ाने के लिये गुरु के आगे गिड़गिड़ाने लगा तब गुरु जी ने दया कर उसे छुड़वा दिया और उसने पुसाल पुनः बनाना मंजूर किया। खेतसी ने सुलतान को बहुत सी भेंट दी उसने उसे मिरयात बनाया। गुरु का काम कर शाह लाहौर चला गया। खेतसी ने अपने स्वामी दलपति की आज्ञा प्राप्त कर गुरु की पुस्याल बनवा दी। इस प्रकार दोनों में मेल हो गया। गुरु ने प्रतिशोध ले जैन यतियों की शक्ति का परिचय देते हुए अन्य लोगों के लिये भी शिक्षा उपस्थित की।

इस रास में वर्णित घटना तो बीकानेर राज्य की अति प्रसिद्ध घटना है। कामराँ का बीकानेर पर आक्रमण सं० १५९१ में राव जेतसी के समय में हुआ था इससे बीकानेर के चिन्तामणि-चउवीसरा मंदिर की मूर्ति को भी क्षति हुई थी इन सब बातों पर मैं अपने अन्य लेखों[2] में प्रकाश डाल चुका हूँ। प्रस्तुत रास घटना के २०० वर्ष के बाद बना होने से इसमें अतिरंजितपना एवं ऐतिहासिक नामों में गड़बड़ी पाई जाती है। रासकार ने इसे अकबर एवं सूरसिंह दलपति सिंह के समय की बतलाई है पर वे नाम गलत हैं। वास्तव में वहाँ नाम हुमायुं एवं राव जेतसी चाहिये। रास से पूर्ववर्ती नैणसी की ख्यात में इस घटना का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है—

"बड़गच्छ का एक यति बीकानेर में रहता था। उसके पास कोई अच्छी चीज थी। राव जैतसी ने वह चीज उससे मांगी, परन्तु यति ने दी नहीं। तब राव ने उसे मारकर वह वस्तु ले ली। फिर कामरां (हुमायूं का भाई जो काबुल में राज करता था) हिन्दुस्तान पर चढ़ आया। उस यति का चेला उससे आगे जाकर मिला और कहा "आप उधर चलें तो भटनेर का गढ़ हाथ आवे। कांमरा ने कहा कि उधर जल नहीं है। चेला बोला कि जल मुझ से प्राप्त होगा। काँमरा उसको साथ लिये भटनेर को चला। मार्ग में जल न मिलने से कटक मरने लगा तब यति ने क्षेत्रपाल की आराधना की। मेह बरसा और जल ही जल हो गया। ये भटनेर पहुंचे। तुर्कों ने पीछे फिर कर खेतसी को मारा। भयंकर युद्ध हुआ, कई आदमी मारे गये। कामराँ भटनेर में थाना रख बीकानेर आया।

(मुँहणोत नैणसी की ख्यात द्वि० पृ० १४२)

बीकानेर राज्य के प्रधान ऐतिहासिक ग्रन्थ—दयालदास की ख्यात में लिखा है कि "भावदेव सूरि नाम के एक जैन पंडित ने जिससे राठोड़ों से कुछ कहा सुनी हो गई थी

1 दे० राजस्थानी भा० ६ अं० १। 2 राजस्थान भारती वर्ष १ अं० २।

दिल्ली जाकर कामराँ से भटनेर के गढ़ की बहुत प्रशंसा की जिस पर उस (कामराँ) ने ससैन्य भटनेर को घेर लिया। कुछ दिनों के युद्ध के बाद उस गढ़ का स्वामी खेतसी मारा गया और वहाँ कामरां का अधिकार हो गया (नि० २ पत्र १४)

मान्यवर स्व० ओझा जी ने बीकानेर राज्य के इतिहास का भा० १ पृ० १३० में उपर्युक्त उद्धरण देते हुए इसमें दिल्ली से आने के उल्लेख को देख इसे निराधार बतलाते हुए लिखा है कि "परन्तु एक जैन पंडित के दिल्ली जाकर कामराँ को भटनेर पर चढ़ा लाने की बात निराधार है, क्योंकि यह घटना बाबर की मृत्यु (वि० सं० १५८७ ई० सं० १५३०) के बाद की है जब कामराँ लाहौर में था और वह वहाँ से ही चढ़ कर आया होगा।"

बीकानेर राज्य की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के एक अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ में कांधलौत खेतसी की बात है उसमें भी उपर्युक्त घटना का उल्लेख है अतः यहाँ उसे भी उद्धृत कर दिया जाता है—

"पात भटनेर सहर कांधिलोत खेतसीह राज्य करै, भटनेर माहि बड़गच्छामथेन भावदेव सूरि रहैं तिणग शिष्य शीलदेव मौलदेव। सुइयाँ रै रसकुंपहाथ आचौ हुतौ सोनो कीयो पछै वेचीयो। पछै सोनारे वाणाए जाइ खेतसी नुकह्यौ अै मथेन सोनो करै छै। ताहरां एक दिन खैतसी जी आदमी मेल्हीयो। सोनो म्हारै चहीजै छै। म्हे पइसां देस्यां। ताहरां ईयां सोनो दीयो, वले मास ४ आडांधाति मंगायो, वले दीयो। वले मास ४ आडाधातनि मंगाये। वले दीयो। वलेमास ४ आडाधाति मंगायो ताहराँ उत्तर दीयौ। कह्यौ सोनौं म्हां फकांरां कठां! ताहराँ ईयाँ कोईवात हुती सुआलोपकी। ईयाँ नु बोलाय। कह्यौ सोनो द्यौ, अैनरो ठाठयां मीठयां घणयां ही दीयादिण पतठागै नहीं। पछै रोकीया तव सीस की वीपिण दै नहीं। कोहर (कुआँ) मांह उसारीया पणपतगरै नहीं। ताहरां भावदेव मार रे मुंहडैमूयौ ताहरां चेला दोनूं छोडिदिया। ताहरा चेला ज्योतिषी हुता। जाइनै काबिल कुंवरै पातिसाह नुं मिलीया। प्रश्न कीयौ जोतिक री बात पूछी उनां कही बात मिली। ताहरां द्रव्य देण लागौ, ऐ कहै द्रव्य न ल्यां म्हांहरो गुरु राठोड़ खेतसी मारियो छै मुथेम्हांहरो ऊपर करो। ताहरां सारी हकीकत कही। ताहरां खेतसीह ऊपरी मुहिम रो हुकम कीयौ। आटौ पिण तयारी हुही पछै मथेनले आया। पातिसाह आवतो सुणि खेतसीह साम्हौ गयौ। भेट दे मिलीयौ पछै पातिसाह आगै नुं मनधरियौ आगै पाणी नहीं धरती माहे। ताहरां ईयां मेह वरसायो। पातिसाह आंघो चाली चालीयौ ताहरां मथेनां अरज कीजुहयै नुं छोडमतां जावो। थिरता नु थानुं दोहरो लागसी। पछै पातिसाह अपूणे घिरियौ खेतसीह सुणीयौ पातिसाह आवै छै। ताहरां जुहर कर कांम आयौ। पाछै पातिसाह बीकानेर आयो। रांवजी जेतसीह जी लड़ाई कीवी। पातिसाह भागो। रावजी री जैत हुई।

॥ वात कांधलोत खेतसी री संपूर्ण ॥

(गुटका नं० २२ पेज ३१७ B)

उपरोक्त बात की भाषा राजस्थानी है अतः उसका संक्षिप्त सार दे दिया जाता है—

भटनेर शहर में कांधलोत खेतसीह राज करता था। वहीं बडगच्छ के मथेन (महात्मा, यति) रहते थे। उनके शीलदेव और भालदेव दो शिष्य थे। संयोगवश उनको रस कुंपिका की प्राप्ति हुई इसे सोना बनाके बेचा। बनिक ने यह बात खेतसी को कही। उसने भावदेवसूरि से सोना मांगा गुरु ने २-३ बार दे दिया पर खेतसी का लोभ बढ़ता ही गया तब अंत में गुरु ने सोना देने से इनकार कर दिया। खेतसी ने बहुत चेष्टा की पर वे राजी नहीं हुए। अन्त में खेतसी ने भावदेव को मरवा डाला। उनके शिष्य अच्छे ज्योतिषी थे। वे काबुल के पातसाह से मिल उसे ज्योतिष का चमत्कार दिखाया। उनका कहा हुआ भविष्य खरा उतरा। बादशाह ने उन्हें द्रव्य लेने को कहा पर उन्होंने न लेकर भटनेर की हकीकत कह, उस पर चढ़ाई कर गुरु का बदला लेने को प्रेरित किया। बादशाह ने ससैन्य चढ़ाई की। खेतसी ने भेंट दे उसे प्रसन्न कर लिया। बादशाह आगे चलने लगा पर जलाभाव था। चेलों ने मेह बरसाया और खेतसी को ऐसे ही छोड़ जाने से वापिस आते समय उत्पात करेगा, कहा। बादशाह ने वापिस घेरा डाला। खेतसी ने जौहर किया। बादशाह बीकानेर पर चढ़े पर राव जैतसिंह ने उन्हें परास्त किया अतः वह भाग खड़ा हुआ। विजय जैतसिंह की हुई।

राव जैतसी को कामराँ पर विजय की प्रशंसा को लेकर तत्कालीन तीन राजस्थान कवियों ने जैतसी का छंद, जैतसीरासौ ग्रन्थ बनाये। जिनमें से एक L. P. टेसीटोरी ने रायल एसोसियाटिक सोसायटी कलकत्ते से प्रकाशित कर दिया है। नं० ३ की दो प्रतियाँ हमारे संग्रह में हैं।

ऊपर में दिये गये चारों प्रमाणों पर विचार करने से यह तो निश्चित हो जाता है कि भावदेवसूरि की किसी कारणवश खेतसी से तनातनी हो गई और उन्होंने लाहौर से कामरां को भटनेर पर चढ़ाई करवाई। पर कई विरोधी बातों का समाधान अभी समकालीन प्रमाणों के अभाव में नहीं हो सकता। समकालीन प्रमाण में जैतसी के रासत्रय एवं चिन्तामणि मूर्त्ति का अभिलेख ही हैं जिनमें उनका [illegible] नहीं है वे विरोधी बातें इस प्रकार है—

१ खेतसी और भावदेवसूरि के अनबन होने का कारण—

रासकार ने धातु-औषधि, मुँहणोत नैणसी ने कोई चीज और [illegible] सोना बतलाया है। इनमें स्वर्ण ज्यादा संभव लगता है।

२ भावदेवसूरि या खेतसी का भाग जाना—

रासकार ने दोनों का परस्पर में मेल करा के छोड़ दिया है। मुँहणोत नैणसी की ख्यात एवं दयालदास और बात के अनुसार खेतसी भाग गया निश्चित होता है। बात एवं नैणसी की ख्यात में इससे पहले भावदेवसूरि को खेतसी ने मारडाला और

उनके शिष्यों ने प्रतिशोध लिया लिखा है, वह ठीक नहीं मालूम देता; क्योंकि भावदेवसूरि सं० १६१४ (कुलपार्तवाच्य की गुर्वावलि के अनुसार) तक विद्यमान थे। अतः बात एवं ख्यात लेखक के कथन में सचाई हो तो यह संभव हो सकता है कि भावदेवसूरि के गुरु के सम्बन्ध में यह घटना हुई हो, उन्हें मार डाला गया हो और प्रतिशोध भावदेवसूरि ने लिया हो अतः रासकार ने उन्हें ही सारी घटनाओं का नेता बना दिया हो। यह इसलिये भी संभव प्रतीत होता है कि भावदेवसूरि को आचार्य पद सं० १६०४ में मिला था जैसा कि *सर्वत्र कहा गया है वे घटना (सं० १५९१)* के समय के आचार्य पदारूढ़ थे यह बात उनके *गुरु के सम्बन्ध में ही घट सकती है।* पुन्यप्रभसूरि मारे गये हों उसका प्रतिशोध लेने में समय बीत जाने के कारण भावदेवसूरिजी को आचार्य पद देरी से मिला हो यह संभव है। बीकानेर के इतिहास से अन्त में विजय राव जैतसी की रही निश्चित है।

——:o:——

धर्मकथा-विकासात्मक परिभाषा

[ले०—श्रीयुत डा० रामसिंह तोमर एम० ए०, शान्तिनिकेतन]

साहित्यिक अंग के रूप में संस्कृत के प्राचीन रीति ग्रन्थकारों ने धर्मकथा का उल्लेख नहीं किया है। सब से प्राचीन भारतीय काव्याचार्य भामह ने केवल कथा और आख्यायिका का उल्लेख किया है और उनके पश्चात् दण्ड्याचार्य ने भी उनके विचारों की एक प्रकार से आलोचना सी की है। आगे चलकर आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में कथा आख्यायिका के अतिरिक्त परिकथा, सकलकथा और खण्डकथा के उल्लेख किये हैं। परिकथा में उनके अनुसार इतिवृत्तमात्र उपन्यस्त होता है और रसविकास के लिये विशेष स्थल उसमें नहीं होता तथा खण्डकथा और सकलकथा की प्राकृत में रचना होती थी। इनमें वृत्ति के अनुकूल रस चित्रण के लिए स्थान रहता है। ध्वन्यालोक के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक धर्मादि पुरुषार्थ को उद्देश्य कर के प्रकार वैचित्र्य से अनेक वृत्तान्तों के भिन्न वर्णनों के लिए परिकथा में स्थान रहता है। खण्डकथा में एक देश प्रधान वृत्तान्त का वर्णन रहता है। सकलकथा में समस्त इतिवृत्त की फलान्त पर्यन्त वर्णना रहता है। खण्डकथा और सकलकथा प्राकृत में होती हैं। किन्तु किसी प्राकृत रचना का उदाहरण मूल कृतिकार एवं व्याख्याकार ने नहीं किया और न कोई विशेष विस्तार ही किया है।

इनके पश्चात् जैनाचार्य हेमचंद्र ने भी अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में इस विषय की चर्चा की है। कथा और आख्यायिका के अतिरिक्त कथा के और भी भेदों की चर्चा उन्होंने की है। परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा की परिभाषाएँ ध्वन्यालोक से ही ली गई प्रतीत होती हैं। अपनी टीका में हेमचंद्र ने सकलकथा को चरित कहा है, सकलकथा के उदाहरण-रूप में समरादित्यकथा का उल्लेख किया है। उपकथा नामक एक और कथाभेद की उन्होंने चर्चा की है, जिसके संबंध में उन्होंने कहा है कि जिसमें एक चरित का आश्रय लेकर अति प्रसिद्ध कथान्तर को निबद्ध किया जाय, चित्रलेखा का उपकथा के उदाहरण रूप में उल्लेख किया है। बृहत्कथा का कथा के भिन्न प्रकार के रूप में उल्लेख हुआ है।

काव्यशास्त्र से संबंधित उपर्युक्त अथवा अन्य ग्रन्थों में धर्मकथा का कहीं निर्देश नहीं मिलता। जैनसाहित्य में कुछ कृतिकारों ने अपनी रचनाओं को स्पष्ट रूप से धर्मकथा कहा है और कुछ ने प्रारम्भ में इसकी व्याख्या भी कर दी है। कदाचित् उन्होंने यह व्याख्या इसलिए आवश्यक समझी होगी, क्योंकि इस पर अन्य काव्यविवेचकों ने कुछ नहीं

कहा तथा आगे के काव्यविवेचक किसी व्याख्या के अभाव में उनकी कृति की विवेचना काव्यशास्त्र के परंपरागत सिद्धान्तों के आधार पर अन्य ढंग से न कर सकें जैसा कि कहीं कहीं काव्यविवेचकों द्वारा हुआ है। प्राचीन कथा ग्रन्थ या काव्यग्रन्थ जिनकी रचना स्वतंत्र ढंग से हुई है उन्हीं को आधार एवं आदर्श मानकर इन ग्रन्थों में काव्याङ्गों की विवेचना की गई है। परिणाम इसका यह हुआ कि प्रबन्ध काव्यों में कुछ विशेष नियमों का पालन करना पीछे के रचयिताओं के लिये सामान्य नियम सा हो गया। यही दशा कथा, आख्यायिका तथा नाटकों को भी मिलती है। जो स्वतंत्र ढंग से ग्रन्थ लिखे गये उनको या तो काव्य समीक्षकों ने नया भेद मान लिया गया या कोई उल्लेख ही नहीं किया। कुछ जैन रचनाओं जिनको कि धर्मकथा उनके रचयिताओं ने कहा है, के भी संबंध में कुछ ऐसी ही बात हुई होगी अन्यथा उनका उल्लेख काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में अवश्य मिलता।

हेमचन्द्र ने एकमात्र समरादित्य संबंधित किसी कथा का उदाहरण सकलकथा के लिए किया है संभव है उनका तात्पर्य हरिभद्रसूरि की सिद्ध रचना 'समराइच्चकहा' से ही ही होगा। किन्तु हरिभद्राचार्य ने अपनी कृति के आरंभ में कृति को 'धर्मकथा' कहा है। सकलकथा का उल्लेख भी नहीं किया। अतः कृतिकार तथा अन्य इस प्रकार की व्याख्याओं पर यहाँ संक्षेप में विचार करना युक्तिसंगत होगा।

हरिभद्राचार्य ने पूर्वाचार्यों के अनुसार कथावस्तु तीन प्रकार की मानी है, दिव्य, दिव्य-मानुष और मानुष्। दिव्य में केवल देवचरित का ही वर्णन रहता है, दिव्य मानुष् में दिव्यमनुष्य दोनों के चरित का वर्णन रहता है। मानुष् में केवल मनुष्य चरित्र का ही वर्णन रहता है। सामान्यतः कथाएँ चार प्रकार की होती हैं—अर्थकथा, कामकथा, धर्म-कथा और संकीर्णकथा। कथा साहित्य का यह मौलिक विभाजन है। काव्यशास्त्रियों ने भाषा, प्रबन्धात्मकता, छंद, कथा के चरितनायक एवं वस्तु के ढंग पर कथाओं के भेद किए हैं किन्तु इस प्रकार के व्यापक आधार को सामने रख कर कथाओं का वर्गीकरण किसी आचार्य ने नहीं किया है। प्रयत्न करने से काव्याचार्यों के वर्गीकरणों में इन भेदों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। जैनाचार्यों ने कथा के इन भेदों की ओर भी व्याख्या विस्तार से की है। अर्थकथा में अर्थ प्राप्ति ही कथा का प्रमुख उपादान होता है—असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य से संगत तथा जिसमें विचित्र धातु आदि के महा प्रयोग किए जाते हैं तथा वह साम, भेद उपप्रदान (रिश्वत देना) दंड के प्रयोगों से युक्त होती है।

कामकथा (प्रेमकथा) में धन अवस्था (युवा०), शरीर, कलाओं में दाक्षिण्य से युक्त रूप व्यापार की प्रधानता होती है तथा जिसके साथ अनुराग से पुलकित करने वाले मिलन अवसर, दूति आदि के व्यापार से युक्त भावानुवर्तन रहते हैं।

धर्मकथा वह है जिसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचनत्व, और ब्रह्मचर्य की साधना का वर्णन प्रधान हो तथा अणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, (देश भ्रमण के नियमादि का व्रत), अनर्थदण्डव्रत, विरति, उपवासादि के नियम, उपभोग, परिभोग के नियम, अतिथियों को देकर भोजन करना, अनुकंपा तथा क्षुधा, तृषा आदि २२ परिषह-जय का वर्णन आदि तत्त्व रहते हैं।

धर्मकथा के इस विवेचन में भाषा, गद्य, पद्य एवं अन्य काव्य शास्त्र के किसी प्रतिबन्ध को नहीं स्वीकार किया गया है, केवल कथा की वस्तु को ध्यान में रखकर व्याख्या की गई है और उसी को प्रधान अङ्ग माना है अन्य तत्त्वों को गौण। यहाँ निर्देशित कुछ धर्मकथाओं में गद्य-पद्य (प्राकृत और संस्कृत एक भाषा में ही) का प्रयोग मिलता है किन्तु काव्यशास्त्रों में ऐसी रचनाओं को मिश्र या चंपू कहा है उनसे यह भिन्न हैं। इन कृतियों में गद्य या पद्य के प्रयोग वर्णन तथा कथा के अनुसार रहते हैं या इसी प्रकार के अन्य आधार बनाकर किसी नियम का ढूढ़ना कठिन नहीं है।

संकीर्ण कथा में प्रधान रूप से तीन तत्व रहते हैं, काव्य, कथा, ग्रन्थ में अर्थ गांभीर्य तथा लौकिक समय प्रसिद्धियां तथा नियम और उदाहरण, हेतु तथा कारण से युक्त होती हैं।

इन कथाओं के अनुकूल श्रोता भी तीन प्रकार के होते हैं; उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम श्रोता धर्मकथा से प्रेम रखनेवाले होते हैं। हरिभद्र ने अपनी कृति को दिव्यमानुष वस्तु से संबंधित धर्मकथा कहा है। निस्संदेह उनकी कृति में उपर्युक्त कथित धर्मकथा के सभी तत्त्व मिलते हैं।

हरिभद्र के ही समान उनके शिष्य (?) सिद्धर्सि ने अपनी महत्वपूर्ण कृति उपमितिभव-प्रपञ्च कथा के प्रारम्भ में धर्मकथा की व्याख्या की है। चार प्रकार की कथाओं और श्रोताओं का सिद्धर्सि ने उल्लेख किया है। अर्थकथा और कामकथा को निकृष्ट कह कर अपनी कृति को धर्मकथा कहा है। हरिभद्राचार्य और सिद्धर्सि के कथा संबंधी विवेचनों में कोई अन्तर नहीं है। सिद्धर्सि ने अपनी कृति की रचना संस्कृत में की है किन्तु प्राकृत की जो प्रशंसा उन्होंने की है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके सामने प्राकृत रचित कोई धर्मकथा (और वह समरादित्य कथा ही होगी) आदर्श रूप में विद्यमान थी। हरिभद्र का समय ईस्वी ८ वीं शती तथा नवीं का प्रारम्भ विद्वानों ने निश्चित किया है और सिद्धर्षि ने अपनी कृति की रचना ९०६ ई० में की।

उपर्युक्त दोनों धर्मकथा रचयिताओं से प्राचीन जटासिंहनंदि हैं जिन्होंने अपनी कृति वराङ्ग चरित की रचना सन् ईस्वी की सातवीं शती में की (माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में

प्रकाशित, १९३८)। जटासिंहनन्दि ने अपनी कृति के प्रारम्भ में (१-६-८) कथा की व्याख्या की है और श्रोता और वक्ता का भी उसी प्रसंग में महत्व बतलाया है और अपनी कृति को धर्म, अर्थ, काम के सहित मोक्षफल में- अवसान होने वाली कहा है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में भी रचयिता ने अपनी कृति को चतुर्थ वर्ग समन्वित धर्मकथा कहा है

वराङ्गचरित की समरादित्य कथा और उपमितिभवप्रपञ्च कथा के साथ समता करने पर कुछ भेद तथा साम्य मिलते हैं। वराङ्ग चरित संपूर्ण पद्यबद्ध रचना है जब कि अन्य दोनों कृतियों में गद्य और पद्य का समान रूप में व्यवहार हुआ है। समरादित्य कथा में केवल प्राकृत (जैन महाराष्ट्री) का ही प्रयोग हुआ है और उप० में केवल संस्कृत का। वराङ्गचरित का कथानायक पौराणिक व्यक्ति है। समरादित्यकथा के प्रधान पात्र गुणसेन और अग्निशर्मा की कथा हरिभद्र को पूर्वाचार्यों से प्राप्त हुई थी किन्तु बहुत कुछ भाग उनकी मौलिक कल्पना का परिणाम है। उपमितिभवप्रपञ्च कथा एक साङ्गरूपक कथा है जो कदाचित् भारतीय साहित्य में विरले उदाहरण हैं। तीनों ही ग्रन्थों में काव्यमय वर्णनादि मिलते हैं, किन्तु सभी प्रधान कथा से संबंधित है और उसमें योग देते हुए दिखाये गये हैं। तीनों ही कृतियों में आदि से अन्त तक कथा के प्रधान पात्र से ही संबंधित कथाएँ है।

ग्रन्थों के विभागों को देखने से पता चलता है कि वराङ्गचरित काव्य के समान सर्गों में विभाजित है—सम्पूर्ण कृति में ३१ सर्ग हैं। कथा का एक एक अंग प्रत्येक सर्ग में समाप्त किया गया है। समरादित्यकथा और उपमितिभवप्रपञ्च कथा के विभागों में पर्याप्त समानता है केवल नामों का अन्तर है। पहिलों में उन्हें भव (जन्म-संसार) कहा गया है समराकृति में कथा के प्रधान पात्रों के नवजन्मों की कथा है। इसी तरह उपमितिभव-प्रपञ्च कथा आठ प्रस्तावों में विभक्त है। महाकाव्यों या प्रबन्ध काव्यों की विशेषता वराङ्गचरित में बहुत सी मिलती है, अन्य कृतियों में नहीं अर्थात् वराङ्ग चरित महाकाव्य के अधिक निकट है और आसानी से उसे धार्मिक या पौराणिक महाकाव्य कहा जा सकता है। अन्य दो कृतियों को नहीं।

सफल धर्मकथा के समान तीनों ही कृतियों का अवसान शुभ मोक्षप्राप्ति फल के रूप में किया गया है। समरादित्य कथा में गुणसेन मुक्त जीवों के लोक में जाकर मोक्ष प्राप्त करता है। उसकी धर्म दृढ़ता से सभी देव प्रसन्न होते हैं। उपमितिभवप्रपञ्च कथा में संसारी जीव अत्यंत निकृष्ट अवस्था से क्रमशः क्रोध, मान, माया, लोभादि पर अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए विजय प्राप्त करता जाता है और अन्त में निर्वृत्ति या मोक्ष प्राप्त करता है। वराङ्ग चरित में वराङ्ग मोक्ष प्राप्त करता है। अतः प्रस्तुत कृतियों में काव्यन्याय का एक प्रकार से अच्छी तरह पालन किया गया है।

काव्य के अनुकूल इन तीनों ही कृतियों में सरल, मनोरंजक स्थलों का अभाव नहीं है किन्तु कथा की दृष्टि से समरादित्य कथा अधिक सरल और सफल है। अन्य दो कृतियों में अनेक स्थलों पर गंभीर विवेचन मिलते हैं। तथा उपमिति० की कथा भी मानसिक विकारों को रूपक देने के कारण तत्कालीन युग के अनेक विश्वास और सामाजिक चित्रों युक्त है और इस दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत ही महत्वपूर्ण है।

ये तीनों कृतियाँ उनके रचयिताओं द्वारा यद्यपि "धर्मकथा" कही गई हैं और धर्मकथा का ठीक स्वरूप निश्चित न होने के कारण तीनों ही ग्रंथकारों ने धर्मकथा के स्वरूप की भी अपनी अपनी कृतियों में व्याख्या की है, इनमें कथा का अनुरंजक तत्त्व तथा धर्म के उपदेश तत्त्व का सुन्दर योग मिलता है। तीनों ही रचयिताओं की असाधारण प्रतिभा के कारण काव्य तत्त्व से संपन्न हैं और प्रत्येक अपने ढंग की सफल रचना है। जैनाचार्यों की इन कृतियों का भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान है, उनके मौलिक रूप के कारण। पुराण, धर्म, कथा वर्णनशैली, काव्यतत्त्व सभी को उचित अनुपात में लेकर ही धर्मकथा के रूप में इनके रचयिताओं ने इनकी रचना की है, साहित्यिकों द्वारा परिभाषा की गई कथा, आख्यायिकादि से ये रचनाएँ भिन्न हैं तथा मौलिक प्रयोग हैं और इसी रूप में इनका अध्ययन होना चाहिये।

इस प्रकार की धर्म कथाएँ जैन साहित्य में बहुत हैं। किन्तु वे पुराणों से भिन्न हैं और चरित काव्यों से भी; जैसे श्रीपाल चरित आदि। और केवल कथा साहित्य की दृष्टि से आराधनाकथाकोष पुण्यास्रवकथाकोष, जैसे कथाग्रंथ चारित्रवर्धक सुन्दर धर्मकथा सम्बन्धी रचना हैं।

दि० जैन साहित्य में एक नहीं सहस्रों की संख्या में धर्मकथाएँ हैं, जिनके द्वारा जैन साहित्य अपनी अनेक रूपता के सहित समृद्धशाली है।

—:०:—

आय-सद्भाव

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न]

प्रश्नशास्त्र फलित ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसमें प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नानुसार बिना जन्मकुण्डली के फल बताया जाता है। जैन निमित्तज्ञान में इस शास्त्र पर अनेक रचनाएँ की गई हैं। प्रस्तुत आयसद्भाव प्रश्नशास्त्र का ही ग्रन्थ है। सन १९४६ में विद्वत्परिषद् के मथुरा में हुए शिक्षण शिविर के अवसर पर मुझे यह ग्रन्थ श्री पं० शंकरलाल शर्मा शास्त्री से प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य मल्लिषेण बताये गये हैं। कुल ग्रन्थ में १९६ आर्याएँ हैं। इस ग्रंथ में २० प्रकरण हैं।

संज्ञाधिकार—इस अधिकार में ध्वज, धूम्र, सिंह, मण्डल, वृष, खर, गज और वायस इन आठों आयों के नाम, इनकी दिशाएँ एवं इनके विशेष स्वरूप का कथन किया है। इस प्रकरण में बताया है कि पूर्व-पश्चिम में चार सीधी रेखाएँ खींच कर उन पर उत्तर-दक्षिण में और चार रेखाएँ खींचनी चाहिये, इससे नौ कोठों वाला एक चक्र बन जाता है। उसके बीच के कोठे को छोड़ कर शेष आठ कोठों में आठ दिशाओं की कल्पना कर ध्वज, धूम्र, सिंह, मण्डल, वृष, वायस, खर और गज ये सब प्रतिपदा को अतिक्रमण करते हुए तिथि भुक्ति के प्रमाण के अनुसार इन आठों दिशाओं में उदित होकर एक प्रहर बाद तत्परवर्ती दिशा में गमन करते हैं, इस नियम के अनुसार रात दिन में आठों दिशाओं में घूम आते हैं। जैसे प्रतिपदा में प्रथम प्रहर में ध्वज पूर्व में उदित होता है, पुनः प्रथम प्रहर के बीत जाने पर अग्निकोण में चला जाता है, वहाँ एक प्रहर रहकर दक्षिण दिशा में चला जाता है। इस नियम के अनुसार प्रतिपदा तिथि के आठों प्रहरों में ध्वज आठों दिशाओं में भ्रमण करता है। इसी प्रकार द्वितीया आदि तिथियों में भी धूम्र आदि का उदय एवं भ्रमण समझ लेना चाहिये।

इस प्रकरण में अन्य आय ग्रंथों से यह नवीनता है कि ऋतु, दिन, पक्ष और समय—प्रहर की अपेक्षा से आयों के बलाबल का अच्छा निरूपण किया है। तथा सभी आय के आकार-प्रकार, रूप-रंग, कद, जाति आदि का सुन्दर कथन किया है। पूरे प्रकरण में आयों की विभिन्न संज्ञाएँ और उनकी परिभाषाएँ बताई गई हैं।

दूसरा सूचा प्रकरण है। इसके प्रारम्भ में पृच्छक का लक्षण बताया है। ज्योतिष शास्त्र वैज्ञानिक होने पर भी श्रद्धा की चीज है, अतएव पृच्छक को शान्त भाव से फल, पुष्प और अक्षत लेकर दैवज्ञ से प्रश्न पूछना चाहिये। इस प्रकरण में प्रश्नों के उत्तर देने की

विधि को बतलाते हुए कहा है कि १०८ सफेद रंग की कौड़ियों को स्वच्छ जल से धोकर पुनः गन्धोदक से उन्हें धोना चाहिये। पश्चात रात को चन्दन, अक्षत् आदि से उनकी पूजा करनी चाहिये; फिर एक पट्टे पर उन कौड़ियों के पुंज को रख प्रातःकाल पुनः मन्त्रज्ञ उनकी पूजा करे। पूजा करने के निम्न मन्त्र दिये गये हैं :—

ॐ नमो मंत्रादिरिटिमिटिपुलिन्दिनी स्वाहा। ॐ नमो भगवते सुग्रीवस्स-विज्जाहरपएहसवणस्स कमले २ विमले २ विपुले २ अवतरावतर २ देवि सर्वाङ्ग-सुन्दरि एहि २ श्रीं ह्रीं इटिमिटिपुलिन्दिनि स्वाहा।

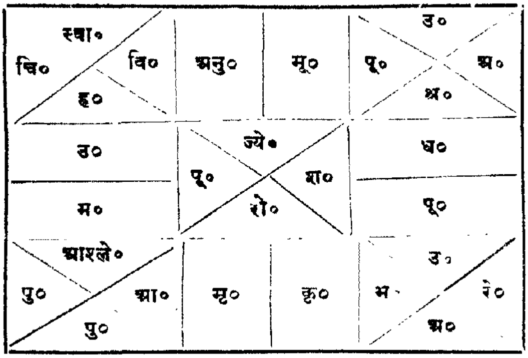
इसके पश्चात् पुंज को तीन भागों में विभक्त कर उनमें से आठ कौड़ियाँ निकाल लेना चाहिये और इन आठ को ध्वज, धूम आदि आय की कल्पना कर शुभाशुभ फल कहना चाहिये। इस प्रकरण में और भी एकाध मंत्र दिये गये हैं। प्रश्न विधि के श्लोक निम्न प्रकार हैं :—

अष्टोत्तरशतसंख्यानाहृत्य कपर्दकान धवलवर्णान्।
धौतान् समानवर्णान् क्षीरजिनस्नानतोयेन॥
रात्रावभ्यर्च्य पुनः सुगन्धाक्षतादिभिः पूर्वम्।
संस्थाप्य पट्टकेऽपि च कपर्दकानां ततः पुञ्जम्॥
प्रातःसमये पश्चात् पुनरपि सम्पूज्य मंत्रतो मंत्री।
ॐ नमो मंत्रादिरिटिमिटि पुलिन्दिनी स्वाहा॥
फलके पुञ्जत्रितयं तस्मादष्टौ कपर्दकास्तु हरेत्।
उद्धरित कपर्दकतः शुभाशुभं निर्दिशेत् प्रायः॥

तीसरा स्थान प्रकरण और चौथा संख्या प्रकरण हैं। इन दोनों में नष्ट द्रव्य या पृथ्वी के नीचे से धन प्राप्ति के प्रश्न का उत्तर दिया गया है। जितना महत्त्व का विषय है, उतना महत्त्वपूर्ण वर्णन नहीं है। बहुत ही संक्षेप में द्रव्यानयन या द्रव्यप्राप्ति के सम्बन्ध में बताया गया है। प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से इन दोनों प्रकरणों में कोई नई बात नहीं है।

पाँचवा चक्र प्रकरण है, इसमें नक्षत्र यंत्र, शल्योद्धारक चक्र, नवमांशचक्र, आलिंगित-चक्र आदि कई चक्रों का वर्णन है, इन चक्रों द्वारा प्रश्नों का उत्तर भी दिया गया है। नक्षत्र और शल्योद्धार चक्रों का स्वरूप निम्न प्रकार है :—

नक्षत्र यंत्र



शल्योद्धार चक्र

४	८	१
५	श्री०	३
७	२	६

इन यंत्रों द्वारा प्रश्नों के शुभाशुभों का निरूपण अन्य प्रश्नग्रंथों की अपेक्षा विलक्षणता पूर्वक किया है। छठवें प्रकरण और सातवें प्रकरण में जीव, धातु और मूल संज्ञक अक्षरों का कथन किया है। तथा प्रश्नाक्षरों की जीव, मूल और धातु संज्ञाओं पर से शुभाशुभ प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः ट ठ ड ढ ण य र ल व, ये जीवाक्षर, क ख ग घ त थ द ध न श ष स ह यें धात्वक्षर एवं च छ ज झ ञ प फ ब भ म ङ ये मूलाक्षर संज्ञक हैं। जीवाक्षर प्रश्न में हों तो आलिङ्गित, धात्वाक्षर हों तो दग्ध और मूल हों तो अभिधूमित प्रश्न होता है। नष्ट प्रश्न और मुष्टि प्रश्न का ज्ञान करते समय आलिङ्गित और शान्त प्रश्न के होने पर जीव, दग्ध के होने पर धातु एवं अभिधूमित के होने पर मूल का ज्ञान करना चाहिये।

आलिङ्गितशान्ताभ्यां जीवो धातुः स्याद्दग्धदर्शनतः।
अभिधूमिते च मूलं नष्टं कथयन्ति तत्त्वविदः॥

आदिस्थायो जीवो मध्यस्थो धातुरन्त्यगान् मूलम् ।
मुष्टिक्रमेण कथयेत् निमित्त विद्वद्बलवतायेन ॥

इस प्रकार मुष्टिप्रश्न और नष्टप्रश्नों का उत्तर दिया गया है। मानस प्रश्नों का विचार भी इस प्रकरण में किया है। यद्यपि इस प्रकरण के प्रश्न अन्य प्रश्न ग्रंथों से मिलते जुलते हैं किन्तु शैली में अनेक विशेषताएँ हैं।

आठवाँ पातलक्षण नाम का प्रकरण है। इसमें आयों के पातों का वर्णन किया गया है तथा सद्, सद्विमुक्त, स्वस्थान, ग्रहीतमुक्त, अनुकूल, प्रतिकूल, चलित, सरित, और अभिमुखपातों के लक्षण और फल बताये गये हैं। यह प्रकरण बिल्कुल नया प्रतीत होता है, प्रश्नशास्त्र में इस नाम के पातों का अन्यत्र उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया है। छोटा सा प्रकरण होते हुए भी मौलिक प्रतीत होता है।

नौवाँ मित्रामित्र नाम का प्रकरण है। इस प्रकरण में आठों आयों के मित्र और शत्रु का विचार किया गया है। धूम आय के वृषभ, खर, खग, मण्डल मित्र और अन्य आय शत्रु; सिंह आय के मण्डल, वायस, मित्र और अन्य शत्रु; मण्डल आय के खर, वृषभ, गज उदासीन और शेष शत्रु; वृषभ आय का वायस मित्र, सिंह और अग्नि शत्रु तथा अन्य उदासीन एवं खर आय का सिंह, धूम शत्रु और शेष आय उदासीन होते हैं। प्रश्न में मित्र-शत्रु आयों के अनुसार फलाफल का निरूपण किया गया है।

दशवाँ प्रकरण स्वभाव योनि नाम का है। इसमें आयों के स्वभाव, गुण का वर्णन संक्षेप से किया गया है। आयों के स्वभाव के अनुसार ही उनका फल भी बतलाया है।

ग्यारहवाँ और बारहवाँ लाभालाभ तथा लाभ नामक प्रकरण हैं। इन दोनों प्रकरणों में प्रश्नकर्ता के समय के आय पर से तथा उस आय के पात, स्वरूप आदि पर से लाभालाभ का निरूपण किया गया है। ग्रन्थकर्ता ने बारहवें प्रकरण में कार्यसिद्धि का निम्न प्रकार वर्णन किया है :—

देवकुलदेवपूजादुर्गतिवाहादिसर्वकार्याणि ।
स्वस्थानस्थिरपाते कृत्यानि मनीषिभिः सततम् ॥
कर्षणविद्याशिक्षणसेवावाणिज्यशिल्पकर्माणि ।
चलकार्याणि च नूनं स्वस्थानचलायपाते च ॥
प्राकारगोपुरालयकूपसरोवरमुखानिकार्याणि ।
सिद्ध्यन्त्युपरितलस्थः स्थिरमित्रं भवति यदि पातः ॥
क्रियविक्रयशुभसेवास्वजनधनप्रमुखसर्वसम्बन्धः ।
मित्रानुकूलसन्मुख पातो यदि भवति सिद्ध्यन्ति ॥

तेरहवाँ प्रकरण अर्घविवाह संकीर्ण नाम का है। इसमें अनाज के तेजी-मंदी सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, आगे इसी प्रकरण में विवाह सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया है। ग्रन्थकर्ता ने इस प्रकरण की समाप्ति बहुत ही संक्षेप में कर दी है। इस महत्त्वपूर्ण प्रकरण को अधिक बढ़ाना चाहिये था तथा इस पर विशेष ऊहा-पोह की आवश्यकता थी; किन्तु आठ-दस श्लोकों में ही इसे पूरा कर दिया है।

चौदहवाँ रोग प्रकरण है। इसमें किसी व्यक्ति के रोगी होने पर उसके अच्छा होने न होने तथा रोग की अवधि का वर्णन किया गया है। साधारणतया यह प्रकरण अच्छा है, संक्षेप में सभी आवश्यक फल बतला दिया गया है।

पन्द्रहवाँ भोजन प्रकरण है। इसमें आयों के अनुसार भोजन सम्बन्धी रसों का निरूपण किया है। स्वर शास्त्र में भोजन ग्रहण की जो प्रक्रिया बतलाई गई है कि अमुक स्वर के चलने पर अमुक प्रकार के पदार्थों का सेवन करना चाहिये तथा अमुक स्वर के चलने पर भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार इस आय प्रकरण में भी लगभग इसी भोजन विधि का वर्णन है। प्रकारान्तर से यह भी ज्ञात किया जा सकता है कि कोई व्यक्ति पूछे कि मैं कैसा भोजन कर के आ रहा हूँ या मैं कैसा भोजन करूँगा, इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है।

सोलहवाँ गमनागमन नामक प्रकरण है। यह प्रायः सभी प्रकरणों से बड़ा है। प्रतिपाद्य विषय का विवेचन इस प्रकरण में अच्छी तरह किया गया है। इसकी शैली मौलिक है, विषय और वर्णन दोनों ही दृष्टियों से यह प्रकरण महत्त्वपूर्ण है। पथिक के आने के सम्बन्ध में गवेषणापूर्वक प्रश्नों के उत्तर दिये गए हैं। आयों के पात, शत्रुत्व, मित्रत्व, स्वरूप संचार प्रभृति सभी दृष्टियों का समन्वय इस प्रकरण में किया गया है।

सत्रहवाँ जयाजय नाम का प्रकरण है। इसमें युद्ध, मुकद्मा आदि का हार-जीत के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इस प्रकरण में भी आचार्य ने पात आदि का सूक्ष्म विचार किया है। इस प्रकरण की शैली इस विषयक अन्य ग्रन्थों की शैली से भिन्न प्रतीत होती है।

अठारहवाँ गर्भ नामक प्रकरण है। इसमें गर्भस्थ सन्तान पुत्र या कन्या है तथा यह गर्भमोचन कब तक होगा, प्रभृति प्रश्नों का उत्तर दिया है।

उन्नीसवाँ वर्षाधान्य प्रकरण है। इसमें वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। तथा अमुक वर्ष में कृषि किस प्रकार की होगी, यह भी बताया गया है। प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से यह प्रकरण मौलिक और महत्त्वपूर्ण है।

बीसवाँ नाम प्रकरण है। इसमें चोर का नाम अथवा प्रश्न के अनुसार अन्य व्यक्ति का नाम निकाला गया है। नाम निकालने की प्रक्रिया यह है कि नाम के आदि वर्ण के

स्वर और व्यञ्जनों का विश्लेषण आय के स्वरूप, संचार आदि से किया गया है। यह प्रकरण काफी बड़ा है तथा गमनागमन प्रकरण के समान उपयोगी भी है।

अन्तिम उपसंहार में एक-दो मन्त्र दिये गये हैं और आयों के सम्बन्ध में अन्य ज्ञातव्य बातें बतलाई गई हैं।

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

श्रीनागेन्द्रनरेन्द्रत्रिदशेन्द्रैरर्चितं जिनं नत्वा।
वीरं श्रीजितकुसुमशरं कथयाम्यहमायसद्भावम् ॥१॥

मुक्ताभरणा पल्लवपरिधाना विधृतपल्लवाग्रकरा।
या श्यामरक्तवर्णा पुलिन्दिनी दिशतु मे बोधम् ॥२॥

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदायसद्भावम्।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ॥३॥

ध्वजधूमसिंहमण्डलवृषखरगजवायसा भवन्त्यायाः।
ज्ञायन्ते ते विद्भिरिहैकोत्तरगणनयाचाष्टौ ? ॥४॥

अन्तिम भाग—

कथयतु भूतभविष्यत् प्रवर्तमानादिकं त्रिलोकेऽस्मिन्।
सिद्धेय सिर्त्तिदेवी निमित्तवित् करतलामलकम् ॥१६४॥

अन्यस्य न दातव्यं मिथ्यादृष्टेस्तु विशदविद्येयम्।
शपथं च कारयित्वा जिनवरदेव्याः पुरः सम्यक् ॥१६५॥

तिहिभुत्ति नालियाओ तक्कालिय भुतिजुत्त चउगुणियं।
पण (सग) रसे विहित्तं भणन्ति सेसे वियो आओ ॥१६६॥

॥ इत्यायसद्भावप्रकरणं समाप्तम् ॥

जैन सिद्धान्त भवन,
आरा। }

जयपुर के मन्दिरों के कतिपय प्रतिमा लेख

दिवानजी का मन्दिर (सवाई माधौपुर)

१ पीतल १ फुट ऊँची[1], लेख—सं० १६७१ वर्षे आसाढ़ सुदी ११ सोमवार श्री० मू० संघ बला० कुन्दकुन्दादि आमनाये भ० रतनकीर्त्ति उपदेशात् आचार्य श्री हेमकीर्त्ति साह ब्रह्ममेघ राजन्यत्व प्रणमति ज्ञाति हुमड़........ ....

२ श्वेत पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८२६ वैसाख शुक्ला ६ गुरुवार माधोपुरे महाराज पृथ्वीसिंह श्रीमूलसंघे नंद्यगणामनाये भ० श्रीसुरेन्द्रकीर्त्ति तदाम्नाय संगई नन्दलाल पुत्र मोतीराम प्रतिष्ठा कारापिता।

३ पीतल १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १८२६ वैसाख सुदी ६ गुरुवार माधोपुरे महाराज पृथ्वीसिंघजी श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे नन्द्याम्नाय भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति तदाम्नाय संगई नन्दलालपुत्र मोतीलाल प्रतिष्ठा कारापिता।

किला रतन भवरगढ़ माधौपुर

१ गेहुँआ वर्ण, ३ फुट ऊँची, लेख—सं० १० वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघ भट्टारक .....

पंचायती बीसपन्थी मन्दिर—

१ पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १४१४ माघ शुक्ला ५ श्री......पर नगरे श्रीकुन्द-कुन्दादि परम दिगम्बर प्रसादात् श्री सकलसंघ आनन्द ददातु।

२ पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख शुक्ला ५ सोमवार सवाई जै नगरे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् संगई रायचन्देन जिनबिम्ब .....

सामलजी का मन्दिर और भसावड़ी का मन्दिर—

१—सं० १८२६ वैशाख सुदी ६ गुरुवार माधोपुरे पृथ्वीसिंघ राज्ये श्रीमूलसंघेन नन्द्यामनाय भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति तदामनाय संगई निदलाल पुत्र मोतीलाल प्रतिष्ठा करापिता।

तेरापन्थी मन्दिर—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैसाख सुदी ५ सवाई जै नगरे मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्देन प्रतिष्ठा करापिता......।

गोदी का मन्दिर (सागानेर)

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १७४६ भादवावदी ६.........।

१—प्रतिमाओं के नाम संग्रहीत न होने के कारण नहीं दिये जा सके हैं।

गोधा का मन्दिर—

१ श्यामवर्ण १ फुट, लेख—सं० १७८३ वैसाख सुदी ६......................... ....प्रतिष्ठि........।

२ लेख—सं० १६६० फागुनबदी ४ भ० देवेन्द्रकीर्त्ति.....................।

३ श्वेतवर्ण पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १६५२ आषाढ़ वदी १ रविवार श्रीमूलसंघ बला० सर० प्रभाचन्द्र ने त० भ० चन्द्रकीर्त्तिदेव तदआमनाय खण्डेलवाल भेसा गोत्रे......

४ लेख—सं० १८६१ वैशाख सुदी ५ सौ० सवाई जै नगरे मूलसंघे बला० सर० भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्द्रेन प्रतिष्ठा कारापिता।

पण्डितजी का मन्दिर (आमेर)—

१ पाषाण, गेहुँआवर्ण ३ फुट ऊँची, लेख—सं० १२०५ माघ शुक्ला ५............।

मन्दिर मुंशी गोविन्दरामजी—

१ श्यामवर्ण, पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख सुदी ५ सोमवासरे सवाई जै नगरे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्द्रेण प्रतिष्ठा कारापिता।

बड़ा मन्दिर तेरापन्थी—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० ११२५ माघसुदी ६ परतापगढ़नगरे कुन्दकुन्दादिपरमदिगम्बरगुरूपदेशात् प्रतिष्ठितं इदं जिनबिम्बम्।

२ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख सं० ११८३ माघवदी ८ प्रतिष्ठितं......... ....कारापितं

ठोल्या का मन्दिर—

१ पीतल १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १५४८ वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक जिनचन्द्र सं० जीवराजपापडीवालेन प्रतिष्ठा कारापिता।

मन्दिर गुमानपन्थी वधीचन्द्रजी का—

१ सं० १८६१ मिती वैसाख सुकला ५ सोमवासरे सवाई जै नगरे भट्टारक सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् संघई रायचन्द्रेण प्रतिष्ठा कारापिता।

मन्दिर छावड़ा का जयपुर—

१ सं० १८६१ वैसा० शु० ५ सो० सवाई जै नगरे श्रीमूलसंघे दि० आमनाय बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्य आमनाय भ० श्री क्षेमकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भ० सुरेन्द्रकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे देवालिमतितुलये भ० सुरेन्द्रकीर्त्तिउपदेशात् खण्डेलवाल अन्वय छावड़ा गोत्रे दीवानजी श्री बालचन्द्रजी पंचपुत्र प्र० पुत्र दीवान जयचन्द्र द्वि०

हरिश्चन्द्र तृ० सं० रामचन्द्र तद् भार्या रायादे च० विष्णुचन्द्र पं० कृष्णचन्द्र एतेषां मध्ये धर्मधुरन्धर जिनमत उद्योतकरण धर्मवृद्ध्यर्थं सं० रायचन्देन प्रतिष्ठिता ।

२ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८५२ वैसाखमासे शुक्लपक्षे ५ तिथौ आमेरदुर्गे महाराजा श्री दौलतरामजी राज्ये श्रीमूलसंघे भ० भुवनकीर्त्ति उपदेशात् स० धर्मदासेन ....

३ लेख—सं० १६४८ वैसाखशुक्ला ८ भ० भुवनकीर्त्ति .... ।

४ लेख—सं० १८२६ वैशाख सुदी ६ माधौपुरे पृथ्वीसिंह राज्ये भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० नन्दलालेन प्रतिष्ठिता ।

काला का मन्दिर—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख सुदी ५ सवाई जै नगरे मूलसंघे बला० सरस्वती ग० भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात्... ..... ।

२ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १९५२ वैशाख मासे शु० ५ अजमेर दुर्गे श्री मूल० भ० भुवनकीर्त्ति उपदेशात् ।

सिवाड़ वाकलीवाल का मन्दिर—

१ श्यामवर्ण पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १९३५ माघशुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ० गजेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् .... ।

२ श्यामवर्ण पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १८२६ वै० सुदी ६ माधौपुरे पृथ्वीसिंह राज्ये भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० नन्दलालेन प्रतिष्ठा...... ।

खोगों का मन्दिर सागानेर (जयपुर)—

१ रक्तवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख शुक्ला ५ सोमवार सवाई जै नगरे मूल संघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्द्रेन प्रतिष्ठा कारापिता ।

२ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—वैसाख ८ पं० जसकीर्त्ति .... ।

मन्दिर दुर्गापुरा—

१ श्यामवर्ण, पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १८५२ वैसाख सुदी ५ अजमेर दुग भ० भुवनकीर्त्ति ... . ।

२ श्वेतवर्ण पाषाण १॥ फुठ ऊँची, लेख—सं० १२४८ मिती...... ....मूल सं० भ० जठराकीर्त्ति श्री कृष्णदासेन प्र० .. ..

नेमजी लुहाड्या का मन्दिर—

१ सं० १९३५ माघशुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ०................... ......।

ठोल्या का मन्दिर सागानेर—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १४५७ वैसाख सुदी ३ भ० जसधरजो...।
२ सं० १५३६ वैसाख सुदी ३ भ० अमरेन्द्रकीर्ति...।
३ सं० १६४२ वैशाख सुदो ५ ....।
४ सं० १५४८ वैसाख सुदी ३ मूल० भ० जिनचन्द्र उपदेशात् .. ।
५ श्वेतवर्ण, पाषाण १॥ ऊँची, लेख—सं० १६४८ वैशाख सुदी ६ श्री मूल० सं० ब० भ० प्रभाचन्द्र ....।
६ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १७७३ फालगुनमासे भ० देवेन्द्रकीर्त्ति...

दारोगाजी का मन्दिर जयपुर—

१ बादामी वर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १८६१ वैशाख शुक्ला ५ सोमवासरे सवाई जै नगरे श्रीमूलसंघे तद आमनाय बला० सर० भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात्।
२ सं० १८२६ वैसाखमासे शुक्लपक्षे तिथी ६ माधौपुर नगरे सवाई पृथ्वीसिंह राज्ये मूलसंघे सा० भ० सुरेन्द्र० उ० संगई नन्दलालेन प्रतिष्ठा कारापिता।
३ सं० १७८० भ० देवेन्द्रकीर्त्ति..... .....।

सोन्या का मन्दिर—

१ सं० १८५२ वैशाख शुक्ला ५ अजमेर दुर्गे मं० दोलतरायजी तदाज्ञा भिदाई सिवाजी नानाराज भ० श्रीभवनकीर्त्ति उपदेशात् सं० धर्मदासगंगवालेन प्रतिष्ठा कारापिता।
२ सं० १७९४ मिति माघशुक्ला १३ महाराजाधिराज श्री जयसिंगजी प्रसादात् राज्ये भ० महेन्द्रकीर्त्ति तखत सि०............।
३ सं० १४५७ वैशाखसुदी ७ मूल सं० भ० श्री धरमविजय प्रसादात् प्रतिष्ठितम्।

मन्दिर कालेडेरा महावीर स्वामी—

१ सं० १८६१ वैशाखशुक्ला ५ सोमवार सवाई जै नगरे श्रीमूलसंघे तदामनाय बलात्कार-गणे सरस्वती गच्छे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् दीवानजी बालचन्द्र प्रतिष्ठा करा...
२ सं० १८५२ वैशाख, शु० ५ अजमेर दुर्गे भ० श्रीभवनकीर्त्ति उपदेशात् ....।
३ सं० १७८३ वैशाख सुदी ३ भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् ....।
४ श्वेतवर्ण पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १५४८ वैशाख शुक्ला ३ श्रीमूलसंघे भ० श्रीजिनचन्द्र सं० जीवराजपापड़ीवालेन प्रतिष्ठा करापिता............।

मन्दिर दीवानजी—

१ श्यामवर्ण, पाषाण २॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १६२४ माघशुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ० राजेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात ………… ।

मन्दिर भावसान—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, देख—सं० १६२४ माघ शुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्य भ० राजेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् ………. ।

२ सं० १६२५ माघशुक्ला ६ पर० भ० श्री कुन्द० परम दिग० गुरु उपदेशात प्रतिष्ठितं ।

३ सं० १६५५ माघ शुक्ला १२ भ० प्रतिष्ठितं जिनबिम्बम् ।

मेघराजजी का मन्दिर—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १॥ फुट ऊँची, लेख—सं० १८८३ माघसुदी ५ मूलसंघे भ० जिनेन्द्रभूषन पट्ट ग्वालियर का महेन्द्र भू० दिल्ली का टोंग्या अमीचन्देन बाड़ी नगरे प्रतिष्ठा कारापितम् .. .. ……. ।

मन्दिर गुमानपथी बधीचन्दजी का—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १५४८ वैशाखसुदी ३ श्रीमूलसंघे भ० जिनेन्द्रभूषन सं० जीवराज पापड़ीवाल प्रतिष्ठा कारापितं ।

२ सं० १८८३ माघशुक्ला ५ गुरुवार भ० महेन्द्रभूषण…… … ।

३ सं० १८५२ वैसाखसुदी ५ अजमेर दुर्गे भ० भवनकीर्त्ति उपदेशात् सं० धर्मदास गंगवाल प्रतिष्ठा करापितं ……. ।

४ सं० १८६१ वै० शु० ५ सोमवार सवाई जै नगरे भ० सुखेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात् सं० रायचन्द्रेन करापितं इदं जिनबिम्बम् ।

५ सं० १७८३ वैशाख वदी ८ बुधवार श्रवण नक्षत्र…………………… .. ।

६ सं० १७६४ महा (माघ) शुक्ला १३ मारोठ नागरे महाराज श्री अभयसिंहजी प्रसादात् मेडता राज्ये श्रीबखतसिंहजी मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगछे (च्छे) मंगल्याधाम श्री भ० दत्तकीर्त्ति उपदेशात् श्री आनन्ददेव नाम महेन्द्रकीर्त्ति उपदेशात्………… ।

निगोतियों का मन्दिर—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण २ फुट ऊँची, लेख—सं० १६२१ फागुन सुदी १२ बुधवार श्रीकुन्द-कुन्दादि परमदिगम्बरगुरूपदेशात् जैपुर……………………. ।

२ सं० १८२४ माघसुदी ६ परतापगड़नगरे कुन्दकुन्दादिपरमदिगम्बरउपदेशात् जिन-बिम्बं प्रतिष्ठितम् ।

३ सं० १८८३ मा० शु० ५ मूलसंघे भ० जिनेन्द्रभूषण ग्वालियर का महेन्द्रभूषण पट्ट दिल्ली का टोंग्या अमीचन्देन प्रतिष्ठितं वाड़ीनगरे................... ।

नया मन्दिर—

१ श्यामवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० १८५७ माघसुदी १५ सुनानगरे प्रतिष्ठितम् ।

मन्दिर बूचरा पंचायती—

१ श्वेतवर्ण, पाषाण १ फुट ऊँची, लेख—सं० ११७ सावन बदी ६.. .... ।

२ सं० १८४६ वैशाखसुदी ५ भ० महेन्द्रकीर्त्ति.................. ।

३ सं० १५४८ वैशाखसुदी ३ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्र सं० जीवराज पापड़ीवाल प्रतिष्ठा करापितं ।

साहित्य-समीक्षा

महाबन्ध (महाधवल-सिद्धान्त-शास्त्र) प्रथम भाग, प्रकृतिबन्धाधिकार हिन्दी भाषानुवाद सहित—रचयिता : भगवान् भूतबलि; सम्पादक : पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या : ७६ + ३४८; मूल्य : बारह रुपये।

जिस ग्रन्थराज के दर्शन के लिये श्रद्धालु जनता लालायित थी, वही महाधवल सिद्धान्त-शास्त्र आज समाज के समक्ष मुद्रित रूप में विद्यमान है। श्री० पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर ने इसकी प्रतिलिपि प्राप्त करने के लिये बहुत अध्यवसाय किया है तथा विद्वत्ता पूर्वक इसका सम्पादन भी कर समाज के सम्मुख रखा है, इसके लिये वह अभिनन्दनीय हैं। इस प्रथम भाग में बन्ध का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्पादक ने विद्वतापूर्ण ७६ पृष्ठों में प्रस्तावना लिखी है जिससे ग्रन्थ का प्रायः समस्त विषय हृदयंगम हो जाता है। प्रस्तावना में कर्म स्वरूप, आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कर्मों के आस्रव के कारण योग, आस्रव के उत्तर क्षण में होनेवाले बन्ध, कर्मों का विभाजन, बन्ध के प्रकार, आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। महाबन्ध के विषय के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नाम से ही विषय का परिज्ञान हो जाता है।

प्रस्तुत सम्पादन के सम्बन्ध में दो चार शब्द लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका में अनेक त्रुटियाँ मालूम पड़ती हैं। पृ० १५०, १५३, १५५, ३२२ पर अनुवाद भी कुछ खटकता-सा है। जैन सन्देश में श्री नेमिचन्द्र वकील सहारनपुर ने अनेक बातों को दिखलाया है।

ग्रन्थ की छपाई-सफाई बहुत अच्छी है। इस महत्त्वपूर्ण साहित्य के प्रकाशन के उपलक्ष में ज्ञानपीठ की प्रशंसा भी करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। समस्त स्वाध्याय प्रेमियों को इसे मंगाकर स्वाध्याय कर पुण्य लाभ लेना चाहिये।

—ब्र० पं० चन्दाबाई विदुषीरत्न

दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ (जैन कथा कहानियाँ)—लेखक, डा० जगदीशचन्द्र जैन; प्रकाशक: ज्ञानपीठ काशी; मूल्य ३) रुपये।

इस संग्रह की कहानियाँ लौकिक, ऐतिहासिक और धार्मिक इन तीनों भागों में विभक्त हैं। जैन साहित्य की प्राचीन मनोरंजक सुन्दर ये कहानियाँ जनता के चरित्र निर्माण में सहायक होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक ने इनके संग्रह करने में अत्यधिक श्रम किया है। कहानियों की भाषा सुन्दर परिष्कृत है तथा आबाल-वृद्ध सभी के लिये ये समान रूप से उपकारी हैं। शिक्षित और अशिक्षित सभी के लिये इनका महत्त्व है। व्याख्यान दाताओं और कथा वाचकों को इनका उपयोग अवश्य करना चाहिये। इनके

उदाहरणों से केवल जनता का मनोरंजन ही नहीं होगा, बल्कि उसके चरित्र का भी विकास होगा। हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदाय वालों को इनका स्वाध्याय कर प्राचीन कथा साहित्य के तत्त्वों का परिज्ञान करना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

—हरिनन्दन त्रिपाठी व्याकरणाचार्य

हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त जैन इतिहास— लेखक: श्री बा० कामता-प्रसाद जैन डी० एल०, एम० आर० ए० एस०; प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ काशी: पृष्ठ संख्या: २६६; मूल्य: दो रुपये चौदह आने।

इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् बा० कामता प्रसाद जी के नाम से जैन समाज भलीभाँति परिचित है। प्रारम्भिक जीवन से आजतक आप इस विषय पर अन्वेषण करते चले आरहे हैं; प्रस्तुत पुस्तक में आपने हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला है। आपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में हिन्दी जैन साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का मूल जैन साहित्य को ही बताया है तथा हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास का कालविभाग करते हुए उसे प्रधानतः आदि काल (समय ११ वीं से १४ वीं शताब्दी), मध्यकाल (१५ वीं से १७ वीं सदी तक) और परिवर्तन काल (१८ वीं सदी से १६ वीं सदी तक) इन युगों में विभक्त किया है। आदिकाल में अपभ्रंश और देशी दोनों ही प्रकार की भाषाओं में रचना मिलती है। इसी काल के अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध महाकवि पुष्पदन्त एवं देशी भाषा के धर्मसूरि, विनयचन्द्र सूरि और अम्बदेव का विस्तृत जीवन चरित और रचनाओं के सम्बन्ध में बताया गया है।

मध्ययुग के जैन हिन्दी साहित्य निर्माताओं में कविवर बनारसीदास, राजमल्ल, विनयचन्द्र और विद्याभूषण आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का परिचय कराया गया है। यद्यपि पुस्तक में कुछ भूलें रह गई हैं; फिरभी लेखक ने अन्य साहित्यिकों के समक्ष एक आदर्श रखा है इसके लिये वह धन्यवाद के पात्र हैं। अगले संस्करणों में गलतियों का परिमार्जन कर देना अत्यावश्यक है।

आत्म समर्पण—लेखक: श्रीबालचन्द्र जैन विशारद; प्राप्यस्थान: साहित्य सदन भदैनी घाट काशी; पृष्ठ संख्या: १२६; मूल्य पौने दो रुपये।

इस पुस्तक में १५ जैन कहानियां हैं। यद्यपि इन कहानियों का कथानक पुराना है तथा प्रत्येक जैन उससे परिचित है, किन्तु लेखक ने उसे इतने नवीन ढंग से रखा है जिससे प्रत्येक पाठक को ये कहानियाँ अपनी ओर सहसा आकृष्ट कर लेती हैं। लेखक की भाषा परिमार्जित है, छपाई-सफाई सुन्दर है। प्रत्येक कहानी प्रेमी पाठक को इस नई शैली का रसास्वादन अवश्य करना चाहिये।

—नेमिचन्द्र जैन शास्त्री

आधुनिक जैन कवि—सम्पादिका : श्रीमती रमादेवी जैन; प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या २५६; मूल्य : तीन रुपये बारह आने।

समस्त जैन कवियों की रचनाएँ युगप्रवर्तक, युगानुगामी, प्रगतिप्रेरक, प्रगतिप्रवाह, ऊर्मियाँ, गतिहिलोर और सीकर इन सातवर्गों में विभक्त कर प्रत्येक कवि के आलोचनात्मक परिचय के साथ संकलित की गई हैं। इस संकलन में पं० नाथूराम प्रेमी, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, गुणभद्र आगास, पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, पं० दरबारीलाल सत्यभक्त, बा० अयोध्या प्रसाद गोयलीय, बा० कल्याणकुमार 'शशि', बा० हुकमचन्द बुखारिया, भगवत् स्वरूप 'भगवत' आदि ९२ कवियों की रचनाएँ संकलित की गई हैं। कतिपय रचनाएँ तो भाव, भाषा और रसपरिपाक की दृष्टि से उत्कृष्ट कही जा सकती हैं। सम्पादिकाजी के समीक्षात्मक कवि परिचय ने इस संग्रह के सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा दिया है। कविता प्रेमी प्रत्येक पाठक को इसे मँगाकर पढ़ना चाहिये। सम्पादन सुन्दरतम हुआ है, छपाई-सफाई श्रेष्ठ है।

मुक्तिदूत—लेखक : श्रीवीरेन्द्र कुमार जैन एम० ए०; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या : ३१६; मूल्य : चार रुपये बारह आने।

अंजना पवनंजय के पौराणिक प्रणय आख्यान को लेकर इस उपन्यास की रचना की गई है। लेखक ने आख्यान का आरम्भ मान सरोवर के तट से किया है, जहाँ पवनंजय के पिता अपने परिवार के साथ कैलाश की वन्दना कर वसन्तविहार के लिये ठहरे हुए हैं। इस उपन्यास के प्रधान पात्र अंजना और पवनंजय हैं तथा इन दोनों के सहयोगी वसन्त और प्रहस्त भी हैं। अंजना का चरित्र लेखक ने आदर्श पतिव्रता, धर्मपरायणा एवं जैन संस्कृति के वातावरण में निखरा हुआ उपस्थित किया है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों ने चरित्र को और भी उज्वल बना दिया है। लेखक महोदय को इस पौराणिक उपन्यास के निर्माण में सबसे अधिक सफलता है। आज हमारे देश को इस प्रकार के चारित्रिक उत्कर्ष दिखलाने वाले उपन्यासों की नितान्त आवश्यकता है, समाज का नवनिर्माण ऐसे ही साहित्य के द्वारा हो सकता है। उपन्यास की भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है; प्रसाद की भाषा का आनन्द इसमें मिलता है। ऐसे सुन्दर उपन्यास के प्रकाशन के लिये लेखक और प्रकाशक दोनों ही अभिनन्दनीय हैं। प्रत्येक सुरुचि सम्पन्न पाठक को इससे लाभ उठाना चाहिये। छपाई-सफाई, गेटप आदि अत्यन्त सुन्दर हैं। ज्ञानपीठ के व्यवस्थापकों की कार्यदक्षता प्रशंसनीय है।

—नेमिचन्द्र जैन बी० ए०

पथ-चिन्ह—रचयिता : हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पं० केशव प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित

"पूर्वाभास" से समलंकृत ; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृष्ठ संख्या १११ और मूल्य २) ।

हिन्दी साहित्य को महादेवी वर्मा लिखित "स्मृति की रेखाएँ" के बाद यह एक दूसरी कवित्वमयी और प्रामाणिक आत्म-कहानी प्राप्त हुई। पुस्तक का प्रथम परिच्छेद जो 'आहुति' नाम से अभिहित है लेखक की मातृस्वरूपा, बाल विधवा स्व० बहिन की करुण गाथा है। उस बहिन की कहानी भारतीय आदर्श नारी की कहानी है। उस ब्रह्मकन्या की अन्तरदृष्टि, शुचिता, परदुःख कातरता और उत्सर्ग आज अज्ञान से तमच्छादित बीहड़ पथ में आकाशदीप की तरह पथ प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है। तपस्विनी बहिन की तपस्या, सन्यासी पिता का त्याग और अध्यात्मबल लेखक को प्राप्त हुआ। इस प्रकार संसार के कर्दम से दूर एक नैसर्गिक वातावरण में लेखक का विकास हुआ जो उसकी कृतियों द्वारा निर्मल विचारों में परिलक्षित होता है।

आहुति के अतिरिक्त, 'अभिशापों की परिक्रमा' 'पर्य्यवेक्षण' और 'अन्तः संस्थापन' ये तीन अन्य अरिच्छेद हैं जिनके द्वारा लेखक के प्रौढ़ आत्म-विकास तथा गंभीर चिन्तन का पता मिलता है। जीवन और जगत की समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करते हुए आप कहते हैं कि राजनीति और अर्थतन्त्र के शुष्क धरातल पर श्रद्धा विहीन बौद्धिक विकास प्रत्येक मानव के हृदय में हाहाकार मचाए हुए है। सब की मुखाकृतियाँ स्वार्थ के आर्थिक ढाँचे में जघन्य हो गई हैं। आज चातक के होठों पर भी भोलापन नहीं है। जगत अहम् की चिन्ता से त्राहि त्राहि कर रहा है। वर्त्तमान आँग्ल शिक्षण संस्थाओं तथा विश्व विद्यालयों की कटु निन्दा करते हुए आप कहते हैं कि ये विश्वविद्यालय केवल जीविका के साधन तथा महत्ता के शुष्क और नग्न प्रदर्शन मात्र हैं। राजनैतिक पार्टियों के प्रति अविश्वास प्रकट करते हुए आप कहते हैं कि नेतृत्व के प्रलोभन में शुष्क हृदय से बनाई हुई सुधार की आज सारी योजनाएँ मानव के कल्याण में सफल होती नजर नहीं आतीं। अन्न वस्त्र की मुखापेक्षी साधारण जनता ढोर की तरह है जिसे कोई भी पार्टी आहार-विहार का प्रलोभन देकर अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है।

जगत जिस जड़ता को प्राप्त हो रहा है उसकी औषधि, लेखक के मतानुसार, भाव-प्रवणता है। आज भूख और प्यास के युग में वस्तुप्रवण भाव को पसन्द नहीं करेंगे। किन्तु भाव की उपेक्षा कर तृप्ति का शोध हास्यास्पद होगा। भावविहीन होकर ही तो क्षुधानल से आज हम प्रदग्ध हो रहे हैं। अपनी ही संकीर्णता अपने को सारहीन बना रही है।

संस्कृति, सुरुचि और कला के प्राणित्व के तीन तत्त्व हैं जिनके द्वारा ही मानव हृदय में स्पन्दन लाया जा सकता है। जब वस्तु में, व्यवस्था में, स्वभाव में, व्यवहार में, आहार

में, विहार में, सुरुचि उत्पन्न हो जायगी तब हमारी संस्कृति कला की अभिव्यक्ति से चिर सुन्दर जान पड़ेगी, तब हमारे मस्तिष्क और हृदय में पूर्ण संतुलन होगा और तब हम शिव को प्राप्त होंगे।

लेखक को अतिरिक्त की तरह अति अध्ययन पर भी विशेष श्रद्धा नहीं है। वास्तव में यदि हम साक्षर होकर खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, उठने-बैठने जैसे जीवन के साधारण व्यापार में अपना दायित्व समझने लगें तो हमारी एक साक्षरता पर आज की अनेक उपाधियाँ न्योछावर की जा सकती हैं। लेखक विनीत शब्दों में कहता है कि यदि मैं ज्ञान आश्रम में लव कुश ही बना रहूँ यह भी कुछ कम नहीं है।

श्री द्विवेदी की यह छोटी पुस्तक बहुत बड़ा महत्व रखती है। नैतिक ह्रास के इस युग में ऐसे निर्मल साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। पतनोन्मुख संसार को भावशास्त्री साहित्यस्रष्टा ही अपनी कलकोमल सर्जना से बचा सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा की प्रौढ़ व्यंजना शक्ति, कवित्वमयी शैली का गुम्फन और अभिव्यंजन की अकृत्रिमता ने पुस्तक के प्रत्येक अंश को रमणीय बना दिया है। तिस पर पं० केशव प्रसाद मिश्र के 'पूर्वाभास' में तथ्यपूर्ण विवेचना से पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। छपाई-सफाई सुन्दर है।

इस प्रकार के अमूल्य रत्नों के प्रकाशन द्वारा भारतीय ज्ञान पीठ, काशी मानव मात्र का जो कल्याण कर रहा है उसके लिए उसे जितना साधुवाद दिया जाय थोड़ा है।

—रामबालक प्रसाद साहित्य रत्न

इन पुस्तकों के अलावा अन्य कई पुस्तकों के साथ साहित्य सदन काशी से प्रकाशित वर्णीवाणी और राजुलकाव्य भी समालोचनार्थ प्राप्त हुए हैं। अन्य पुस्तकों के साथ उनकी समीक्षा अगली किरण में की जायगी।

—संपादक

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १४—वि० सं० २००४, वी० सं० २४७४

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. लिट्.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४८

वार्षिक विषय सूची—भाग १४

(किरण १)

(किरण २)

———:०:———

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIII. JANUARY, 1948 No. II

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Bau Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at :
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription
Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d, Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

Om

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol. XIII No. II — ARRAH (INDIA) — January. 1948.

A PAṬṬAVALI OF THE SENAGAṆA

By

Professor Dr. A. N. Upadhye.

A copy of the Paṭṭāvali, which is being published here, I got some seventeen years back from Pt. Bahubali Sharma, Sangli; and all these years I tried to get another Ms. of it with the help of which a more authentic text could be presented. In the meanwhile I gave extracts etc. from it to some scholars now and then. As yet I have not come across any other Ms.: perhaps the publication of this tentative text itself may attract the attention of some scholars and some Mss. may be brought to light by them. I have made here and there only minor corrections which do not affect the contents. The text is obscure in many places, and linguistic and metrical defects are quite obvious. A better text can be constituted only after some more Mss. come to light. There are important traditions embedded in this Paṭṭāvali which deserve our attention, and we must see whether any of these get confirmed by other independent sources. Thus in this paper I am presenting not only the tentative text and Name Index but also a few observations on some important items of information mentioned in this Paṭṭāvali.

The first nine verses give the account of Teachers beginning with Tīrthakaras and ending with Ācārāṅgadhārins. The tenth verse tells us that this is a Paṭṭāvali of the Mūlasaṁgha, Sena-gaṇa, Puṣkara-gaccha. Jinasena, who is said to have succeeded Vṛddha Kumārasena, is credited with the compilation of three crores of texts; and he is called a Poet-creator who expounded Dhavala, Mahādhavala, Jayadhavala and Vijayadhavala.[1] Dharasena and Vīrasena came after him; they studied Siddhānta under Elācārya; Vīrasena is associated with a place Vāṭa; and these two, with Jayasena (?), further elaborated Jayadhavala (12-15)

Siddhasena Divākara is said to have enlightened Vikramāditya at Ujjayanī, perhaps by producing an image of Pārśva from a Liṅga which was broken (16). Samantabhadra succeeded Siddhasena, and produced an image of Candraprabha out of the Bhīmaliṅga at Drākṣābhirāma in the Telugu country (17).

Vīrasena propitiated the Siddhacakra in the Hemnāgumphā on the Raivata; and his successor Jinasena composed the Purāṇa (*vimala-pada-yutam*); he had a guru-bandhu in Daśaratha and his pupil was Guṇabhadra (21-22).

Later another Vīrasena is mentioned as the author of the Padma-caritra (26). Devasena, the successor of Vimalasena, composed five Sāras (27).[2] Mahāsena, the teacher of the King of Sindhu, composed the Pradyumnakāvya (29).[3] One Brahmasena is associated with Ālanda (32). Malliṣeṇa composed various Mantragranthas such as Padmāvatīkalpa etc. (35). Kamalabhadra prescribed Vows or Vratas to Āśādhara (38). Kumārasena (?) pacified the pain of arrows of king Allādikhan; possibly he rescued some people from the jail and is associated with Allāvaddin (39). Śrīdhara held a dispute with Buddhists for months together at Śrīkañcī (40). It appears that Somasena held a dispute with Śivasvāmi of Stambhatīrtha, and Mahamūda Pātasāha was his pupil (41). Śrutavīra went from

1. Compare this with what we definitely know from the Dhavlā etc Intro. Satkhaṇḍāgama, pp. 35 f. Amaraoti 1939.

2. We know his Ārādhanā-sāra, Tattvasāra and Darśanasāra.

3. Compare the colophon of the Pradyumnacarita: श्रीसिन्धुराजसत्कमहामहत्तम-श्रीपर्पटगुरोः महासेनाचार्यकृते प्रद्युम्नचरिते etc. Bombay 1916.

Aṅkuleśvara to Bharvasya and got the Jajiyā tax removed. The last monk of the line, mentioned in this Paṭṭāvali, is LakshmIsena.

The text being corrupt, I cannot be sure of the meaning of some passages. The Paṭṭāvali, however, notes a few events from traditional memory, and they should be accepted as such and verified with the aid of other sources[1].

[पट्टावलिः]

श्रीमन्मारजितो जयन्ति विभवस्तीर्थंकराः स्वामिनो
वीरान्ता वृषभादिकाः परिलसत्प्राणिघृणातत्पराः ।
येषां संस्मरणादिसेवनतया पापं विनाशं व्रजेत्
पुण्यं चोल्लसतीह बन्धनशतान्मुक्तिं ध्रुवं जायते ॥१॥
श्रीमन्तो विभवार्णवाः समभवन् शिष्या गणेशोत्तमा-
स्तेषां द्वशरोदधीन्दुसुमितास्तेभ्योऽभवन् सत्तमाः ।
रम्याः केवलिनोऽथ गौतमविभुः सम्यक्सुधर्माह्वयको
जम्बूस्वाम्यथ कर्मनिर्जरतया तेषां भवो दूरगः ॥२॥
श्रुतकेवलिनः पञ्च श्रीविष्णुर्नन्दिमित्रकः ।
संज्ञोऽपराजितश्चेति धर्मो गोवर्धनो भवेत् ॥३॥
भद्रबाहुरिति ख्यातो व्रती तपसि सुस्थितः ।
क्षमायां सुधिया रम्यो महाव्रतपरायणः ॥४॥
विशाखप्रोष्ठिलौ प्रोक्तौ नक्षत्रजयसाह्वयः ।
नागसेनश्च सिद्धार्थो जयसेनसमाह्वयः ॥५॥
विजयो बुद्धिलो गङ्गस्तीव्रव्रतपरायणः ।
तपांसि द्वादश प्रज्ञो यश्चक्रे सत्यभावनः ॥६॥
श्रीगङ्गदेवः खलु धर्मसेना एकादशेमे दशपूर्वधारी ।
नक्षत्रसंज्ञो जयपालसंज्ञः पाण्डुः सुधर्मो धृतसेनकंसौ ॥७॥
एकादशाङ्गश्रुतधारिणोऽमी शान्त्यन्विता ज्ञानविशेषरम्याः ।
बभूवुराचारविशेषविज्ञा जीवादितत्त्वार्थविनिश्चितार्था ॥८॥

---

1. Last year I had submitted this paper to Shri Ātmārāma Commemoration Volume. But the Press copy of the Volume, we learn with sorrow, was burnt along with the stocks of Motilal Banarasidas, Lahore, during the ommual disturbances at Lahore soon after the 15th of August, 1947.

सुभद्रश्च यशोभद्रो यशोबाहुश्च लोहकः ।
एते जयन्ति चत्वारो ह्याचाराङ्गस्य धारिणः ॥९॥
तेषां वंशे मूलसंघे गणेऽस्मिन् सेने रम्ये पुष्कराख्ये च गच्छे ।
श्रीमन्तोऽमी संघभूर्बुद्धिजेन्द्रा वक्ष्ये तेषामावलिं पट्टभाजाम् ॥१०॥

श्रीमन्तो वृषभादिसेनमुनिपा विज्ञानधूताघकाः
शान्ता दानविचक्षणा जिनमते राद्धान्तसंवेदिनः
आसंवेदनलालसामलमनो भाजन्नराणां सदा
पावित्र्यं कुरुते यदङ्घ्रिकमलं पुण्यं महान्तो बुधाः ॥११॥

तत्पट्टेऽभवदालसाम्बुजलसत्स्वान्तःकृपाभाजनं
श्रीवृद्धादिकुमारसेनमुनिपोऽभूत्संविदा संयुतः ।
तत्पट्टे जिनसेनशुद्धमुनिपः सिद्धान्तगैः प्रादरात्
यः कोटित्रयशास्त्रसंचयकरः सिद्धान्तरत्नाकरः ॥१२॥
धवलो हि महाधवलो जयधवलो विजयधवलश्च ।
ग्रन्थाः श्रीमद्भिरमी प्रोक्ताः कविधानरत्नसमान् ॥१३॥

तत्पट्टे धरसेनकः समभवत्सिद्धान्तगः संशुभः
तत्पट्टे खलु वीरसेनमुनिपो यैश्चित्रकूटे पुरे ।
एलाचार्यसमीपगं द्रुततरं सिद्धान्तमभ्यस्य ये
वाटे चैत्यवरे द्विसप्ततितमं सिद्धाचलं चक्रिरे ॥१४॥
विंशतिसहस्रसुमितं जयधवलं चक्रिरे येऽपि ।
तत्पट्टे चत्वारिंशत्सहस्रसंख्यं च जयसेनो ॥१५॥
श्रीसिद्धसेनादिदिवाकराख्यास्तत्पट्टगा वज्रयनीं विबोध्य
श्रीविक्रमादित्यमथुत्रलिङ्गं विकीर्य पार्श्वस्य विकासका ध्रुवम् ॥१६॥
समन्तभद्राः खलु तत्र पट्टे स्थिताखिलिङ्गे विषये सुतीर्थे ।
द्राक्षाभिरामे खलु भीमलिङ्गं विकीर्य चन्द्रप्रभविकासकाराः ॥१७॥
तत्पट्टे शिवकोटिकः समभवत् श्रीगौरसेनस्ततः
श्रीसेनाधपदश्च लक्षणयुतश्चारित्रसेनस्ततः ।
श्रीभट्टारकपद्मसेनमुनिपः श्रीनन्दिषेणस्तथा
सेनोद्दीपपदादिकः खलु ततः श्रीधर्मसेनः क्रमात् ॥१८॥
सिंहसेनः ससिंहाख्योऽभयसेनश्च भीमकः ।
शान्तिसेनोऽमितः सेनः कीर्तिसेनस्ततः क्रमात् ॥१९॥

आचार्यवर्या नामीवैस्थैर्यादिगुणसंयुतः ।
अनन्तवीर्यो भगवान् भव्यानां भवतारकः ॥२०॥
तत्पट्टे वीरसेनो यमनियमसहितो रैवतेपर्वते यो
हेमनागुंकस्य मध्ये युतिमतिसहितः सिद्धभूपादिवन्द्यः ।
आसीदुद्धारयुक्तं विमलपदयुतं चक्रिरे तत्र पट्टे
श्रीमज्जैनदिसेनो विमलतरसह पौराणकं चक्रिवान् ॥२१॥
श्रीमद्दशरथाख्याश्च तेषां वै गुरुबान्धवः ।
तच्छिष्या गुणभद्राख्यास्तत्पट्टे लोहसेनकाः ॥२२॥
श्रीनेमिसेनाः खलु तत्र पट्टे श्रीरामसेनाः खलु तार्किकाद्याः ।
श्रीवज्रसेनश्च वसन्तसेनो विनीतसेनो विनयेषु धीमान् ॥२३॥
श्रीमत्सागरसेनस्तु विजयश्च मुनीश्वरः ।
तपस्सु द्वादशाङ्गेषु रतो जिनपरायणः ॥२४॥
विचित्रसेनः खलु पूर्णभद्रः श्रीकांचनाद्रिः खलु भद्रकाश्च ।
श्रीविष्णुसेनः खलु माणिकाख्यः श्रीलक्ष्मणाख्यः खलु सेनकाश्च ॥२५॥
तत्पट्टे वरवीरसेनमुनिपो भूयो वरज्ञानकः
श्रीपद्मादिचरित्रकारिण इमे एकान्तराद्यं तपः ।
उग्रं येन कृतं तथा गुणगणो यस्मिन्पदे रम्यके
चक्रे ज्ञानविधूतकल्मषचयो मारजयः संविदः ॥२६॥
श्रीमद्विमलसेनस्तु देवसेनस्ततः परः ।
सारं पञ्चविधं येन चक्रे ज्ञानवरेण हि ॥२७॥
त्रैविद्यभावसेनार्या वैय्याकरणशङ्करः ।
श्रीमन्तो जयसेनाश्च अशनादितपोगुणाः ॥२८॥
तत्पट्टे गुणसेनकः खलु महासेनस्ततो भाविकः
श्रीसिन्धुस्थमहिभृतश्च गुरुकः प्रद्युम्नकाव्यं जगौ ।
आचार्यो नरसेननाममुनिपो योऽनन्तवीर्यो गुणी
राज्ये राजति राजभद्रमुनिराट् श्रीवीरभद्रस्ततः ॥२९॥
श्रीरामभद्रो मुनिनामसेनो महेन्द्रसेनो मुनिभद्रनामा ।
श्रीजैनमार्गाब्धिविवर्धनाय राकापतित्वं समुपागतास्ते ॥३०॥
श्रीसूरीश्वरबंधुषेणविबुधो विद्वज्जनानन्दनो
वादीमानविमर्दनो विजयते श्रीविश्वसेनो यतिः ।

श्रीकुमारादिपद्मादिमाः खलु ततः सेनास्ततश्चार्यका
सेना म······················स्तत्क्रमाद्धाविनाम् ॥३१॥
ब्रह्मसेनस्ततः पट्टे बभूव गुणिनां गुणी ।
चलंद्रनगरे येन ब्रह्माह्वानेन संयुजा ॥३२॥
शान्तिनाथप्रसादेन चक्रे सिद्धान्तवेदिनाम् ।
कृपापरेण विदुषां ज्ञानधूर्ता हि सा किल ॥३३॥
श्रीमल्लिषेणा मुनयो बभूवुर्गुणैयु तास्चैव तपोनिषक्ताः ।
नानाविधध्वान्तनिवारणैकविज्ञानदक्षाः खलु धर्मरक्ताः ॥३४॥
पद्मावतीकल्पमुखास्तु मन्त्रग्रन्थाः कृता येन सुधीवरेण ।
पञ्चाधिका विंशतिरत्र जाता शास्त्रस्य मंत्रार्थविनिश्चयाय ॥३५॥
तत्पट्टे वरवाडदेवभुवने त्रैविद्यपुष्पादिकः
सेनावादि विवादमस्तककुदः श्रीहेमसेनस्ततः ।
तत्पट्टे ह्यभयादिसेनमुनिपो लक्ष्म्यादिभद्रस्ततः
श्रीमज्जैनमते विचक्षणतरा धीमद्धरस्वामिनः ॥३६॥
श्रीपार्श्वसेना विजयादिसेनाः श्रीराजसेना अजितादिसेनाः ।
त्रैविद्यचक्रेश्वरपूर्णवर्णा नरेन्द्रसेना नयसेनसंज्ञाः ॥३७॥
श्रीसूरसेनाः कमलादिभद्रा आशाधरस्य व्रतदायिनोऽमी ।
देवेन्द्रसेनाः सुकुमारसेना अभोजनादिप्रतपःप्रकारिणः ॥३८॥
उद्दण्डादिविहारपञ्चकशुभप्रावेशसंभाषणा—
दल्लादेः खलु खानसंज्ञनृपतेर्बाणावयथाहारिणः ।
कारासंज्ञनिवासिनां च कृपया बंधं समाविच्छिदु—
र्गङ्गामध्यविराजिपट्टसवनं तल्लावदीनं जगुः ॥३९॥
तत्पट्टे खलु दुर्लभादिकपदः सेनस्ततः श्रीधरः
सेनाकुञ्जरनाथनाथसदसि प्रख्यातशास्त्रेशितुः ।
जेता यो यमदण्डसंज्ञविबुधैर्वक्तुं ततः श्रीधरः
श्रीकान्तीनगरे तु दर्शनसमान् मासान् तु बौद्धैः सह ॥४०॥
ह्यविशंकटभञ्जनाः खलु ततः श्रीषेणसंज्ञाः क्रमात्
लक्ष्मीसेनबुधा यमादिसहितास्त्रैविद्यसोमादिमाः ।
सेनाः स्तम्भकतीर्थपूर्वकशिवस्वाम्याख्यवादीरिणो
मान्यो महमुदपातसाहनृपतेः शिष्यास्ततः संबुधाः ॥४१॥

श्रीमत् श्रीश्रुतवीरसंज्ञविबुधा वादीभपञ्चानना
अङ्कलेश्वरसंज्ञरम्यनगराद् भवस्यसंज्ञं पुरम् ।
गत्वा महमुदपातसाहनृपतेः श्रीमत्समस्यां गुरु—
प्रापुर्यं प्रतिदेशकेषु सततं जेजीयकं मुक्तवान् ॥४२॥
श्रीधरसेनाः किल देवसेनाः श्रीदेवभद्राः खलु तत्र पट्टे ।
अथो बभूवुः सहगर्ववादीगजेन्द्रकुम्भस्थलदानसिक्ताः ॥४३॥
सिंहासनस्थाखिलपूरिवृन्दसुसार्वभौमाः किल सोमसेनकाः ।
त्रैविद्यपूर्वाः सकलार्हतश्रुतप्रजानरेन्द्रैः किल वन्दितांघ्रयः ॥४४॥
श्रीमत्सूरिगणैकपालनिपुणो भव्याम्बुजाह्लादकृत्
मिथ्यावादिमहेन्द्रभेदनपविः सच्छास्त्रचंचूरकाम् ।
सार्वान्त्रैकसुसोमसेनयतिराट्पट्टोदयाद्रौ रविः
ख्यातः श्रीगुणभद्रसूरिगुरुराट् नन्द्याच्चिरं भूतले ॥४५॥
तेषां पट्टे गणी जातो श्रुतवीरो गुणाकरः ।
विद्वज्जनसरोजानां मुदे रविरिवानिशम् ॥४६॥
तत्पट्टे गुणसेनसूरिविदितो विद्वान् सभापंडितः
पश्चाच्छ्रीगुणभद्रदेवमुनिपो भव्याम्बुजाह्लादकः ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रजलधिः श्रीलक्ष्मिसेनस्ततः
जीयादिन्दुसमानकीर्तिरमलः भट्टारकाधीश्वर. ॥४७॥

॥ इति पट्टावलिः ॥

INDEX OF PROPER NAMES.

NEW JAIN IMAGES IN THE MATHURA MUSEUM.

By

Syt. K D. Bajpai, M. A., Curator,

Mathura Museum.

Recently some more Jaina images, bas-reliefs and architectural pieces have been acquired from the Mathura district and added to the rich and varied collection of the local Museum. The following among them are more important and deserve mention—

1. *Statue of Mahāvīra* (Reg. No. 3150)—The Lord is seated in Dhyāna mudrā on a throne supported by two lions which are carved in high relief. Over his head is a triple umbrella On either side are standing *devas* and *chauri*-bearers. The image belongs to the Medieval period.

2. *Base of Pārśvanāth Image* (No. 3176; 1′-8″ X 11″ X 10″) Only the pedestal adorned with lions remains. There is an inscription on the lower rim which reads as follows : -

l. 1 श्री पारसनाथः ।। लाचिकम्र

l. 2 यः ।

The script is of 11th cent A. D.

3. *Slab* (No. 3178; ht 8′) bearing eight Tirthankaras in two rows, each containing four. Post Gupta period

4. *Base of an image of Vardhamāna* (No. 3208; 1′-10″X1′-2″X1½″)—There is a beautifully carved big wheel in the centre placed on a pilaster On the right of the *chakra* are standing two male devotees with garlands while on its left side are standing three females with folded hands. On the upper rim of the base there is an inscription of two lines in the characters of the Kushāṇa period. It reads as follows :—

l. 1 सं ८२ हे मासे १ दिवसे १० एत ....

l. 2 [भगि] निये जयदेवीये भगवतो वर्धमा [न] ....

Unfortunately the inscription is incomplete as a portion of it has been effaced. It is dated in the Śaka year 82, which means that the image was installed in 160 A D. The donor was a lady named Jayadevī. It is significant to note that the religious activities of

women at Mathurā superseded those of male devotes. From the large number of Jaina inscriptions discovered at Mathura we get a long list of ladies who made munificent donations for the Jaina Establishment.

5. *Pratimāsarvatobhadrikā* (No. 3209; ht. 3′-6″)—On each of the four sides is standing a Tīrthankara figure. Of the four, Ādinātha and Pārśvanātha can easily be recognised by the locks of hair and serpent hoods respectively. The heads of other two images are badly damaged. The sculpture is remarkable both for its artistic beauty and its large size which (size) is rarely found in the Sarvatobhadrikā images of Mathurā. The present image belongs to the Kushāṇa period.

6. *Colossal Jaina head* (No. 3212)—The hair have been artistically arranged in short spiral curls. Kushāṇa period.

7. *Fragmentary Tīrthaṅkara image* (No. 3219; 1′-3″ X 1′)—Only the right leg of the image remains On the pedestal, which is supported by two lions, are carved two male devotees each holding a piece of cloth in the left hand. Kushāṇa period.

8. *Railing pillar* (No. 3233; ht. 2′-2″)—The pillar is beautifully carved with full-blown lotuses on two adjacent sides. The remaining two sides contain mortices for the reception of cross-bars. This shows that the pillar stood in one of the corners of the railing It was discovered by me in the last winter from Kankali Ṭīlā, the greates stronghold of Jainism at Mathura. The place where it was found clearly marks the adjoining point of two brick walls, near which the pillar might have originally stood. The pillar is octagonal in shape and belongs to the Śuṅga period (2nd, 1st cent. B C.). The site requires thorough excavation, which may yield important results.

9. *Fragmentary Railing pillar* (No. 3234; ht. 1′-9″)—This was found along with the pillar No. 3233. It is decorated with lotuses on the front and back sides The remaining two sides contain mortices for cross bars. Śuṅga period.

10. *Cross-Bar* (No. 3241; 7½″ X 5″) showing on the obverse a standing rhino to left and on the reverse a lotus. Śuṅga period.

THE DATE OF ŚRĪDHARĀCĀRYA.

By
Syt. S. Śrīkaṇṭha Śāstrī M. A.

In the Bhāskara[1] (Bhāga XIV. Kiraṇa I) Paṇḍit Nemicandra Jain Śāstrī has attempted to prove that Śrīdharācārya, the author of Jātaka Tilaka in Kannaḍa has also written Līlāvatī and in Sanskṛt Jyotirjñāna Vidhi or Śrīkkaraṇa besides Gaṇita Sāra or Triṃśatikā (edited by Sudhakar Dvivedi), and that Śrīdharācārya is earlier than Mahāvīrācārya, the guru of Amoghavarṣa Nṛpatunga. It is said that in the Jyotirjñāna Vidhi Ś. 720 1 is taken as the Karaṇa year and hence Śrīdharācārya must be assigned to 799 A. D.; a little before Mahāvīra and Nṛpatunga. It is further asserted this Śrīdharācārya is identical with the one mentioned in the *guru paramparā* given in Vardhamānas Daśabhaktyādi Mahāśāstra and later Śrīdhara called a paṇḍita by Vardhamāna is the author of Jaya Kumāra Carita the date given in the History of Kannaḍa Literature[2] is dismissed as merely conjectural and based on language only.

I have shown from the evidence of the manuscripts catalogued in Madras that the date of Śrīdharācārya's Jātaka Tilaka as given by Mr. Narasimhācārya is approximately correct[3]. I have given the full verse mentioning the date which is as follows:

Dharaṇi giri nidhi (971) *Śakābdam Virodhi vatsarada Mārgaśirada Śuklētara caturthi divasada guru Puṣya doleseduḍu iḷege Jātakatilakam.*

"The Jātaka Tilaka was manifested in the world in the Śaka year counted by the earth (1), mountains (7), and treasures (9), Virodhi, Mārgaśira, Śuklētara, (Bahuḷa), caturthi, Thursday, Puṣya (Nakṣatra). The next verse says that the earth was being ruled by Āhavamalla The date given corresponds to 16th November, 1049 A.D. (Thursday) falling in the reign of Sonēśvara I (Āhavamalla). Thus there is absolutely no room to doubt the date of the Jātaka Tilaka and this Śrīdharācārya. In the introductory verses Śrīdhara implies

1. *Jaina Antiquary* XIII. 1.
2. *Karṇāṭaka Kavi Carite* I. p. 75.
3. *Sources of Ka ka History.* I. p. 173.

that he was a *Srīkaraṇa* (chief secretary as well as an astronomer) and was famous as "Karaṇarata". This may imply that he was well versed in karaṇa and possibly wrote a work *Śrīkaraṇa*. Sometimes he calls himself simply Śrīdhara and also Śrīdharācarya.* He does not seem to have been a monk as he does not mention any guru parampara in the Jātaka Tilaka; further he clearly says that he held some office in the army of the emperor (*mahibhṛt sena*) and was famous for his skill in painting, mathematics, and poetry (*Vāk-Śrīdharam Śrīdharam*). In the Jātaka Tilaka he does not mention any Saṃskṛt work of his but only Candra prabha Carita in Kannaḍa.

It is impossible to place the Jātaka Tilaka in the 9th century A.D. as in that work Śrīdhara mentions previous Kannaḍa authors-Pampa (940 A.D.), Candra Bhaṭṭa of Brāhmaṇa family or of Iḷā Dēvānvaya (Pūjyapāda or Dēva Sangha), Manasija, Śilabhadra, Gajāṅkuśa, Ranna-all before 1020, A.D. Śrīdharācārya had the titles *Vacōlakṣmīdhara, Gadya padya Vidyādhara*

If the same Śrīdhara wrote also Līlāvati in Kannaḍa asasserted, clearly the name must have been taken from Bhāskarācārya's Līlāvati (1150 A.D.). It was first translated into Kannaḍa by Rājāditya (1191 A.D.)

Since this Śrīdhrācārya does not appear to have been a monk he cannot be identified with the persons mentioned in the Daśabhaktyādi Mahāśāstra. The Nandi Saṃgha Balātkāra gaṇa parampara in this work tallies with the earlier inscription of Hoysaḷa Narasimha (III) at Kelagere upto Māghaṇandi except for a few new names in the inscription[1]. Paṇḍit Nemicandra Jaina Śāstrī has omitted a few names in his article but the full list given in *Praśasti Saṃgraha* (p. 133,[2] by Paṇḍit Bhujabali Śāstrī may be compared with the inscription which gives the same list as in Māghanandi's Sāstra sāra Samuccaya and Padārtha Sāra, Siddhānta sāra, Srāvakācāra ṭikas.

Dasabhaktyādi		*Kelagere Inscription*
Vardhmāna Bhaṭṭāraka (Worshipped by Hoysaḷa)	...	Vardhamāna

1. *Jaina Antiquary*, IX no. 11. p. 70. *M.A.R.* 1940, no. 37.
2. „ „ IV. no. 4. p. 133 (Bhāskara)

Padmanandi	...	(Padmanandi mentioned in Māgha nandi works.)
Śrīdharācarya	...	Śrīdharācarya, [Devanandi Traividya, Vāsupujya Siddhanti, Śubhacandra, Abhayanandi Arhanandi]
Deva candra	...	Deva candra
Kanaka candra	...	Kanka candra Aṣṭopavāsi
Nayakīrti	...	Nayakīrti (Cāndrā gaṇa).
Ravicandra	...	Ravicandra māsopavāsi Hariyanandi Siddhānti.
Śrutakīrti	...	Śrutakīrti Traividya.
Vīra nandi	...	Vira nandi
Jina candra	...	Gaṇḍa Vimukta Nemicandra
Bhattāraka Vardhamēna	...	Māna Munīndra.
Śrīdhara	...	Śrīdharā cārya
Vāsupūjya	...	Vāsupūjya Traivīdya.
Udayacandra	...	Udayacandra
Kumuda candra	...	Kumuda candra.
Māghanandi	...	Māghanandi (at Dāra Sāmudra, con. of Narasimha III 1270 A.D.)
Vardhamāna		
Māṇikvanandi		
Guṇakīrti		
Guṇa candra		
Abhayanandi		
Sakala candra		
Gaṇḍa vimukta		
Tribhuvāna candra		
Candrakīrti		
Śrutakīrti		
Vardhamāna		
Vāsupūjya Traividya		
Kumuda candra		
Bhuvana candra		

The date of Vardhamāna's work is given as Ś. 146 (? Khara) 4, Plava, Simha Śrāmāṇa, Kṛṣṇa (pakṣa) Aṣṭami, Rohiṇī nakśatra, Prabhākara Śiva (Sunday ?)[1], most probably corresponding to 14th August. 1541 A.D. Sunday, Kṛṣṇjanmāṣṭami. The date of the Kelagere inscription is uncertain but falls in the reign of Hoysaḷa Narasimha III (1278-1290 A.D.). Māghanandi of Balātkāra gaṇa wrote

1. *Praśasti Samgraha. Jaina Antiquary.* IV. 4. p. 122.

Karṇāṭaka Ṭīkas on Śāstra sāra samuccaya, Padārtha Sāra Siddhānta Sāra Śravakācāra and his parampara is given as follows[1] :—

Vardhamāna
|
Padmanandi
(Sadharma Śrīdharācārya)
|
Vāsupūjys
|
Śubhacandra
|
Abhayanandi
|
Arhanandi
|
Deva candra
|
Kanka candra Aṣṭōpavāsi
|
Nayakīrti
|
Ravicandra māsōpavāsi
|
Śrutakirti
|
Vīraṇandi
|
Gaṇḍa vimukta Nemi candra
|
Guṇa candra
|
Jina candra Pakṣopavāsi
|
Vardhamāna
|
Śrīdhara
|
Vāsupūjya
|
Udaya candra
|
Kumuda candra
|
Māghaṇandi (of the Ṭīkas).

1. *Karṇāṭaka Kavi caiete.* Vol, I. p. 388.

A comparison of the three lists shows that the parampara is substantially correct though one or two names have been added, displaced or omitted. Mr. Narasimhācārya placed Māghaṇandi in about 1253 A. D. Narasimha ruled from about 1253 to 1291 and therefore the Kelagere inscription and Māghaṇandi may be ascribed to about 1270 A.D. Since Vardhamāna's disciple Padmanandi was the sadharma of the first Śrīdharācārya and as Vardhamāna was worshipped by Hoysaḷa (according to Daśabhaktyādi Mahāśāstra), Śrīdharācārya the author of Jyotirjñāna vidhi (if he is identical with the above) cannot be earlier than the Hoysaḷas who rose to power only from about 1000 A. D under the Cālukyas. The Kannaḍa author of Jātaka Tilaka was as pointed out above the contemporary of Someśvara I under whom Vinayāditya II and his son were subordinates in Hoysaḷa territory. But there is no proof that the monk of Balātkāra gaṇa is the same as the Kannaḍa author.

Śrīdhara was also the name of the astronomer who wrote Laghu Khecara Siddhi in 1227 A. D.

Regarding the Karaṇa year Ś. 720-721 given in Jyōtirjñāna vidhi it is unsafe to determine the date by this alone. Lalla took Ś. 420 as his Karaṇa year (498 A D.) but Dikṣit says that he was born in Ś. 560 (638 A.D.). Śrīdhara probably took the Karaṇa year from some previous Jaina author of the ninth century. Also there is no proof that Mahāvirācārya borrowed from Śrīdhara. It might have been the reverse or that both took this general mathematical rule from older works.

Śrīdharācārya's Jyotirjñāna vidhi was composed in the latitude 16°, 38′ i.e. some where midway between Belgaum and Hyderabad (and not in the Madras Presidency) probably near Kalyāṇi, the capital of the Cālukya empire[1]. Śrīdhara of Kannaḍa Jātaka Tilaka lived in the empire of Somesvara I of Kalyāṇi at Narigunda. In the Jātaka Tilaka Śridharācārya says that he follows Āryabhaṭa. The first Āryabhaṭa lived from 476 A. D. to perhaps the middle of the

1. If Narigunda the native place of Śrīdharācārya is the modern Navalgunda in the Ron taluk of Dharwar district its latitude is 15° 40′ (approximately) but the latitude given a Jotirjñāna vidhi is 16° 38′ near Bāgevāḍi and Kalyāṇi the Capital of Cālukyas is in the 18° latitude therefore also the two Śrīdharas belonged to two distinct localities.

sixth century. Another Aryabhaṭa (different from the above) is mentioned by Brama Gupta (628 A.D.). The third Āryabhaṭa of Mahāsiddhānta is far later than Brahmagupta The Jātaka Tilaka was composed in 1049 A.D. when at the same time more or less Śrīpati wrote Śiddhānta Śekhara in Ś. 962 (1040 A.D.) and Bhoja Raja wrote Rājamṛgāṁka in Ś. 964 (1042 A D.). Śrīdhara of Jātaka Tilaka was a native of Narigunda in Beḷuvola nāḍu, and belonged to a Jaina Brāhmaṇa family His work follows the plan of the Bṛhajjātaka of Varāhamihira and he claims that his is the first Kannaḍa work of the type.

Thus it is impossible to take back the date of Śrīdharācārya of the Jātaka Tilaka to the 9th century. Further there is no proof that he wrote Lilāvati in Kannaḍa (even earlier than Bhāskarācārya's Līlāvati 1150 A D., and Rājāditya's Kannaḍa Līlāvati). The identity of the author of Gaṇita sāra or Triṁśatika with the author of Jyotirjñāna Vidhi (or Śrīkaraṇa) is to be yet proved Since the Kannaḍa poet Śrīdharācārya refers only to one more work of his Candraprabha Carita and not to any further astronomical work like Jyōtirjñāna vidhi the two are different. The Kannaḍa author does not refer to any guru and therefore was not the monk of Balātkāra gaṇa. Both authors (of Jātaka Tilaka and Jyotirjñāna vidhi) were natives of Karṇāṭaka but not identical. If the Karaṇa year can be relied upon, the Samskṛt author must be assigned to the 9th century (but the work is of very late appearance) and the Kannaḍa author to the 11th century.

The auther of Ganitsar Sangrah is also the writer of Jyotirjyan Vidhi or Shrikarna because the dealings of the subject in both the works are of the same style Therefore it is possible that Shridharacarya, the author of Jatakatilak might be some-one different. Param Dinman Shridhar as given in Jyotirjvanvidhi is possible to belong to the south only. So the Jainacharyas, the authors of Ganitsar belonged to the South-India and it is proper to put their date as the last span of the 8th. century A. D.

N. C. Shastri

HEROES OF THE JAIN LEGENDS.

By

Dr. Harisatya Bhattacharya, M A , B.L., Ph. D.

The same supreme veneration for a perfect human being which characterises the Jaina religion is also manifest in it a account of the Nārāyaña and the Prati-nārāyaña. The orthodox literature of the Brāhmañic school discribe the Nārāyaña as the Supreme Being. The Brahmavaivarta-Purāña says: — 'The wise know that by the term. *Nāra* is understood salvation, in which the emancipated Being becomes of the similar form with the Supreme Lord. That God is Nārāyaña, who is the way to it. Again, *Nāra* may mean a sinner and *Ayaña*, his way. The God Nārāyaña is so called because He is the Way (to salvation) for the sinner *Nāra* may also mean the blessed Deliverence and Ayaña, knowledge. He is the Nārāyaña from Whom come the two." The Vishñu Purāña again holds: "By Nāra is means *Ap* (water); it may also mean Sons of Man. Nārāyaña is so called, because he dwelt in them" It is urged that "*Nara* is the twenty-fifth principle over and above the Prakriti. *Nāra* are the objects which belong to Nara. Nārāyaña is so called because He is the abode of all these." It is thus abundantly clear that Nārāyaña, according to the Vēdic literature is the super-sensuous Supreme God or Principle, governing the phenomena of the world.

According to the Jainas, however, Nārāyaña is a mighty human king who rules over three parts of the earth He dies while ruling over his kingdom i.e. without being initiated into the order of the monks Consequently, he is not finally emancipated on his death. He is re-born into this world and is to attain salvation ultimately. Nine such Nārāyañas are mentioned in the Jaina Purāñas, of whom the accounts of Lakshmaña and Krishña will be of interest to students of comparative religion, because they are glorified in the Vēdic Purāñas also.

Nārāyaña according to Jainism, is thus a human being and according to the Brāhmañic school, the Supreme divine principle. He is again the deliverer of the sinning mankind, according to the Vēdic school, The words, *Nāra* and *Nārayaña*, may both derivatively mean

"Son of Man." If we combine the views of the Jaina and the Brāhmiñic schools,—we may arrive at a curious idea of the Nārāyaña being identified with the Jesus of the Christians. 1. The sacred scripture of the Christians call Jesus "Son of Man." According to the Jainas, Nārāyaña is a man. The word, Nārāyaña may also derivatively have the exact significance, "Son of Man." Indeed, the Brāhmiñic Purāñas say that "in some Manvantara, Nārāyaña became the son of Nara, a human sage." 2 According to the Christians, Jesus is nevertheless divine; this is also the Brāhmiñic conception of the Nārāyaña. 3. Lastly Jesus the divine, the "Son of Man", is the deliverer of the sinners. What we have quoted from the Brahma-vaivarta Purāña goes also to show that derivatively, the word Nārāyaña means exactly the same thing He, the Supreme Being, according to the Vēdic school, becomes "flesh and blood", lives among men and shows the way to or effects their liberation. The fundamental theory of the Christian religion,—its Son-of-Man dogma i. e., its doctrine of God appearing as Man and working for the deliverance of sinners and sufferers, may thus be said to have been implied in the Nārāyaña doctrine in ancient India.

Prati-Nārāyañas, again, are persons who are antagonists of Nārāyañas. The Prati-Nārāyañas are predestined to be killed by Chakra of the Nārāyañas, who, on their death, rule over the three parts of the earth, owned by the Prati-Nārāyañas. Prati Nārāyañas, on their death, go to hells and on the termination of their lives there, are born and re-born in this world, till at last they attain salvation. Nine Prati-Nārāyañas are described in the Jaina Purāñas. In the list of the Jaina Prati-Nārāyañas, we find the names of some familiar demons, the accounts of whose deeds or misdeeds fill the pages of the sacred books of the Brāhmañas. We come across, for instance, the names of Asva-griba and Madhu-Kaitabha, who were killed by Vishñu-Nārāyaña according to the Vēdic Purāñas of Tāraka who was killed by the mighty Kārtikēya, the general of the gods and of Niśumbha who was killed by the goddess, Chañdikā. We find also the mention of Bali, who is said to have been humbled by Vishñu in his incarnation as the Vāmana or the man of short stature But although it is remarkable that both the Vēdic and the Jaina sacred literature agree in describing the above-mentioned mythic heroes as

evil-doers, we are surprised to find the name of Prahlāda mentioned in the list of the Jaina Prati-Nārāyaṇas. Here the Vēdic and the Jaina legends seem definitely and openly to be at the parting of ways. For, Prahlāda of the Vēdic Purāṇas is the ideal servant of Nārāyaṇa,—all-submissive and prayerful,—whereas, in the Jaina Purāṇas, he is a Prati-Nārāyaṇa or the enemy of the Nārāyaṇa. More important, however, of the Jaina Prati-Nārāyaṇas are Rāvaṇa and Jarāsandha,—the accounts of whose misdeeds and consequent annihilations form so great a part of the Vēdic epics, the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata.

Balabhadras in the Jaina Purānas are the elder step-brothers of the Nārāyanas and are said to be attached fast to them. Unlike the Nārāyanas, they enter the order of the Jaina monks which they do on the death of the Nārāyaṇas and upon their deaths they either attain salvation or at least go to the high heavens. Of the nine Balabhadras, glorified in the Jaina literature, Padma, otherwise known as Rāma-chandra and Bala-deva are the most important, as they are notable persons in the Vēdic Epics also.

From the short accounts of the Nārāyaṇas, the Prati-Narāyaṇas and the Bala-bhadras, which we have given above, one may guess that there are Jaina versions of the stories of the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata. We shall presently give the barest outline of the Jaina accounts of Rāma vrs Rāvana and Krishna vrs Jarāsandha. We may, however, just make a passing reference to a point which is of some importance to a student of comparative mythology. The sacred books of the Vēdic school regard Rāma chandra as the Nārāyaṇa and Lakshmaṇa as the incarnation of Ananta, whereas according to the Jainas, Lakshmaṇa is the Nārāyaṇa. The Vēdic Purāṇas describe Krishṇa as the Nārāyaṇa and his elder brother Bala-dēva or Bala-bhadra as the incarnation of Ananta. Thus, so far as the natures of Krishna and his brother are concerned, the two religions may be said to agree,—although stray passages may be met with in some of the Vēdic Purāṇas, stating that Bala-bhadra, the step-brother of Krishna is the incarnation of Nārāyaṇa, Jaya-dēva, for instance, in his celebrated Hymn to the Ten Incarnations, invokes Bala-deva as the Kēśava (Nārāyana). It would thus appear that the

Jaina inversion of the order of the Nārāyana and his brother in the case of Rāma and Lakshmana is parallel to the similar inversion of the same order in the case of Krishna and Bala-dēva, made by some of the devotees of the orthodox Vēdic school.

I

The story of the Rāmāyaṅa, as stated in the Jaina Purāṅas, is substantially similar to the account of Vālmikī. We are told that King Dasārath had four sons. Rāma, Lakshmaṅa, Bharata and Śatrughna, who were the most accomplished of the princes of the day. Rāma broke the mighty bow of Janak and was given Sītā in marriage to him. Daśaratha wanted to make Rāma the king but was compelled by his promise, previously made to Kēkayī, to banish him and make Bharata king in his stead. Rāma went to the forest with Sītā and Lakshmaṅa. Sūrpanakhā (called Chandra-nakhā in the Jaina Purāṅa) became enamoured of the brothers but on her advances being slighted, there was the fight with Khara-Dushaṅa. King Rāvaṅa of Lanka, who was the brother of Chandra-nakhā came to the forest. The brother who was protecting Sītā was deceived and made to believe that his brother was in trouble. He ran to his rescue leaving Sītā alone and Rāvaṅa stole her away in his air-chariot, called the Pushpaka. Rāvaṅa took Sītā to Lankā and put her under the Aśōka tree. He tried his best to induce Sītā to surrender her fair body to his lust but Sītā sternly refused. Rāvaṅa was angry but was prevented from forcibly violating her by a previous imprecation of a Saint. Sugrīva, the king of Kishkindhā, was restored to his kingdom and to his wife by the brothers. For a time, Sugrīva was too much engrossed in his enjoyments to think of any duty to the brothers. He was, however, brought to his senses by the firy Lakshmaṅa and then, according to his direction Hanumān went to Lankā. He met Sīta who gave him her head-jewel to be delivered to Rāma. Rāvana ordered Hanumān to be captured. Rāvana's men were defeated but at last Indrajit took him to Rāvana, bound in Nāga-pāśa or serpent-noose. He destroyed many fine buildings in Lankā and went back to Rāma to whom he delivered the pleasant news about Sītā. Bibhīshana, the brother of Rāvana tried to dissuade him from his evil path, where upon Rāvana was

about to kill him. Bibhīshana joined Rāma with his army. In the terrible fight that ensued between Rāma and Rāvana, the latter hurled Śakti upon Lakshmana which made him unconscious. At last Rāvana was killed and Rāma made Bikhīshana king of Lankā. The brothers with Sīta came back to Ayōdhyā. Rāma became the king and ruled his kingdom well and peacefully for many years. There was however, the ugly rumour about Sītā in the kingdom on account of her stay in Rāvana's city, whereupon Rāma thought it fit to banish Sītā to please his subjects. Sīta gave birth to two boys. The two princes were very powerful and defeated Rāma and Lakshmana in a battle. It was represented to Rāma that Sītā was a chaste lady and should be taken back. But as fate would have it Sītā could not be joined with Rāma. Lastly, in both the versions we find that Rāma wanted Sīta to face the ordeal of fire. Sītā came out unsceathed, her purity fully vindicated.

It is impossible to note here, all the points in which the Jaina version of the story of Rāmayaña differs from Vālmikī's. Some of them only may be noticed here. First of all, the episode about Daśaratha and Janaka wandering from countries to countries *in cognito* may be referred to. It is said that king Rāvaña of Lankā was told by a wise astrologer that his downfall would be brought about by the son of Daśaratha and daughter of Janaka. Rāvaña was naturally frightened, where upon his brother Bibhīshaña cheerd him up by promising that he would kill the two kings before they would beget any children. The sage, Nārada came to learn this and he gave timely warnings to Daśaratha and Janaka. These two kings thereupon left their kingdom, unnoticed by all, it was given out in their respective cities that they were too ill to appear before the public and to guard against all the possibilities of the real state of affairs being foundout, two life-like images of the two kings were kept laid on royal beds in the palaces. Bibhīshaña sent assassins who cut off the heads of these images. These heads, presented before Rāvaña, removed all his fears.

Another episode in the Jaina version of the Rama-story is the beautiful accout of Bha-mandala. King Janaka is said to have had twin children, Sīta and a son by his queen, Bidēha. Now, a superhuman being had a grudge against the infant son of king Janak in

his previous birth. To "feed fat this ancient grudge", this superhuman being took away the infant prince as soon as he was born; but on his way, he was suddenly apprised of the wickedness of his act and he left the infant with Chandra-gati, king of Ratha-nupura. Chandra-gati and his queen liked the beautiful child very much and began to rear him up as their own son. They called him Bhā-mandala.

Bhā-mandala, when he came of age, heard of the bewitching looks of Sīta He did not know that Sīta was his sister and so he wanted to marry her. His father asked Janaka to give his daughter in marriage to Bhā-mandala but Janaka had already settled to marry Sītā to Rama, Matters came to such a pass that even when Chandragati withdraw his objections to the marriage of Sītā with Rama, Bhā-mandala came out to fight with Rama. When, however, he reached Bidarbha. he suddenly remembered that Sīta was his sister. So, he gave up his intention to fight and gladly joined the marriage celebration of Rāma with Sītā.

In the Jaina account, we come across many stories about Laksh-maña. While in forests with Rama and Sīta, he defeated the king Singhōdara and gave away to Bajrakarana, a pious worshipper of the Jina, half of the kingdom of Sihghōdara. He rescued Balyakhilya, king of Nalakubra from the non-Aryan-Bhilas His daughter Kalyanamāla became enamoured of Lakshmana. He rescued also Banamālā, daughter of the king Prithvīdhara, who was about to commit suicide, as her father had arranged her marriage with a prince other than Lakshmana whom she loved secretly He is said to have gone to various cities and married many princesses.

In the Jaina Purānas, H[illegible]nān is otherwise called Śrī-śaila and he is looked upon as a K[illegible]n[illegible]īva i.e., of a higher order of morals and of exceptionally stro[illegible] frame.

Besides the above additions, we meet with various other altera-tions of the Rāma-story in the Jaina Purānas. For example, regarding the promise of Daś[illegible]ath to give boons to Kaikēyī in future, the Jaina story is slightly different. King Daśarath did not promise the boons because, as [illegible] Rāmāyana of the Vēdic school says, Kaikēyī nursed him when he got wounded in a terrible fight against

the demons. The Jainas say, on the contrary, that while wandering from countries to countries *in cognito* to delude Rāvana and his men, Daśaratha reached the kingdom of Kaikēyī's father, where he heard that the beautiful princess was to choose her husband from among the renowned princes of the day assembled there for the purpose. Daśaratha attended the assembly and Kaikēyī's choice fell upon him. Thereupon the disappointed princes attacked Daśarath in rage. Daśaratha, however, was quite a match for them. Princess Kaikēyī too was a bold and skilful lady. She acted as the charioteer and led the chariot of Daśaratha dexterously in the battle field,—just as Subhadrā (described in the Vēdic Purānas) did on a similar occasion, when her tuitor Arjuna was taking her away. To Kaikēyī's skill in chariot-driving, Daśaratha owed his victory that day to a great extent and in fond gratitude, he offered to fulfil any boon that she might ask of him. Kaikēyī, however, said that she would let him know her wish on a suitable future occasion. Daśaratha promised to fulfil her prayer whenever she would make it. She wanted Rama's exile and Baratha's installation to the throne of Ayōdhya as the boon, when Daśaratha was about to make Rāma king and the poor king has to consent to it,

Then, as regards the marriage of Rāma with Sīta, the Jaina account is widely different from Valmikī's. It is not the sage Visvāmitra who took Rāma to the hermitage for the purpose of killing Tārakā. We do not also find the story of Rāma's breaking the mighty bow of the Lord Śiva to win the hands of Sītā. The Jaina account says that Antarangala, the half-civilised Mlechehhu (non-Aryan) king of Mayuramāta attacked the kingdom of Janaka with a great army. Janaka was frightened and sought the aid of his friend, king Daśaratha, who sent his sons Rama and Lakshmana to drive away the non Aryan hordes. The two brothers easily defeated Antarangala who fled away King Janaka out of gratitude proposed to marry his daughter Sitā to Rāma and Daśaratha agreed to it. The sage Nārada, however, heard of the far-famed beauty of Sītā and wanted to see her. He entered the room where Sitā was looking at her face in a mirror. On the mirror, the ugly face of the sage covered with long hairs and beards was suddenly reflected, which frightened the princess so much that she began to run away

with a scream. Narada was following her when he was stopped by a palace guard, The sage felt insulted and resolved to create troubles for Sītā. He went to Bhā-mandala who did not know that Sītā was really his sister and showed to him a portrait of the princess. Bhā-mandala at once got enamoured of her and became eager for marrying her. King Chandra-gati, his father, came to know this and he had an interview with Janaka. Chandragati requested Janaka to give his daughter in marriage to Bhā-mandala but Janaka openly praised the powers of Rāma and expressed his decision already made, to marry Sītā to Rāma There-upon, Chandra-gati said that he had with him two mighty bows, known as Bajrā-varta and Sāgarāvarta and that they should be raised and used by Rāma and Lakshmana, before he would acknowledge the power of the two princes and allow Sītā to be married to Rāma. Janaka had the two bows brought to Mithilā and invited Rāma and Lakshmana along with the other princes of the day. A '*swaymbara*' was arranged and Janaka proclaimed that the prince who would be able to raise the bows would win the hands of Sitā. None of the princes dared to approach any of the bows; for, they were found to emit horrid flames. It was Rāma who lifted up Bajrāvarta quite easily; so did Lakshmana Sāgarāvarta. Sitā threw the bridal garland around the neck of Rāma

About the role of Jatāyu bird as a protector of the exiled princes and Sitā, we come across a different story in the Jaina version. It is said that while in the Daṅdaka forest, Rāma was one day waiting for a hungry sage who might oblige him by breaking his fast with the meals to be offered to him. As luck would have it, two such sages, Gupti and Sugupti, who had been fasting for a whole month, were passing that way and they, finding Rāma to be a really good and honest man, gladly ate the meals offered by him. A vulture was sitting on a tree near by; suddenly, however, he came to realise that it was a rare opportunity to have such great sage and he fell down at their feet respectfully. At once the wings of the bird began to glitter as if they were made of gold. The sages, after finishing their meals, took pity on the bird and explained to him the rules of a morally disposed house-holder's life. From that day, the bird began to had a strictly abstemious life. The sages told him to live near

Rāma and Lakshmana. The bird agreed and was thereafter called Jatāyu by Rāma.

The incidents connected with the stealing of Sītā by Rāvana are slightly different from those, stated in Balmiki's Ramayana. According to the Jaina account, Lakshmana one day percieved fragrant smell coming from some unknown quarter. On enquiry, he discovered that it was coming from a beautiful sword, Sūrya-hasya (Sun's laugh). To test the sharpness of the sword, Lakshmana struck it on a cluster of bamboos near by. The bamboo-clump was cut and lo! one Śambooka who was within it, practising penances for the purpose of getting the sword was killed outright. This Śambooka was the son of Khara-Dushna who had married Chandra-nakhā, sister of king Rāvana of Lankā. Chandra-nakhā used to come every day to her penancing son and feed him. At the gruesome sight, her grief was boundless and she began to search for her son's slayers. But when she saw Rāma and Lakshmana, she became enamoured of them. She represented herself before them as a virgin and requested them to marry her. The brothers of course scoffed at her offer. In rage, she went to her husband and told him all about her son's cruel murder. Khara-Dushana went out to fight and sent information to king Rāvana to come and help him.

Thus in the Jaina account, Khara and Dushana are said to be one man and he is the husband of Rāvana's sister. The story of Śambooka is curious. Meanwhile in Valmiki's Rāmayana, there is no such account. It is of course well known that there is a story about one Śūdra sage Śambooka's prectising severest penances, who was killed by Rāma, after he became king of Ayōdhya, on the ground that such penances were forbidden to a Śūdra. The present day writers look upon the slaughter of Sambooka as a great blot on Rama's character. It need scarcely be said that the Jaina account of the killing of Śambooka exonerates Rāma fully from the guilt,—not only because it was not he but Lakshmana who killed Śambooka but also because the slaying was purely accidental.

As we have indicated above, according to the Jaina account, it was not Sūrpa-nakhā who induced her brother to take away Sītā. Rāvana was coming to aid Khara-Dushana and it is said that he saw Sītā in the cottage from his air-chariot. He was struck at her beauty

and decided to steal her. According to the Jainas, it was Lakshmana who went to fight with Khara-Dushana. Rāma was at home. Rāvana imitated the voice of Lakshmana from the direction of the battle-field and Rāma, thinking that his brother was in danger, hastened to help him. Rāvana took away Sita in the meanwhile, – thus, without the help of a Mārīcha, as according to Vālmiki ?

Virādha was a monster, killed by the brothers, Rāma and Lakshmana, according to Valmiki. In the Jaina account, we come across one Viradhita, ruler of the kingdom of Pātāla-Lamkā, who helped Lakshmana in his fight with Khara-Dushana and who took the broken-hearted brothers to his city after the abduction of Sitā. We pass by the story.

On coming to the next great point in the Rama-story viz. the rescue of Sita,—several remarkable differences between Valmiki's and Jaina account arrest our attention. The first of these is that the Vānaras of Kishkindhyā were according to the Jainas, of the same race with and fast friends of the people of Lankā. In forest, king Sugriva is described as a relative of Rāvana and the high-souled Hanuman, as the son-in-law of Khara-Dushana. Rāvana and the Rakshasas are not man-eating monsters but are followers of the Jaina faith. Yet, it was with the help of these Vānaras that Rāma recovered Sītā.

A somewhat different story is told in the Jaina Purāna about Sugrīva's plight Bālī was, no doubt, his brother but he was a pious Jaina, practising penances near by Kailāsa. It was Bāli who drove away Sugrīva and appropriated his wife. The Jaina Purāna says that one Sāhasa-gati who with the help of black art assumed the likeness of Sugrīva and approached Sugrīva's wife, when Sugriva was away. Everyone in the palace took Sāhasa-gati as the real king,—so that when the real Sugrīva came, he was instantly repudiated. Sugrīva was now helped by the brothers, Rāma and Lakshmana, who killed Sāhasa-gati. Poor Sugrīva thus got back his kingdom and his wife. This Jaina account acquits Bāli, on the one hand, of the shameful charge of living with his brother's wife and Rāma, on the other, of the charge of improperly killing Bāli, who had done no harm to him.

In the Jaina Purānas, the Vānaras are represented as having at first been afraid of fighting with Rāvana, who, they said, was a mighty enemy. To expel their fear, Lakshmana, to their amazement, lifted up the huge rock, Kōti-Śita. This removed all their doubts,—especially because there had been an old prophecy that the lifter of the Kōti-Śita would be the killer of Rāvanā. It is needless to point out that the Jaina account of the lifting of Kōti-Śita by Lakshmana is a parallel to Valmiki's account of the piercing of the seven Palm-trees by Rāma and other such exploits.

In the Jaina Purānas, we are not told that a bridge had to be built for the passing of Rama's army. Bibhīshana, Rāvana's brother is admitted to have joined Rāma. His other brother, Kumbhakarna was taken captive. According to the Jaina account, Indrajit and Mēghanada were two different persons,—brothers, not sons of Rāvana. They also were taken captives. The story of Lakshana's being hurt with the Śakti-Śēla of Ravana finds a place in the Jaina account but the Jainas give a different account about Lakshmana's cure. Medicine had not to be brought from the mountain, Gandha-madana, as according to Vālmikī. The Jainas say that when Lakshmana was lying wounded and Rama was waiting, a man told them that there was a prince, named Drōna Mēgha, who was subject to Bharata, the king of Ayōdhya; and that the water from the body of Biśalya, daughter of Drōna-Mēgha, when she bathed, would cure the wounds of Lakshmana Upon this, Hanuman went atonce to Bharata who called Drōna-Mēgha. His daughter came to the battlefield with Hanuman in a chariot. Her bathing water cured the wounds of Lakshmana and of other ailing people. This princess was afterwards married to Lakshmana

According to the Jainas, it was Lakshmana, not Rama. who killed Rāvana. Rāvana was the Prati, Narayana & had the unfailing Chakra with him. He hurled it towards Lakshmana but as the latter was the Narayana, the Chakra instead of hurting Lakshmana in any way came to Lakshmana's hand to be used by him. Lakshmana threw it towards Rāvana and he was killed instantaneously. This Jaina account of the killing of Rāvana with his own Chakra has a distant similarity to the story well-known to the followers of the Vēdic

school, that Rāvana was killed by a weapon, known as Mrityu-vāna (death-arrow), which had all along been with him and which, it had been so ordained, would kill him, when thrown by an enemy against him !

Upon the death of Rāvana, Bibhīshana was made the king of Lankā. According to the Jainas, Kumbhakarna, Indrajit and Mēghanada were not killed in the battle. They were let off after the war. They took to religious practices and attained salvation. Rāvana's wife, Mandōdarī, along with other ladies, entered the order of nuns.

Rāma returned to Ayōdhya with Lakshmana and Śita. Lakshmana was the Narayana according to the Jainas and so, he ought to have been made the king. But Lakshmana did not agree to be the king. Rama was accordingly installed to the throne. Bharata was a pious man and had long been disgusted with the ways of the world. He now entered the religious order His mother, Kaikēyī also became an Āryika or nun. Madhu, king of Mathura, took to evil ways; he was killed and his kingdom was given to Śatrughna, Rama's youngest brother.

In the Jaina Purāna, there is almost the same story about the exile of Sita,—with this difference that she was not taken to the hermitage of the sage, Vālmikī. She was left in the forest. Bajrajangha, king of Puindarika-pura, happened to be there as he had come to the forest to catch elephants. He took pity on Sīta and persuaded her to come to his city. Sīta gave birth to two sons who were called Ananga-lavana and Madanankuśa. It is said that when the two sons of Sīta came of age, they became very accomplished and powerful men. They were told by Narada all about the sad lot of their mother,—whereupon they decided to fight with Rāma inspite of Sīta's requests to the contrary. In the fight, Rāma and Lakshmana were defeated; even the Chakra of Lakshmana was abortive,—as it could never be effective against Lakshmana's relatives. At last, Narada intervened and a happy recognition and reconcilation was effected.

(To be continued.)

The Jaina Chronology.

By
Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S.

(*Continued from Vol. XIII, pp. 42-48*)

No.	Period & Date.	Events.
216	662 A. D.	Vik: Saṃ: 718. The Śvetāmbaras believe that conversion of the Śrīmālas to Jainism at Śrīpaṭṭaṇa (Bhînamāla) took place. Ref. *Tank's* Note book of a Kharatrayati.
217	674 A. D.	Vik: Saṃ: 730. Svāti-surî, a Śvetāmbara pontiff flourished. Ref. B. R., 1883-4, p. 323.
218	677 ,,	Vik: Saṃ 733. A chûrṇi on the 'Nandi-sûtra (Śvetāmbara) of Deva-Vāchaka was composed. Ref. JG., p. 42.
219	679 ,,	Vik: Saṃ: 735. Śîlanandin succeeds Srî-bhûsaṇa as pontiff in the Nandi-Saṃgha: enthronement in Mālava.
220	680 or 450 A. D.	Śrî Pûjyapāda or Devanandin, the Digambara grammarian, author of the "Jainendra-Vyākaraṇaṃ" probably flourished about this date, being, as is conjectured, the gurû of Nirvadya-pandit (S 651) and the spiritual adviser of Vijayāditya, Western Chālukya (A. D. 680-696). According to Devasena (Vik: Saṃ: 990), Uajranandin, a pupil of Pûjyapāda, founded the Drāviḍa Saṃgha in

No.	Period & Date.	Events.
		Madura of the Deccan in the year 536 after the death of Vikrama. (Peterson: 525, his ms. 526). One Digambara Paṭṭāvalî mentions one Devanandin, as a pontiff in the Nandi-Saṃgha in the Vik:Sam: 258 and a Jaina writer has identified him with Pūjyapāda; mentioned by Lakṣhmîdhara, pupil of Samantabhadra and by Jinasena in his "Harivaṃśa-purāṇa" (A.D. 783). Recently it has been held that Pujyapāda was the contemporary and preceptor of the Ganga King Durvanîti (478-513 A. D.) Refs. P.R., II, p. 67 ff., IA., XII. 19., Bombay Gaz. p. 373; Duff's Chronology of India, p. 57 and JM. XV No. 5 p. 8.
221	688 A. D.	Vik: Saṃ 744. Inscriptions on two Jaina metal images discovered at Vasantgaḍha and now deposited in the Jaina temple at Piṃḍavāḍa (Sirohi State). Ref. *Ojha*, Sirohi, pp. 31-32.
222	693 „	Vik: Saṃ: 749. Śrînandin succeeds Śîlachandra (Śîlanandin) as pontiff in the Nandi-Saṃgha at Mālawā. Ref. Jain: Hitaishi VI, 7-8, p. 29.
223	709 „	Vik: Saṃ: 765. Desabhûṣaṇa succeeds Śrînandin as pontiff in the Nandisaṃgha enthronement inMalawā. [*Ibid.*]

No.	Period & Date	Events.
224	709 A. D.	Anantakîrti succeeds Deśabhûṣaṇa as pontiff in the Nandisaṃgha at Mālawā. [*Ibid.*]
225	724 „	A. Vir. 1250. Dinnaginna: in his time, the 'Bhagavatī-Sūtra' and the six angas in their original state were lost. Ref. Dīrsamagaṇḍīyā pagaraṇa, P. R., III Appendix p: 22.
226	729 „	Vik: Sam: 785. Ḍharmanandin succeeds Anantkîrti as pontiff in the Nandisaṃgha at Mālavā. Ref. JSB. I, IV, p. 78 and JH., VI nos. 7-8, p. 29.
227	733 „	During the reign of the Chalukyan King Vijayāditya, one Vikkirāṇaka made a donation for the Saṃkha-Jinālaya at Purigere. Ref. JA., IX. 61-62.
228	726—788 A. D.	Śrîpuruṣa ascends the Ganga throne and rules as a great monarch. He was known as "Prajāpati" and awarded gifts to Jains and Brahmanas. Ref. Mysore and Coorg. p. 39 and The Gangas pp. 58-59.
229	733—746 „	On the request of Bāhubali Śreṣṭi, the Chālukyan King Vikrmāditya II restored the "Śankha-tirtha" Jinālaya and "Śveta" Jinālaya and made gifts to Vijayadeva-Panditāchārya, disciple of Śrī Rāmachandrāchārya and to

No.	Period & Date.	Events.
		Jayadeva Pandita, who was a grand disciple of Devendra Bhattāraka of Devagana. Ref. JSI, p 63.
229A	736 A. D.	Vik. Saṃ 793. Muni Kumāra Sena founded Kāsṭhāṣaṁgha at Naditaṭagrama. —Darśanasara VI, 37-38.
230	744 "	Vik Saṃ. 800. Bhadava Sudî 3 Sunday Hasta nakṣatre Bappa-bhatti-sūri, the religious adviser of Āma, King of Kanauj, born. Ref. Prabhavakacharitra, ch. XI. St. 740.
231	745—756 A. D.	Raṣṭrakūṭa monarch Dantidurga II flourished, in whose court Jainācharya Akalaṇkadeva gave a *discourse* on Jainism. —Ref. MJ p 35.
232	746 A. D.	Vik: Saṃ: 802. Vanarāja Chāvaḍa founded Anahilavāḍa Pāṭaṇa where he built the temple of 'Pañchā-ara Pārśvanātha'. —Ref. Bombay Gazetteer, I 2.—History of Gujarat, pp 151-154.
233	749 "	Śānta Rakṣita, a Buddist logician, in his work the "Tattva Saṃgraha-Kārikā" reviews the Digambara Jaina doctrine of the soul. —Ref. Vidyābhūṣaṇa, Indian Logic, p 125.
234	750 "	The revival of the literary activity of the Jainas as founders of the Tamil literature proper may be assigned to about this period till about 1250 A. D. Almost all the great

No.	Period & Date.	Events.
		works of merit in the Tamil language, the Nalādiyāra, Kurral, Divākaram, Chintāmani, Nannul etc. belong to the Jaina age. Ref. Imp: Gazetteer of India, II pp 434-5
235	752 A. D.	Vik. Saṃ. 808 Vidyanandin succeeds Dharmanandin as pontiff in the Nandisaṃgha: enthronement in Malava Ref. A. D. 729 (No. 226)
236	760 „	Akalaṃka, 'the crest-jewel of all logicians' flourished, being, as it is supposed, a contemporary of Krishṇa I Rāṣṭrakūṭa (A.D 765): author of the 'Aṣṭāśati' (a commentary on Samantabhadra's Āptamīmānsā) Nyāya-Viniśchaya, Tattvārtha-Rājavārtika, Laghiyastraya, Nyāyachūlikā, Swarūpsambodhana, & Aklaṃkastotra. His father Laghuhabba was the ruling prince of some Draviḍa country. Ref. Nyāyakumudachandra, I, Intrd:
237	762 „	Śaka era 684. Viṣṇuvardhana III, the Eastern Chalukya King gave a gift of land to the Jaina pontiff Śrī Kalibhadrāchārya. Ref. JSI., p. 67
238	776 „	Śaka era 698. Plates of the Western Ganga King Śrīpuruṣa records a gift in favour of a Jaina temple at Srīpura. Ref. Guirionot. No. 121.
239	779 „	Vik: Saṃ 835 Udyotana-sūri, pupil of Nemichandra-Sūri composes the 'Kuvalaya-mala. Ref. JG. 222

No.	Period & Date.	Events.
240	781 A. D.	Vik: Saṃ: 838 Nāranga-devi wife of minister Ninaga flourished at Sripattaṇa Ref. B. R., 1883-4, p. 322.
241	783 „	Saka era 705 Jinasenāchārya composes the "Harivaṃśapurāṇa". Ref. B R., 1883-4, pp. 118-21 & JSB. I, i.
242	784 „	Vik: S.ṃ: 840. Rāmachandra succeeds Vidyanandin as pontiff in the Nandisaṃgha: enthronement at Malava. Ref. No. 226.
243	„	Vastsarāja Pratihāra of Kanauj flourished: built a Jaina temple at Osiā according to an inscription dated Vik: Saṃ: 1013. Ref. Arch: Surv: of India, 1906-7, pp. 209-42
244	„	King Dhruva, the Rāṣṭrakūṭa after defeating Sivamāra II of the Gangawādi, appointed his son Kambayya to rule over that province. Kambayya was an ardent lover of Jainism. When his son Prince Sankaragaṇa approached him with the request that the Jaina temple of Talakāḍa, known as Srivasti', should be endowed, he promptly acceded to it and made a grant of a village namely Vadanaguppe for it; donating it to Vardhamāna-guru, who was a disciple of Elacharya of Kunda Kundi line. Ref. SJI., III, 3, pp. 79-80

No.	Period & Date.	Events.
245	784 A. D.	Govinda III. the Rāṣṭrakūṭa King endowed the Jaina temple of Mānyapura with the gift of the village Jalamangala. Ref. MJ., p. 88.
246	"	Muni Vimalachandra, a great Jaina disputant, flourished, who was the disciple of Muni Puṣpasena the colleague of Akalaṃka-deva. Once be challenged all the disputants of other creeds by fixing a letter on the door of the royal place of King Śatrubhayankara who could be no other than Govind III. Ref. MJ. pp. 36-37.
247	797	Śaka era 719—Śrīvijaya, a fendatory to the western Ganga Mārasīṃha founded a Jaina temple. Ref. Guiriconot, No 122.
248	800 circa	The author of the "Naiṣadhīya-Charta" mentions Jainism flourishing in the province of Sind in his time. (Sarga I, st. 71) Ref. JM. XVI, No. I, p. 24. *To be continued.*

THE JAINA BHAGAVATĪ SŪTRA.

By

Dr. B. C. Law, M.A., B.T, Ph. D., D. Litt, Hon D Litt (Allahabad University)

The fifth Jain *aṅga*, popularly known as the *Bhagavatī Sūtra* is entitled *Viāhapaṇṇatti*. It is also known as *Bhagavatī-viyāhapaṇṇatti*, *Bhagavatī*, *Vivāhapaṇṇatti* and *Paṇṇati*. It is one of the most important and sacred texts of the Jaina *siddhānta*. Bhagavatī translated by 'holy' is just an honorific to signify its great importance as a work of exposition of the tenets and legends connected with the life of Mahāvīra. This text contains 41 sections, each called a *śataka* (century). Each section has 10 chapters, each of which is called an *uddesaka* or concise presentation of subject matters. It appears to have followed the *uddesa* and *niddesa* methods, the first implying the presentation of theses and the second, their elucidations. The 15th section which contains the legendary or semi-historical matters relating to the life of Mahāvīra and his relationship with some of his predecessors and contemporaries, is not unreasonably regarded as an independent text which was subsequently taken into the *Bhagavatī Sūtra.*

The expositions are introduced in the form of dialogues between Mahāvīra and his disciples including Gautama (Goyama Indabhūti). In some of the *uddesakas* they assume the form of catechisms of questions and answers. Abhayadevasūri wrote a commentary on this *sūtra*, which was known to him under two titles *Viāhapaṇṇatti* (*Vyākhyāprajñapti*) and *Vivāhapaṇṇatti* (*Vivādha-prajñapti*), both of which he explains and justifies. Abhayadeva rightly points out that in some places the tenets are explained by Sudharman to Jambusvāmī. Each section begins with an introduction stating the time, the place, the occasion of the dialogue or discourse and mentioning the persons taking part in it. It may be pointed out that each section stands as a typical sūtra of the Jaina or Buddhist canon. Accordingly the component chapters generally appear without any such introduction. In the *Bhagavatī Sūtra* we have the following khandas or topical divisions: *sādhanā*, *cāritra*, *siddhānta*, *anyatīrthika*, *vijñāna*, *gaṇita*, *kutūhala*, *deva*, *nāraka* and *anyajīva*.

The standpoint of Jainism as presented in the *Bhagavatī* is in no way different from that in other texts of the Jaina *Āgama*. The fundamental principle of Jainism is *ahiṃsā* and the attainment of Nirvāṇa is the highest goal The practice of *tapas* or austerities marks and characterizes all the prescriptions, practices, and disciplines in Jainism. The plurality of souls is a point in Jain philosophy which is the same as in the Sāṅkhya system. The main point of difference between the two is that in Jainism the souls with consciousness as their fundamental attribute are vitally concerned with our actions, moral and immoral, virtuous and wicked, in which sense they are active principles; while in the Sāṅkhya system the *puruṣas* with consciousness as their fundamental attribute are passive principles, inasmuch as their nature is not affected by any and all of the activities relegated to *Prakṛiti* or evolvent In Jainism too the souls as substances do not undergo any change. They are liable to changes in circumstances. Both the systems necessitate a careful consideration of the cosmical, biological, embryological, physical, mental and moral positions of the *Jīvas* or living individuals of the world as a whole. These constitute the scientific background of the two systems of thought. One can say that these constitute also the scientific background of Vedānta and Buddhism. The Jainas developed a cosmographical gradation of beings more or less in agreement with those adopted in other systems. But the Jainas followed a tradition of Indian thought which took a hylozoistic view of nature that there is nothing formed even in the world of matter, nothing which exists in space and time and which does not represent some kind or form or type of jīva. And it is assumed that all of them are in the process of development or evolution in the physical structures, modes of generation, foods and drinks, deportments behaviours actions thoughts, ideas, knowledge, intelligence and the like So we need not be astonished that Jainism speaks of earth-lives, water-lives, fire-lives and wind-lives, each with its numerous subdivisions. The plants with their numerous sub-species stand above the material lives. From the plants we pass on to the animal world consisting of an infinite variety of species and from that to the world of men. Above and below man we are led to think of the celestial and infernal beings, the *devas* and *nairayikas*.

Along with the cosmical situation, the cyclical envelopment and development of the earth through the successive periods of time, the geographical position of the living beings is considered, inasmuch as the conditions of their pleasure and pain, happiness and misery are partially determined by it. Accordingly the *Bhagavatī Sūtra* discusses in agreement with the *Jambudīpaprajñapti* and other texts, the geographical situation of Jambudīpa and Bhāratavarṣa, the latter denoting India. Their physical and natural environments too are relevantly taken into consideration. Jainism attributes just one sense to the material beings and the plants. The higher organic beings evolve out of the stage in which they are possessed of one sense, the sense of touch, into the stages in which they become gradually endowed with greater and greater number of senses, the maximum number being six. The nature and quality of their nutriment the modes of eating, drinking, assimilation, etc., also differ according to the diversity of the species of flora and fauna. Similar differences are also made out with regard to the celestial and infernal beings. The study of the lives of mythical beings such as the gods, the demons and the like, is on the whole anthropomorphic. The moral ideas of right and wrong, good and evil, virtue and vice, restraint and unrestraint, bondage and salvation really appertain to the world of men.

The expositions and discussions of the salient doctrinal points of Jainism are full of logical niceties and disproportionate details. The *Bhagavatī Sūtra* clearly presupposes the development of atomic theory (*paramāṇuvāda*) in Indian philosophy. Some of the current theories are quoted and criticized (I. 10; II. 1; V. 7). According to the Jain theory as in our *Sūtra*, each atom is the smallest unitary whole of matter (*pudgala*). Each of them is characterized by its internal cohesion (*sineha*). We cannot speak of a half atom (*arddha*) since an atom is an indivisible unit of matter. With the division it ceases to be an atom (*paramāṇoh ardhīkaraṇe paramāṇutvābhāvaprasaṅgāt*). A molecule (*aṇu*) is a combination of atoms more than one. An aggregate of matter (*skandha*) results from an organic combination of five molecules. Disintergration of a corporeal aggregate results from the separation of the molecules and atoms. Here one may realize the force of the Jain argument for regarding even the

material beings, the earth-lives, water-lives, etc. as distinct forms of life, each appearing as an individual with its internal cohesion so long as it exists as such. So through the process of organic development or evolution we pass through the different degrees and forms of internal cohesion.

The story of conversion of the Brahman wanderer named Khandaka (Skandhaka) by Mahavira in the *Bhagavati Sūtra* (II. 1) is very interesting. The name of the wanderer sounds like the wanderer Sandaka in the Pali *Majjhima Nikāya* (Vol. I, p. 513). Like other Brahman wanderers Khandaka is said to have been well versed in the four Vedas the six Vedāṅgas, and the Itihāsa-purāṇa regarded as the fifth Veda Here the list also includes mathematics (*gaṇita*) and the *ṣaṣṭi-tantra* of the Sāṅkhya philosophy. The difficult austerities practised by the wanderer since his conversion to the Jain faith are in substance and detail like those described in the *Antagaḍadasāo* and *Ovavāia suttas* and in the Pali *Mahādukkhakhandha*[1] and *Mahāsihanāda suttas*.[2] The dialogue contained in this *uddesa* throws some light on the doctrine of infinity and finiteness, endlessness and limitedness discussed in the Pali *Brahmajāla sutta* (*Dīgha*, I.).

In the *Brahmajāla sutta* the Buddha refers to the four different propositions maintained by the contemporary and earlier recluses and Brāhmaṇas on four different grounds (Dīgha, I, pp. 22 ff.). These are: (1) that this world is limited and circumscribed (*antavā ayaṃ loko parivaṭumo*); (2) that this world is limitless and without an end (*ananto ayaṃ loko apariyanto*); (3) that it is both limited and unlimited (*antavā ca ayaṃ loko ananto ca*), meaning that the world is limited above and below and unlimited crosswise; (4) that it is neither limited nor unlimited. The explanation given by Buddhaghosa in his commentary, the *Sumaṅgalavilāsinī*, is not very illuminating. As he suggests, the limited or unlimimited character of the world depends on the limited or unlimited view taken by the contemplative in his mental perception or vision (I. p. 115). Here we miss the philosophical aspect of the propositions. It appears

1. Majjhima N., I, pp. 83-90. 2. Ibid., I, pp. 68-83.

that the third proposition referred to the view upheld by Mahāvīra and his disciples. According to Mahāvīra the world may be construed in some respects as limited and in some respects as unlimited (*sa-ante loe anante loe*). Here he considers the position of the world from the four points of view, from the point of view of substance (*davvao*), from that of field of existence (*khettao*), from that of time (*kālao*) and from that of phenomena (bhāvao). It is maintained that considered from first two points of view the world is limited and considered from the remaining points of view it is unlimited (II. 1). It may be observed that with regard to all contradictory views the *Bhagavatī Sūtra* assigns to Mahāvīra a kind of synthetic position seeking to justify both of them, each from its own point of view. This was undoubtedly consistent with the 'It may be' doctrine (*Syātvāda* of Jainism).

The Jaina ideas regarding the advent of different living beings in different states or forms of existence are on the whole the same as those in other Indian systems. The main difference lies only in some unimportant details. The Jainas too believe in the possibility of bodily advent without the help of any sex union. The Jaina belief, however, is a belief in the transmigration of soul a point in which it differs from the Buddhist conception of rebirth without any transmigration of soul from embodiment to embodiment. The soul in Jainism as in most of the Indian systems is the factor which polarizes the field of matter and brings about the organic combination of the elements of existence. If the position be that death means an event which takes place when the soul leaves the body, the question arises whether it passes off in some form of corporeality (*sasarīrī*) or without any such corporeality (*asarīrī*). Here too the traditional Jain position is, it may be that it goes out in some form of corporeality and it may equally be that it does so without any form of corporeality (*Siya sarīrī vakkamai, siya asarīrī vakkamai*). With reference to the gross body characterized as *audārika*, *vaikriya* and *āhāraka*, the soul goes out without any corporeality, while with reference to the subtle body characterized as *taijasa* and *karmaṇa* (karmic), it departs in its subtle body (I. 7). Deaths and destinies are broadly distinguished as those undergone by fools and those by the wise. The deaths on the part of fools that take place due to

different causes or under different circumstances serve to lengthen the course of gliding in the cycle of births and deaths and those on the part of the wise go to shorten it. This too is a common place in the popular Indian belief.

Attention may be drawn to another interesting point. The account given in our *sūtra* of the doctrinal position of Maṅkhaliputta Gosāla, the leader of the Ājīvika thought, seeks to make out this point of difference and distinction between Jainism and Ajīvikism. Gosāla's position is an unqualified fatalism or determinism, while Mahāvīra's position is not so, inasmuch as it distinctly leaves scope for freedom. According to Gosāla death signifies a suspended animation while periodical reanimation as in plant-life is the order of nature. The Jainas seem to construe that if we accept Gosāla's position, we cannot think of death as a phenomenon, but death in the case of all things formed or compounded is inevitable.

It is interesting to note that our *sūtra* (I. 76) speaks of a dispute between Kālāsavesiyaputta, a follower of Pārśva and a disciple of Mahāvīra. It ends with the former's begging permission to stay with him after having changed the law of the four vows for the law of the five vows enjoining compulsory confession. This is surely a supplement to the *Uttarādhyāyana* dialogue between Kesin and Gautama as representatives of the two Nirgrantha orders, old and new. The date of Gosāla's death taking place sixteen years before Mahāvīra's death was coincident with the great war fought between king Kūṇiya (Ajātaśatru) and king Ceḍaga of Vaiśālī for the possession of an extraordinary elephant (Bhagavatī Sūtra, Āgamodaya-samiti edition, p. 316). On the death of Mahāvīra the confederacy nine Mallas and nine Licchavi clans and the kings of Kāśī and Kośala instituted a festival in honour of that event (*Ibid.*, p. 316). It may be remarked that the *Bhagavatī* like other Jaina canonical sūtras is unaware of the position of Kūṇiya as the king of Magadha. Kūṇiya is represented as the king, better viceroy of Aṅga, in his father's time. Aṅga was governed as a separate province under Kūṇiya with Campa as its capital (*Ibid.*, p. 316).

Udāyana of Sauvīradeśa was succeeded by his nephew Keśī in whose reign Vītahavya was completely ruined (*Ibid.*, p. 619). He

went to the extent of renouncing the world but when the question of the succession of his son Abhi came before him, he said to himself: 'If I renounce the world after appointing Abhi to royal power, then Abhi will be addicted to it and to the enjoyment of human pleasures. He will go on wandering in this world.' This led him to renounce the world appointing his sister's son Keśī to royal power (*Ibid.* pp. 619-20). Is it not a case of the matriarchal system in vogue ?

King Śatānīka's sister Jayantī was a staunch follower of Mahāvīra (Ibid., p. 558). The *Bhagavati Sūtra* informs us that in the war with Vaiśālī, Kūṇiya is said to have made use of *mahāsilākaṇṭaka* and *rathamuṣala*. The first seems to have been some engine of war of the nature of a catapult which threw big stones, and the second was a chariot to which a mace was attached to kill men as the chariot moved (pp. 316, 319). We have also the mention of Tāmalī, apparently a citizen of Tāmalitti or Tāmralipti (Tamluk), who is described as a Moriyaputta. It is difficult to make out whether Tāmalī of our Sūtra, was in any way connected with the Mauryas of Magadha. He is introduced rather as a rich merchant (III. 1). The Uvāsagadasāo and the Bhagavatī Sūtra mention a few rich lay disciples of Maṅkhaliputta Gosāla belonging to the Vaiśya class, e. g, Kuṇḍakuliya, a citizen of Kampillapura, Saddālaputta, a rich potter of Polāsapura, Hālāhalā and Ayampula of Śrāvastī, which was the main centre of the Ājīvika activity according to the *Bhagavati Sūtra*.

Reviews.

Thirty Years of Historical Research or Bibliography of the Publishea Writings of P. K. Gode, M.A, Poona, (1947), pp. 77.

Readers of the "Jaina Antiquary" are well acquainted with the learned dissertations of Prof. P. K. Gode, M. A., who is the distinguished Curator of the Bhāndārakara Oriental Research Institute, Poona. He has, no doubt, rendered to his fellow-scholars a real service by publishing this complete and Indexed list of his uptodate valuable publications. It reveals at a glance the vast scope and field of Prof. Gode's research, which in itself is sound and solid. His laborious but most valuable work entitles him to get an honour of doctorate from the Bombay University; which will in fact be the recognition of Indian scholarship. I congratulate Prof. Gode very much on his extraordinary activity.

—K. P. Jain.

हिन्दी जैन-साहित्यका संक्षिप्त इतिहास ।

Shri Kamta Prasadji Jain D.L.M.R.A.S. editor of Veer and Jain-S. Bhaskar and also the Bhartiya Jñanapitha Kashi Institute deserve our gratitude, the former for the valuable-addition to the existing rare-books on this most important subject and the latter for publishing it in so admirable a form. The author K. P. Jain has with painstaking industry collected all the material available on this subject from various Jain Bhandars, temples and libraries, has examined it with commendable fairness and has marshalled his conclusions as only an experienced historian (इतिहासाचार्य) can. We were for a long time hearing of the author's exemplary research and studies, as well as critical, outspoken and truth-seeking character.

We are proud to say that the present historical and Philological work fully justifies his reputation.

We are sure that not only the research students will be benefitted by this work, but the crudite scholars also will have to appreciate the selected passages of poems from the well-know 'Jaina-works and their authors.'

The poems of स्वयंभू, चन्द्रसोधस etc. really are judicially chosen and some are worth learning by heart.

The value of this history lies not only in the organised collection of so many precious facts, the chronological dates of the Hindi poets and their dates, some of the author's findings have a very valuable bearing on हिन्दी, प्राकृत, मागधी अर्धमागधी, अपभ्रंस and other languages too. It is on such work that real-advance can be made. Really! Hindi knowing world owe him a deep debt of gratitude. Lastly this important work is endowed with the learned preface of Dr. Vasudeo Sharan Agrawal, M.A.D. Litt.

Every library and institution interested in Indian languages specially the Hindi—the lingua franca of this Bharatvarsha and every scholar who can afford the price, will require this history of K. P. Jain.

May this precious treatise on Hindi-Jain history an example of Shri K. P. Jain, inspire the budding scholars of the present and future generations.

Sholapur
28-8-47.

R. N. Shah, Pleader
and President जैन सा० से० मंडप सोलापुर and the
editor of मगर्थ and जिनविजय।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIII, 1948.

Edited by
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Bau Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at :
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. **Foreign 4s. 8d.** **Single Copy Rs. 1/8**

CONTENTS. Vol. XIII

No. I.

No. II.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in year.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s*. 8*d*. per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history-geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type, written, and addressed to. K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M A , D. Litt.

B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

Pt. NEMI CHANDRA JAIN SHASTRI, SAHITYARATNA